दाराशिकोह

• •

डा० कालिकारञ्जन क़ानूनगो
एम० ए० पी-एच० डी० (कल०)
आचार्य तथा अध्यक्ष
इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्राक्कथन लेखक

डा० र० चं० मजूमदार
एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०
भूतपूर्व उपकुलपति, ढाका विश्वविद्यालय

प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा

अँगरेज़ी के प्रथम संस्करण की भूमिका

मुझको अपने पाठकों से क्षमा-याचना करनी है तथा उनके प्रति कुछ स्पष्टीकरण भी करना है। वे मेरे 'जाटों का इतिहास' के द्वितीय खण्ड की प्रतीक्षा करते रहे हैं, न कि राजकुमार दाराशिकोह की जीवनी की। 'जाटों का इतिहास' के प्रथम् खण्ड के प्रकाशन के बाद सर जदुनाथ सरकार ने मेरे सम्मुख यह विचार उपस्थित किया कि मैं दारा पर एक पुस्तिका लिखूँ। इसके लिये उन्होंने जयपुर दरबार के ग्रन्थ-रक्षागार में कुछ नवीन सामग्री ढूँढ निकाली थी। प्रथम विचार यह था कि दारा की यह जीवनी एक वर्ष में तथा २०० पृष्ठों की पुस्तक में लिखी जाय। तदनुसार १८ वीं शताब्दी के भारत की कलह तथा दुःख की कहानी से हटकर मनबहलाव के रूप में मैंने दार्शनिक राजकुमार के दुःखान्त चरित का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। परन्तु जब मैं इस विषय से सम्बन्धित सामग्री का अध्ययन करने लगा, तो यह विषय जो आरम्भ में केवल मनबहलाव ही था, परिवर्तित होकर अनुराग बन गया और इसका परिणाम हुआ है—दो खण्डों में ८०० पृष्ठों की पुस्तक जिसका प्रथम खण्ड अब जनता के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

दाराशिकोह के अपने अध्ययन में मुझको महान् इतिहासकार विलियम इर्वाइन से संकेत प्राप्त हुआ जिसने अगस्त १६०५ में सर जदुनाथ को लिखा— "मेरा विश्वास है कि मनुष्य में अब भी पर्याप्तरूप से पशुता है जिससे अब तक वह युद्ध-शील प्राणी बना रहा है, तथा इतिहास की युद्ध-प्रशंसक विचारधारा इस समय भी उतनी ही सर्वप्रिय है जितनी कि पहले कभी थी। ·······पराजित पक्ष को (उदाहरणार्थ दारा के पक्ष को) इतिहास ग्रन्थों में सदैव कम न्याय प्राप्त होता है।" 'जर्नल एशियाटिक' में हुआर्ट तथा मस्सीग्नॉ कृत 'लाहौर के संवाद' नामक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख के प्रकाशन (अक्तूबर–दिसम्बर, १६२६) से मुझको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, तथा इसने मेरे अध्ययन को एक नवीन दिशा में डाल दिया। इसमें मुझको अपने इस भाव की प्रतिध्वनि मिली कि 'दारा की राजनैतिक पराजय से उसके कार्य की सामाजिक निष्फलता का जो अनुमान कुछ लेखकों ने लगाया है, वह ग़लत है।'

इससे मुझको यह भी सुझाव प्राप्त हुआ कि भारतीय धार्मिक विचार के विकास के इतिहास की एक नवीन दिशा भी हो सकती है जिसमें दाराशिकोह

हार्दिक धन्यवाद देय हैं कि उन्होंने हस्तलिखित ग्रन्थों के अपने व्यक्तिगत संग्रहों को मेरी इच्छा पर उपयोग के लिये छोड़ दिया और मुझको आज्ञा दे दी कि उनके पास उपस्थित दारा के कुछ महत्वशाली पत्रों को प्रकाशित कर दूँ। मेरे मित्र डा० जोगेन्द्रनाथ चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी० ने इस खण्ड के प्रथम मुद्रणों को पढ़ने में कृपापूर्वक मुझको सहायता दी है जिसके लिये मैं उनको अपने हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

जनवरी १९३५ — का० रं० क़ानूनगो

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस अवसर पर मुझको जनता से क्षमा-याचना करनी है जब मैं इस अपनी पुस्तक दाराशिकोह के पुनर्मुद्रण को इसके प्रथम प्रकाशन के १८ वर्ष बाद मूल पाठ में बिना किसी वृद्धि वा परिवर्तन के उपस्थित कर रहा हूँ। इन वर्षों में नवीन सामग्री जो मुझे प्राप्त हो सकी है, वह दारा के थोड़े से पत्र हैं जो उसने विद्वानों तथा फ़क़ीरों को लिखे थे और जिनका इतिहास के लिये कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। अतः वे इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में समाविष्ट कर दिये जायेंगे। इस खण्ड में दारा के पत्रों तथा भूमिकाओं के फ़ारसी मूल पाठ होंगे तथा उनका अँग्रेजी अनुवाद होगा।

भारत का स्वातन्त्र्य हमारी अपनी सुख-समृद्धि के जितना अनुकूल है उतना ही वह अकबर तथा उसके योग्य प्रपौत्र दारा की स्मृति के लिये है, क्योंकि आज के भारत जैसे स्वतन्त्र तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में ही इन दो उदार विचारकों के महत्व का सत्य मूल्याङ्कन हो सकता है। उनके अपने समय में कट्टर उल्मा (धर्म-विशेषज्ञ) उनको काफ़िर (धर्मभ्रष्ट) समझते थे वा अधिक-से-अधिक उनको ऐसे मुसलमान समझते थे जिन पर हिन्दू संस्कार पड़ चुके थे। इन दो राजनीतिज्ञों के जीवनों से सिद्ध होता है कि हमारा भविष्य निराशापूर्ण अन्धकारमय है यदि भारत की आत्मा धार्मिक कट्टरता तथा रूढ़िगत देववाद की शृङ्खलाओं से मुक्त नहीं की जाती है—चाहे वह हिन्दुओं की हो वा मुसलमानों की। हमारे देश-भक्तों को यह ध्यान रखना चाहिए कि अकबर या दारा का मार्ग कायरों का मार्ग नहीं है, परन्तु यह मार्ग उन पुरुषों के लिये है जो इसके लिये तत्पर हैं कि अपने व्यक्तिगत लाभ तथा सर्वप्रियता को अपने सच्चे विचारों के अनुसरण पर न्यौछावर कर दें।

लखनऊ विश्वविद्यालय,
प्रथम जनवरी, १९५३ ई० — का० रं० क़ानूनगो

प्राक्कथन

सम्राट् शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र तथा उसके युवराज राजकुमार दाराशिकोह का मुग़ल राजवंश में अद्‌भुत व्यक्तित्व है। उसका स्मरण मुख्यतया उसके दुखद अन्त के कारण किया जाता है; परन्तु थोड़े से ही लोग समझते हैं कि यह दुःख-कथा उतनी उसकी मृत्यु की नहीं है जितनी उसके जीवन की है। अकबर के बाद होने वाले मुग़ल राजकुमार एक विशेष प्रकार के थे। वे वीर, कामुक तथा भोगी-विलासी थे। युद्ध में, मदिरापान में, प्रायः दोनों में वे सर्वोपरि थे। राजसिंहासन उनका एकमात्र उद्देश्य था तथा वैभव और सत्ता उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। उनका समय शिविर तथा अन्तःपुर में व्यतीत होता था। युद्ध-प्रयासों के बाद उनके मनोरंजन के मुख्य विषय मदिरा तथा महिलायें थे। ज्ञान की चिन्ता उनको बहुत कम थी तथा इससे भी कम किसी उच्च मानसिक व्यवसाय की। एक संकीर्ण क्षेत्र में वे अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा समस्त उदार विचारों तथा उत्तम राजनीति-कौशल का उनमें अभाव था। उनकी पाशविक वृत्ति को केवल काम-वासना के आनन्द ही आकर्षक तथा रुचिकर थे तथा वे कभी भी किसी उच्च आध्यात्मिक जीवन के लिये चिन्ता न करते थे जिसके लिये मनुष्य समर्थ है।

ऐसे जगत् में एक गूढ़ द्रष्टा दार्शनिक का जन्म हुआ जो ज्ञान का उपासक तथा आध्यात्मिक सत्यों का अन्वेषक था। दैवयोग से उसका जन्म ही उच्च मयूर सिंहासन के निमित्त कारण बन सकता था अन्यथा उसमें उसके लिये कोई योग्यता न थी। परन्तु निष्ठुर और वंचक विधाता सदैव इसके लिये उसे ललचाता और तरसाता रहा। यदि दाराशिकोह का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ होता तो वह एक ईश्वरभक्त सन्त का जीवन व्यतीत करता और उसी अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होता—यही नहीं वह मध्यकालीन भारत के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शकों में एक होता जो उस समय प्रेम तथा मानव भ्रातृत्व-के सार्वभौम धर्म का प्रचार कर रहे थे और अपना प्रभाव छोड़ जाता। वह एक महात्मा, सहृदय व्यक्ति तथा उदारचेता था। एक नवीन दृष्टि, उच्च आदर्श-वाद तथा ज्ञान की अतृप्त पिपासा, इन असाधारण गुणों द्वारा प्रकृति ने उसको परिष्कृत किया था। वे उसको उच्चता की किसी सीमा तक पहुँचा सकते थे। इसका अपवाद केवल एक था तथा इसको उसकी स्वाभाविक नियति बताकर

उसी के द्वारा क्रूर प्रलोभक विधाता उसको धोखा दे रहा था। दारा के जीवन का सर्वोपरि दुःख यही है। वह अधिक उच्च आध्यात्मिक जीवन के योग्य था, परन्तु उसको अपना जीवन मुग़ल राजमहल की निन्द्य भौतिकता में व्यतीत करना पड़ा। मस्तिष्क तथा हृदय के उसके विशेष गुणों का अभिप्राय यह था कि मनुष्य मात्र को उत्कृष्ट करने में वह उनका उपयोग करे, परन्तु राज-सिंहासन प्राप्त करने के निमित्त उनका उपयोग करना उसका कर्तव्य बन गया। गोल छेद में चौकोर खूँटी की यह पुरानी सुपरिचित कहानी है। उसके पास स्वर्ग की सीढ़ी थी, परन्तु उसने इसका उपयोग मयूर सिंहासन प्राप्त करने के निमित्त किया।

कुछ ही ऐतिहासिक व्यक्तियों की कथा ऐसी घोर दुःखान्त है। दारा के उत्कृष्ट गुण ही उसके विनाश के कारण सिद्ध होते हैं। यदि उसके उद्योग कम मानसिक तथा उसके उद्देश्य कम आध्यात्मिक होते, वह अपने साहसिक कार्य में अधिक सफल हो सकता था। यदि वह दर्शन शास्त्र का अध्ययन कम करता तथा सैनिक शास्त्र का अधिक, यदि उसने प्रशासन तथा युद्ध-व्यापार के निमित्त वह समय अर्पित किया होता जो उसने उपनिषदों का अनुवाद करने तथा मजुमुलबहरैन के लिखने में व्यतीत कर दिया, यदि प्रकृति उसको सांसारिक बुद्धि अधिक देती तथा गूढ़ अध्यात्मवाद कम, तो शायद उत्तराधिकार-युद्ध में वह सफल सिद्ध हो जाता। परन्तु जब तक मनुष्य अपने नैतिक मूल्यों के माप-दण्ड को सर्वथा नहीं बदल देता है, किसी को इस पर दुःख न होगा कि दारा को सुसम्पन्न करने में प्रकृति ने उन विशेष गुणों का वरण किया।

दार्शनिक तथा इतिहासकार दोनों द्वारा ऐसे मनुष्य का जीवन अध्ययन का अत्यन्त उपयुक्त विषय है। दारा के दुखद अन्त से अनेक व्यक्तियों पर गहरा प्रभाव पड़ा है, कुछ ही ने उसकी महत्ता तथा उसकी विशुद्ध योग्यता का वास्तविक मूल्याङ्कन किया है। डा० कानूनगो को यह श्रेय है कि उन्होंने इस निमित्त सत्प्रयत्न किया है कि हमारे सम्मुख वास्तविक दारा को प्रकट कर दें— यही नहीं किन्तु उसके जीवन तथा ध्येय के महत्व की व्याख्या करदें। आगामी पृष्ठ यह सिद्ध कर देंगे कि जीवन में उसका महान ध्येय यह था कि हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के अनुयायियों में शान्ति तथा प्रीति की वृद्धि करे। डा० कानूनगो की टिप्पणी है—"यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत में जो कोई भी धार्मिक शान्ति की समस्या का हल करना चाहता है, उसको यह कार्य वहाँ से प्रारम्भ करना होगा जहाँ पर दाराशिकोह ने उस कार्य को छोड़ा था तथा उसको उस मार्ग का अनुसरण करना होगा जिसको उस राजकुमार ने निर्धारित किया था।" सत्य तो यह है कि दारा एक भावना का प्रतिरूप था जो उसके

साथ लुप्त हो गई है। जैसा कि इस पुस्तक के लेखक ने सत्य ही कहा है—दारा की पराजय ने "भारत के मध्यकालीन इतिहास के सर्वोपरि उज्ज्वल युग का निश्चित अन्त कर दिया जिसको उचित ही अकबर का युग कहते हैं, जो राजनीति तथा संस्कृति में राष्ट्रीयता का युग है, जो साहित्य तथा ललित कलाओं के पुनरुज्जीवन का युग है।"

दारा ने भारत के लिये एक नवीन सुप्रकाश-मय युग का स्वप्न देखा जिसकी आधारशिला अकबर ने रखी थी तथा उसकी असफलता राष्ट्रीय हानि थी। यह सत्य है कि उसका स्वप्न निष्फल रहा। परन्तु ऐसे स्वप्नों का भी मूल्य है और यदि हम नैतिक मूल्यों को उनके उचित स्थान में रखें तो स्वप्नद्रष्टा अपने अधिक यथार्थवादी तथा सफल प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा हानि में न रहे, जिस सफल प्रतिद्वन्द्वी के दीर्घकालीन तथा बाह्य रूप से सफल जीवन ने मुग़ल साम्राज्य के महान भवन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। साधारण मापदण्डों के अनुसार औरंगज़ेब को महान् सफलता प्राप्त हुई तथा दारा को निराशामय असफलता का मुख देखना पड़ा। परन्तु उन व्यक्तियों की सम्मति में स्थिति सर्वथा विपरीत है जिनकी दृष्टि सांसारिक रूढ़ियों द्वारा निर्धारित साधारण सीमाओं को भेद कर उनसे ऊपर उठी हुई है तथा जिनको अन्तिम सार का साक्षात्कार है। इन सज्जनों को इस पुस्तक में तल्लीन करने वाला आकर्षण होगा और सुसम्पन्न लेखक द्वारा दारा के चरित्र का सुविशद तथा सहानुभूति-मय चित्रण सर्वसाधारण के लिये स्थायी रूप से रुचिकारक अध्ययन का विषय होगा।

रमना, ढाका,
२७ दिसम्बर, १९३४

र० चं० मजूमदार

प्रकाशक की ओर से

प्रसिद्ध फ्राँसीसी लेखक आंद्रेगीद ने लिखा है कि प्रत्येक अच्छे लेखक का देश के प्रति यह कर्तव्य है कि वह कम-से-कम एक अच्छे विदेशी ग्रन्थ का अनुवाद करे। और हमारा यह विचार है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रत्येक प्रकाशक का देश के प्रति यह पावन कर्तव्य हो जाता है कि वह विदेशी भाषा के अधिक-से-अधिक अच्छे ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर राष्ट्र भाषा के भंडार को भरे। प्रस्तुत अनूदित ग्रन्थ दाराशिकोह उपर्युक्त विचार को कार्यरूप में परिणत करने का हमारा प्रथम प्रयास है।

इतिहास के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० कालिकारञ्जन कानूनगो के अंग्रेजी ग्रन्थ दाराशिकोह को यथेष्ट प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी है। हम डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, अध्यक्ष इतिहास विभाग, आगरा कालिज के बहुत ऋणी हैं, जिन्होंने इस अमूल्य तथा उपयोगी ग्रन्थ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर उसे हिन्दी में प्रकाशित करने के लिए हमें प्रेरणा प्रदान की। अनुवाद के सम्बन्ध में उचित परामर्श देने तथा अपेक्षित संशोधन कराने में श्री डाक्टर साहब, श्री शान्तिप्रसाद पाठक तथा श्री बाबूराम गुप्त, आगरा कालेज से जो सहयोग हमें प्राप्त हुआ है उसके लिए भी हम उनके विशेष आभारी हैं।

भारतीय इतिहास के पाठकों ने यदि हमारे इस प्रयत्न की सराहना कर इसे अपनाया तो हम अपने प्रयास को सफल समझेंगे।

विषय-सूची

दाराशिकोह

अध्याय १

किशोरावस्था तथा शिक्षा

विभाग १—जन्म और किशोरावस्था

सन् १६१५ ई० की वसन्त ऋतु में अजमेर नगर ने असाधारण उज्ज्वल और प्रसन्न आकृति धारण की। दरबार के जयघोषों के नाद और कोलाहल से उस स्थान की आध्यात्मिक शान्ति का वातावरण अशान्त हो उठा। यह मेवाड़-आक्रमण की सफल समाप्ति पर, राणा प्रताप के पौत्र को अपने अनुयायी दल में लेकर, महाराज कुमार खुर्रम के विजयी प्रत्यागमन का अवसर था। इससे लगभग एक मास पीछे मुमताज़महल ने अपनी तृतीय सन्तान तथा प्रथम पुत्र को अजमेर में सोमवार की रात्रि में २० मार्च, १६१५ (२९ सफ़र, १०२४ हि०) को जन्म दिया। सम्राट् जहाँगीर ने अपने प्रिय पुत्र के इस उत्तराधिकारी का नाम मुहम्मद दाराशिकोह रखा और अनेक पुरुषों ने उस बालक में राजसिंहासन के सम्भावित उत्तराधिकारी के दर्शन किये[1]। 'साम्राज्य के प्रथम पुष्प' (गुले-अव्वलीने गुलिस्ताने शाही—साम्राज्य की पुष्पशाला का प्रथम पुष्प) के रूप में इस धन्य भाग्य का स्वागत हुआ। इस स्वागत-वाक्य से उसका जन्म-वर्ष प्रकट होता है। वास्तव में शाहजहाँ और मुमताज़ के वैवाहिक सम्बन्ध को लगातार होने वाली पर्याप्त सन्तति ने कृतार्थ कर दिया। उनकी चौदह सन्तानों में दो पुत्रियों और चार पुत्रों के भाग्य में यह बदा था कि इतिहास के अत्यन्त दुःखमय नाटकों में से एक में वे अपना अभिनय करें।

जब दारा लगभग दो वर्ष का था, उसका पिता दक्षिण का महाराज्यपाल (वाइसराय) नियुक्त हुआ। वहाँ पर भी खुर्रम के अस्त्र-शस्त्रों और कूटनीति को

१—पादशाहनामा, I ३९१; अमले सलीह में यह भी है—'जब रात्रि के १२ घड़ी और ४२ पल बीत चुके थे।' आमोद-प्रमोद आदि के लिये देखो—अमले सलीह (एक अप्रधान ग्रंथ), पृ० ९२-९४। शाहजहाँ की सन्तान की सूची। देखो—परिशिष्ट।

विशेष सफलता प्राप्त हुई; परन्तु सुन्दरी साम्राज्ञी नूरजहाँ की ईर्ष्या और उसके षड्यन्त्रों के कारण १६२३ में वह विद्रोह करने पर विवश हो गया। दो वर्षों तक निर्जन दक्षिण में, तेलंगाना के जंगलों में, बंगाल और बिहार में, शाहजहाँ को कठोर संकट सहन करने पड़े, जिनमें मुमताज़ और उसकी सन्तान ने सहर्ष उसका साथ दिया। नूरजहाँ का क्रोध निर्दयता से उसके पीछे पड़ा हुआ था, जिससे थककर उसने अपने पिता से शान्ति का प्रस्ताव किया तथा दारा और औरंगजेब को बन्धकों के रूप में दरबार को भेजने पर सहमत हो गया। १६२५ के जाड़े की समाप्ति के समीप दोनों राजकुमारों ने दक्षिण से लाहौर को प्रस्थान किया।

अटक और रोहतास (रावलपिंडी के समीप) के बीच में किसी स्थान पर दारा और औरंगजेब ने सम्राट् के दर्शन किये जबकि वह अफ़ग़ान प्रदेश से अपनी वापसी यात्रा कर रहा था। शाहजहाँ के तीन पुत्रों को अपने बन्धन में करके— क्योंकि उसका सर्वाधिक प्रिय पुत्र शुजा पहले से ही जहाँगीर के पास था— नूरजहाँ ने अधिक विश्वास से यह षड्यन्त्र प्रारम्भ कर दिया कि उस राजकुमार को उत्तराधिकार से वंचित कर दे। परन्तु उसके षड्यन्त्रों के परिपक्व होने के पूर्व ही राजौर प्रदेश में रविवार २६ अक्तूबर, १६२७ (२८ सफ़र, १०३७ हि०) को जहाँगीर की मृत्यु हो गई।

४ फरवरी, १६२८ (८ जमादी उस्सानी १०३७ हि०)[१] को आगरा में शाहजहाँ ने विधिपूर्वक राजमुकुट धारण किया और लगभग तीन सप्ताह बाद उनका नाना आसफ़ख़ाँ राजकुमारों को दरबार में ले आया। २६ फरवरी को सिकन्दरा में अकबर के समाधि-भवन पर वे पहुँचे और वहाँ पर रात्रि में विश्राम करने की आज्ञा उनको प्राप्त हुई। तीसरे पहर मुमताजमहल अपने पुत्रों से कुछ काल के लिये एक तम्बू में मिली जो आगरा और सिकन्दरा के बीच में उसके स्वागतार्थ लगाया गया था। दूसरे दिन सार्वजनिक दरबार में दारा ने राज-सिंहासन के सम्मुख प्रणाम किया और रीत्यनुसार नजर और निसार भेंट किया (यह वह धन होता था जो सम्राट पर दुष्प्रभावों से उसको सुरक्षित रखने के लिये न्यौछावर किया जाता था)। एक हजार रुपये का दैनिक भत्ता उसको अनुदान में दिया गया। इसके अतिरिक्त दो लाख नकद रुपये उसको प्राप्त हुए जो अभिषेक के समय के राजकीय दान में उसके हिस्से के थे।

१—शाहजहाँ का अभिषेक पाद० I अ० ८७-९८। राजकुमारों का आगमन वही, १७७; अमले सलीह, २२५-२३१। राजकुमारों के आगमन पर एक रोचक टिप्पणी—वि० फ़ास्टर कृत—अँग्रेजी कारखाने (१६२३-१६२९), पृ० २४७.

विभाग २—शिक्षा

शाहजहाँ के राजकीय इतिहास लेखक के लिये 'विद्यारम्भ' (बमकतब रफ़तन) का अर्थ शिक्षक के नाम के केवल उल्लेख से अधिक कुछ न था। पादशाहनामा कहता है कि मुल्ला अब्दुल लतीफ़ सुल्तानपुरी शिक्षक था।[1] दारा के अध्ययन की प्रारम्भिक और माध्यमिक पाठ्य पुस्तकें—ऐसा प्रतीत होता है—उसी पुराने ढंग की थीं जो किसी साधारण मुग़ल राजकुमार की होती थीं। जिसके अध्ययन के विषय साधारणतया कुरान, फ़ारसी काव्य के प्रामाणिक ग्रंथ और तैमूर का इतिहास होते थे। सुलेख तथा सुन्दर पत्र-लेखन शैली की ओर, बहुत ध्यान दिया जाता था, जिसके लिये अबुलफ़ज़ल को निर्दिष्ट किया गया था और जो उस समय का आदर्श तथा दुस्साध्य आदर्श था। दारा मेधावी शिष्य था। उसने वह समस्त विद्या प्राप्त करली जो अब्दुललतीफ़ सिखा सकता था। उसमें विद्यानुरागी स्वभाव का विकास हो गया और सबसे बड़ी बात यह हुई कि माक़ूलात—अर्थात् कल्पनात्मक विद्याओं के प्रति उसके शिक्षक की जो विशेष रुचि थी उसने उसमें प्रवेश कर लिया। कहा जाता है कि दारा का एक शिक्षक प्रसिद्ध सुलेखकार अब्दुर्रशीद दायलेमी था[2]। उसका हस्तलेख सुन्दर और स्पष्ट था, यह उसके पिता के हस्तलेख के लगभग अनुरूप था, जैसा कि शाहजहाँ और दारा के हस्तलिखित पत्रों से प्रकट होता है तथा जो पटना की ओरियन्टल पब्लिक लायब्रेरी (पूर्वीय सार्वजनिक पुस्तकालय) और अन्य स्थानों में सुरक्षित है। उसने फ़ारसी कविता का बहुत अध्ययन किया; परन्तु फ़िर्दोसी और सादी उसके लिये इतने रोचक न थे जितने कि रूमी और जामी। अपने पिता के विपरीत उसको इतिहास से न कोई शिक्षा, न प्रेरणा प्राप्त होती थी। यदि शाहजहाँ महान् अलेक्जान्डर की प्रशंसा करता, तो उसको अरस्तू और अफ़्लातूँ अधिक पसन्द थे। युद्ध-प्रिय सूरमाओं के पराक्रमों की अपेक्षा सन्तों के अद्भुत कर्म उसके लिये अधिक रुचिकर थे।

दाराशिकोह आजीवन विद्यार्थी रहा। अध्ययन और कल्पना के प्रति उसको असंतुलित अनुराग था। उसका चित्त गूढ़रहस्यवाद-प्रिय था और जहाँ पर अन्य लोगों को कठोर तथ्य प्राप्त होते थे, वहाँ वह अलंकारों की खोज में रहता

१—पाद० I ब० ३४४-३४५.

२—१९२८ के 'भारतीय ऐतिहासिक प्राचीन पत्र आयोग' के नागपुर अधिवेशन से सम्बन्धित प्रदर्शिनी की प्रदर्शित वस्तुओं में अब्दुर्रशीद दायलेमी के सुलेख का एक नमूना था (अ० घोष—४२, शामबाजार गली, कलकत्ता का संग्रह)। हकीम हबीबउर्रहमान, चौक, ढाका के व्यक्तिगत संग्रह ग्रन्थ में मैंने एक अन्य नमूना देखा है। अब्दुर्रशीद दारा का शिक्षक था—वा नहीं, इसमें मतभेद है।

था। क़ुरान और हदीस का अध्ययन उसने उस तार्किक की तत्परता और पक्षपात से किया जो किसी विशेषवाद को सिद्ध करने का उत्सुक हो। अपने क़ुरान के अध्ययन में, उसने शास्त्रीय सम्प्रदाय के प्राचीन विद्वानों की टीकाओं को अस्वीकृत कर दिया। उसको अरबीप्राधान्यता से घृणा थी क्योंकि उसकी दृष्टि में उससे असहनशीलता और मानसिक निष्फलता की उत्पत्ति होती थी। वह कानूनदानों से दूर रहता और इस्लामी कानून के अध्ययन की उसने कभी चिन्ता न की। शाहजहाँ की इच्छा थी कि युवराज को अपनी देख-रेख में शासन के कर्त्तव्यों में शिक्षित करे और उसने उसको सदैव दरबार में रखा। परन्तु दारा में यह सामर्थ्य न थी कि व्यक्तिगत सम्पर्क से मनुष्यों और अन्य प्रश्नों को समझ सके। यद्यपि उसका पालन-पोषण दरबार में हुआ था तथापि वह कभी भी किसी दरबारी को ठीक-ठीक समझ नहीं सका।

अपने जीवन के आरम्भ में ही नवयुवक राजकुमार भ्रम में पड़ गया। अकबर की मृत्यु से पतनशील उदारवाद के शान्त तल के नीचे साम्राज्य में प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ शक्ति-संचय कर रही थीं। आभासों से दारा को धोखा हुआ और शाहजहाँ ने सम्भवतया आगामी विपत्तियों के प्रति उसको सचेत न किया था। यदि अकबर के साम्राज्य का उत्तराधिकार वास्तव में किसी को प्राप्त करना है, तो यह कार्य केवल अकबर की नीति और आदर्शवाद के द्वारा ही सम्पादित हो सकता है, ऐसी धारणा राजकुमार की हुई। इस प्रकार अकबर का कर्त्तव्य-भार राजकुमार को वहन करना पड़ा; परन्तु उसके अपुष्ट कन्धों पर यह भीम का भार सिद्ध हुआ। दारा को बोध हुआ कि किसी नवीन धर्म का विकास करना निरर्थक होगा जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिये समान रूप से अस्पष्ट और अस्वीकार्य होगा। वह इसका कभी विचार न कर सका कि इस्लाम के चक्र से बाहर निकल कर वह प्रेम और मैत्री भाव से मनुष्यमात्र का आलिंगन कर सके। इस्लाम के हृदय-स्थल में ठहर कर ही प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों के लिये वह समान मिलन-स्थल की खोज करना चाहता था। उसने निश्चय किया कि मुहम्मद के प्रति वह अपनी निष्ठा को स्थिर रखेगा और साथ-साथ एकता और शान्ति के उदारहृदय अभिवर्धक का कार्य करेगा और समस्त संसार की उन्नति, संस्कृति और सभ्यता की आत्मा से इस्लाम को संयुक्त करेगा। इस्लाम की दीक्षा के मार्ग को उसने ग्रहण किया और अपने पर्याप्त अवकाश को उसने धर्म के तुलनात्मक अध्ययन के निमित्त अर्पित कर दिया। तौहीद अर्थात् विश्वदेवतावाद के सिद्धान्त के विषय में अपने अन्वेषण-मार्ग में उसने यहूदियों, ईसाइयों और ब्राह्मणों के धर्म-ग्रन्थों के अनुवादों का अध्ययन किया।

संस्कृत के विद्वानों को उसने आश्रय दिया; उनकी सहायता से उसने भगवद्गीता और ५० उपनिषदों का अनुवाद किया, उसने हिन्दी पर अधिकार कर लिया और उस सर्वप्रिय भाषा में उसने भक्ति-गीत लिखे। संक्षेपतः—उस समय की उदारवादी प्रवृत्तियों का वह केन्द्र हो गया और हिन्दुओं की धारणा हो गई कि वह अकबर की आत्मा का अवतार है। आगामी संतति के लिये दाराशिकोह का नाम दर्शन-शास्त्र के पण्डित का प्रतीक बन गया।

विभाग ३—सगाई और वियोग

शाहजहाँ की राजगद्दी के क़रीब दो वर्ष पीछे विख्यात सेनापति ख़ानजहाँ लोदी ने, जो ७ हज़ार सवारों का अध्यक्ष था, विद्रोह कर दिया और दक्षिण को भाग निकला। चूँकि यह भय हुआ कि वह बीजापुर के शासक से जा मिलेगा, शाहजहाँ ने दिसम्बर १६२९ में दक्षिण को प्रयाण किया। शाही शिविर के साथ दारा ने भी प्रस्थान किया, परन्तु उसने किसी युद्ध में भाग न लिया। जब सम्राट् ख़ानदेश में होकर जा रहा था, मुमताज़महल ने स्वर्गीय राजकुमार सुल्तान पर्वेज़ की पुत्री और युवराज के विवाह का प्रस्ताव किया। शाहजहाँ ने इस योजना का हृदय से समर्थन किया और आज्ञा दी कि इस विवाह के लिये विशाल परिमाण पर भव्य तैयारियाँ की जायँ। परन्तु बुर्हानपुर में ७ जून, १६३१ (१७ ज़िलक़ाद, १०४० हि०) की रात्रि को अकस्मात् साम्राज्ञी का देहान्त हो गया। ठीक उसके पहले उसने एक कन्या गौहरआरा बेगम को जन्म दिया था। लगभग २½ वर्ष की अनुपस्थिति के बाद सम्राट[१] राजधानी को वापस आया (जून ९, १६३२)

परिशिष्ट

शाहजहाँ और मुमताजमहल की सन्तान

(पादशाहनामा, खण्ड १ अ०; ३९१–३९३)

१—हूरुन्निसा—आगरा में शनिवार ९ सफ़र, १०२२ हि० को जन्म। तीन वर्ष और एक मास पीछे अजमेर में बुधवार, २४ रबी उस्सानी १०२५ हि० को देहान्त। (जन्म २० मार्च, १६१३ ई० तथा मृत्यु १ मई, १६१६ ई०)।

१—बुर्हानपुर से शाहजहाँ का राजकीय प्रस्थान--२४ रमज़ान, १०४१ हि० (अप्रैल ४, १६३२ ई०) पाद० I अ० ४२२; राजधानी में राजकीय प्रवेश--१ ज़िलहिज, १०४१ हि० (९ जून १६३२ ई०) सम्राट के पीछे बैठा हुआ दाराशिकोह अपने पिता के शिर के ऊपर न्यौछावर (निसार) की वर्षा करता है—पाद० I अ० ४२८।

२—जहाँनारा बेगम—मेवाड़-अभियान के समय होनी के गाँव में २१ सफ़र, १०२३ हि० को जन्म (बुधवार २३ मार्च, १६१४ ई०)।
३—दाराशिकोह—अजमेर में सोमवार की रात्रि २९ सफ़र, १०२४ हि० को जन्म (२० मार्च, १६१५ ई०)।
४—शाहशुजा—अजमेर में रविवार रात्रि १८ जमादी उलाख़िर १०२५ हि० को जन्म (२३ जून, १६१६ ई०)।
५—रौशनराय (रौशन आरा) बुर्हानपुर में २ रमज़ान, १०२६ हि० को जन्म (रविवार २४ अगस्त, १६१७ ई०)।
६—औरंगज़ेब—गुजरात के पंचमहल ज़िले के दोहद नामक स्थान पर रविवार रात्रि १५ ज़िल्क़ाद, १०२७ हि० को जन्म, (२४ अक्तूबर, १६१८ ई०)।
७—उम्मेद बख़्श—बुधवार ११ मुहर्रम, १०२९ हि० को सरहिन्द के पास जन्म। १०३१ हि० के रबीउस्सानी मास में बुर्हानपुर में मृत्यु (८ दिसम्बर १६१९—फर्वरी १६२२)।
८—सुरैया बानू बेगम—जन्म २० रजब, १०३० हि०। ७ वर्ष की आयु पर २३ शाबान, १०३७ हि० को देहान्त (३१ मई, १६२१ ई०; १८ अप्रेल, १६२८)।
९—एक पुत्र—१०३२ हि० में जन्म। नामकरण के पूर्व ही मृत्यु।
१०—मुरादबख़्श—बिहार में रोहतासगढ़ पर २५ ज़िलहिज, १०३३ हि० को जन्म (२८ सितम्बर, १६२४ ई०)।
११—लुत्फुल्ला—बुधवार १४ सफ़र, १०३६ हि० (२५ अक्तूबर, १६२६ ई०) को जन्म। १९ मास पीछे ९ रमज़ान, १०३७ हि० को मृत्यु।
१२—दौलतअफ़ज़ा—जन्म ४ रमज़ान, १०३७ हि०; मृत्यु २० रमज़ान, १०३८ हि० (२८ अप्रेल, १६२८ ई०—३ मई, १६२९ ई०)।
१३—एक पुत्री—जन्म १० रमज़ान, १०३९ हि०। मृत्यु तुरन्त पश्चात् (१३ अप्रैल, १६३० ई०)।
१४—गौहरआरा बेगम—जन्म बुधवार रात्रि, १७ जिलक़ाद, १०४० हि० बुर्हानपुर में (७ जून, १६३१ ई०)।

अध्याय २

विवाह और पारिवारिक जीवन

विभाग १—दाराशिकोह का विवाह

आगरे में सम्राट् की वापसी के बाद जहानआरा बेगम की देख-रेख में सुयोग्य पालिका सितिउन्निसा खानम[1] की सहायता से दारा के विवाह की तैयारियाँ पुनः आरम्भ की गईं। राजकुमारी ने यथासामर्थ्य कष्ट सहन किया कि युवराज के विवाहोत्सव की तैयारियाँ उस भव्य परिमाण पर की जायँ जैसा कि मृतक मुमताज़ की इच्छा हो सकती थी। कुल ३२ लाख रु० के व्यय में से केवल जहानआरा ने १६ लाख रु० दिये। दो लाख की लागत का साचाक़ (नव वधू को शुभ सेंदुर सहित प्रथम उपहार) भव्य जुलूस में ११ नवम्बर, १६३२ को भेजा गया। साथ में मृतक सम्राज्ञी की माता, बड़ी बहिन और फूफियाँ थीं। तीन मास पीछे वास्तविक विवाहोत्सव हुआ। (पाद० I अ०, ४५३)। शुक्रवार १ फरवरी, १६३३ ई० (१ शाबान, १०४२ हि०) की रात्रि को हिनाबन्दी की रस्म के अवसर पर दीवाने खास के प्राङ्गण में विशाल सभा (मजलिस) का आयोजन किया गया। मुमताजमहल की मृत्यु के बाद पहली बार सम्राट् ने उत्सव के वस्त्र धारण किये, सहभोज में प्रधान पद ग्रहण किया और राजभवन में पुनः संगीत होने की अनुमति प्रदान की। सैकड़ों मनमोहिनी गायिकाओं ने सभा का मनोरञ्जन किया और मण्डप के कोने-कोने से हर्ष की प्रतिध्वनि उठ खड़ी हुई। परदों के पीछे बैठी हुई महिलाओं ने दारा के हाथों को हिना (मेंहदी) से रीत्यनुसार रंग दिया तथा सुन्दर कन्याओं ने बाहर आकर सम्मानित अतिथियों की अँगुलियों को लाल रंग से रंग दिया और सोने के काम के रुमालों को उनकी अँगुलियों पर बाँध दिया। जब यह हर्षोत्पादक कार्य समाप्त हो गया, अतिथियों को प्रथानुसार कमरबन्द बाँटे गये और वे विदा किये गये।

दूसरे दिन सायंकाल को राजाज्ञानुसार तीनों छोटे राजकुमारों के संरक्षण में विशाल जुलूस के साथ अपने महल से सुन्दर घोड़े पर सवार होकर दारा दीवाने आम (सार्वजनिक सभा-मण्डप) में आया। दण्डवत् करने के बाद जब राजकुमार सिंहासन के सम्मुख उपस्थित हुआ, सम्राट् ने मोतियों की एक माला उसके गले में पहना दी और दारा के शिर पर वही सेहरा (वर का मौर) बाँध

१—सितिउन्निसा खानम के जीवन सम्बन्धी एक रेखाचित्र पादशाहनामा, II ६२८-६३१; सरकार का 'मुगल भारत के अध्ययन।'

दिया जो उसके पिता जहाँगीर ने उसके शिर पर मुमताजमहल से उसके विवाह की रात्रि पर बाँध दिया था। जब रात्रि के दो प्रहर और ६ घड़ियाँ बीत गईं (अर्थात् अर्धरात्रि के बाद) तब उस समय के सर्वाधिक मतान्ध मुल्ला काजी मुहम्मद इस्लाम[1] को विवाह संस्कार के अनुष्ठान के लिये बुलाया गया। यह अनुष्ठान सम्राट् की उपस्थिति में सम्पादित हुआ। वधू के कपीन (देयधन) के लिये उसने वही धन निश्चित किया (अर्थात् ५ लाख रुपये) जिसकी प्रतिज्ञा मुमताज से की गई थी (पाद० I अ० ४५८-४५६)। ८ फरवरी (८ शाबान) को यह आमोद-प्रमोद समाप्त हुआ। उस दिन अपने पुत्रों, उच्च सामन्तों और गार्हस्थ सेवकों के साथ सम्राट् दारा के घर गया और उस राजकुमार ने उसका भव्य और विशाल स्वागत और सत्कार किया।

विभाग २—दाम्पत्य जीवन

यद्यपि दारा के अन्तःपुर (हरम) में दास-कन्याओं की साधारण पूरक मण्डली उपस्थित थी; परन्तु उसने और कोई विवाह नहीं किया। मन्मथ के मार्ग-भ्रष्ट वाण, जिन्होंने कट्टरपन्थी औरंगज़ेब को भी न छोड़ा था, कभी-कभी कामुक राजकुमार को अधीर कर देते होंगे; परन्तु यह निश्चित है, कि दारा और उसकी विवाहित पत्नी करीमुन्निसा के बीच प्रेम सर्वदा वर्तमान रहा। जन-साधारण में यह करीमुन्निसा नादिरा बेगम के नाम से प्रसिद्ध थी। यदि हम मनुची का विश्वास करें तो राणादिल नामक एक हिन्दु नर्तकी पर एक समय राजकुमार प्रबल रूप से आसक्त हो गया, जिसने बिना नियमपूर्वक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये उसके प्रति आत्म-समर्पण करने से इन्कार कर दिया। उसकी काम-वासना इतनी पीड़क थी कि जब शाहजहाँ ने इस नीच प्रस्ताव का विरोध किया, वह सूख कर काँटा होने लगा। अन्त में सम्राट् ने इस विवाह के प्रति अपनी अनुमति दे दी और राणादिल इतनी सती और साध्वी वधू सिद्ध हुई जितनी कोई और उच्चकुलीय महिला हो सकती थी।[2] यद्यपि इस कहानी का आधार संदिग्ध प्रमाण पर है, यह कहानी उसकी आधी भी रोमाञ्चक नहीं है जितना कि केलि-प्रिय हीरा-बाई (ज़ैनाबादी महल) के प्रति प्रौढ़ अवस्था में औरंगजेब की प्रेम-व्यथा का वर्णन। जिस हीराबाई को प्रसन्न करने के लिये

१—वह इतना कट्टर सुन्नी था कि जब वह बीमार पड़ा, उसने एक योग (नुस्खे) को आग में जला दिया क्योंकि वह किसी शिया वैद्य के ग्रन्थ से संयोगवश उद्धृत किया गया था। उसका देहान्त १०६१ हि० (१६५१ ई०) में हुआ। जीवन सम्बन्धी टिप्पणी के लिये देखो—मासीरुलुमरा III—८६-६१)।

२—मुगलों की कथायें I—२२२-२६१।

उस समय के आदर्श मुसलमान ने एक बार निषिद्ध प्याले (मद्य) को अपने ओठों से लगा लिया था।

नादिरा के प्रति दारा का प्रेम मुममाज़ के प्रति शाहजहाँ के प्रेम से कम, निश्चल और रोमाञ्चक न था। और न शारीरिक और नैतिक सौन्दर्य में तथा सहनशीलता और भक्तिमत्ता में, नादिरा अपनी सास से तुलना में कम थी। जब एक बार लाहौर से काबुल को दरबार के साथ यात्रा करते हुए वह जहाँगीराबाद में बहुत सख़्त बीमार पड़ गई, दारा ने बहुत प्रेम से कई महीनों तक उसकी सेवा-शुश्रूषा की[1]। वे जीवन में कभी भी अलग न हुए और दुर्भाग्य ने उनके प्रेम को और भी चमका दिया। उसके सब पुत्र और पुत्रियाँ नादिरा के पेट से थे, नीचे उनका कुल वृत्तान्त है।

दारा शिकोह और नादिरा की सन्तान

१—एक पुत्री—रविवार, २९ रजब, १०४३ हि० (१९ जनवरी, १६३४) को आगरा में जन्म। उच्च सामन्तवर्ग सहित सम्राट् शिशु को देखने गया और दारा के यहाँ खाना खाया। कुछ मास पीछे ईदुल्फ़ितर के दिन (२१ मार्च, १६३४) को उसका देहान्त हो गया। दारा उस समय दरबार के साथ लाहौर को यात्रा कर रहा था। दुःख और मानसिक खिन्नता के कारण उसको ज़ोर से बुख़ार आ गया और हृदय-वेदना उत्पन्न हो गई। सम्राट् को इतनी चिन्ता हुई कि उसने लाहौर से हकीम वज़ीरखाँ को बुला भेजा और चिन्ताकुल होकर उसने आज्ञा दी कि दारा का डेरा उसके डेरे के निकट लगा दिया जाये ताकि जहानआरा बेगम उसको सम्भाल सके। शाहजहाँ कई बार उसको देखने गया और फ़क़ीरों और कंगालों में बहुत-सा धन बाँट दिया। (पाद० I ब० ३, ९, १०)

२—सुलेमान शिकोह—दिल्ली से आगरा को दरबार के साथ सफ़र के समय सुल्तानपुर गाँव में शुक्रवार को प्रातःकाल २७ रमज़ान १०४४ हि० (६ मार्च, १६३५ ई०) को जन्म। जन्मोत्सव आगरा में हुआ। हज़ारी की श्रेणी तक के सब सामन्तों के साथ दारा के घर पर सम्राट् का विशाल सत्कार हुआ। (पाद० I ब०, ७३–७४; ८४–८५)

३—मिहिर शिकोह—जन्म बुधवार, २ रबी उल्अव्वल १०४८ हि० (४ जुलाई, १६३८ ई०)। मृत्यु अगले मास की ९ तारीख़ को (पाद० II १०१, १०४)।

१—पाद० II ५०१, ५७१, ६३४।

४—पाकनिहाद बानू बेगम—जन्म २९ जमादी उल्‌अव्वल १०५१ हि० अगस्त २६, १६४१ ई० (पाद० II २४५)

५—मुमताज शिकोह[1]—जन्म जमादीउल्‌अव्वल १०५३ हि० का अन्तिम दिवस ६ अगस्त, १६४३ ई० (पाद० II ३३७)। मृत्यु सम्भवतया १०५८ हि० के जिलकाद मास में।

६—सिपिहर शिकोह—जन्म बृहस्पतिवार, ११ शाबान, १०५४ हि० ३ अक्तूबर, १६४४ ई० (पाद० II ३८८)। अपने प्रत्येक पौत्र या पौत्री के जन्म के बाद शाहजहाँ दारा के घर को जाता और प्रत्येक अवसर पर जन्मोत्सव के लिये दो लाख रुपये देता।

७—जहाँज़ेबबानू।

८—अमलुन्निसा।

यह कुछ अद्‌भुत-सी बात है कि १६४५ से उसकी मृत्युपर्यन्त (१६५८) शाहजहाँ के दरबारी इतिहास दारा के किसी शिशु के जन्म का उल्लेख नहीं करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि दारा की दो कन्यायें अपने पिता की मृत्यु के पीछे तक जीवित रहीं। कलिमाते औरंगज़ेब में दारा की एक कन्या तमलुन्निसा बेगम का दो बार उल्लेख आता है कि वह औरंगज़ेब की विशेष कृपा-पात्र थी। उस सम्राट् से कुछ आभूषण उसको उपहार में प्राप्त हुए थे (सरकार ह० ग्र० ६२, १०१) मनुची दारा की एक छोटी कन्या का उसके घरेलू नाम जानीबेगम से उल्लेख करता है (अधिकृत नाम जहाँज़ेब बेगम)। उसका पालन-पोषण जहानआरा ने किया था और उसका विवाह (१६६८ में) औरंगज़ेब के पुत्र मुहम्मद आज़म से हुआ था। दारा की यह कन्या पाकनिहाद बानू नहीं हो सकती है जो मुहम्मद आज़म से १२ वर्ष बड़ी थी। अमलुन्निसा और जानीबेगम, प्रत्यक्ष है, एक ही न थी। निस्सन्देह इनका जन्म सिपिहर शिकोह के बाद हुआ था।

१—वारिस का उल्लेख है कि दारा के एक पुत्र का देहान्त जिलकाद १०५८ हि० में ४ वर्ष और ९ मास की आयु में हुआ था। यह शिशु, जिसके नाम का उल्लेख नहीं है पाकनिहाद बानू नहीं हो सकता है जो उस समय ६ वर्ष ९ मास की थी। अतः प्रत्यक्ष है कि अभिप्राय ममताज से है।

अध्याय ३

दारा शिकोह की स्थिति और उसके अधिकार पद
उसके आरम्भिक आज्ञापक पद

विभाग १—मुग़ल सामन्त वर्ग में स्थान

मुग़ल दरबार की प्रथा के अनुसार, सिवाय अधिकृत सामन्तवर्ग के सदस्य के रूप में, किसी व्यक्ति की कोई संस्थिति नहीं हो सकती थी। मुग़ल सामन्त वर्ग में वीरजन और शिष्टजन दोनों ही सम्मिलित थे—सैनिक और वैद्य, कवि और चित्रकार, धर्मशास्त्री (आलिम) और नपुंसक (ख़्वाजा) सब को सेना अधिकारियों (मनसबदारों) के रूप में इस सम्मान का समान अधिकार था।

सम्राट् की चान्द्र वर्ष गाँठ, शनिवार ५ अक्तूबर, १६३३ ई० (११ रबी उस्सानी १०४३ हि० पाद I अ० ५४१) को राजकुमार दारा को उसका प्रथम मनसब (अधिकार पद) १२ हज़ार ज़ात और ६ हज़ार सवार का प्राप्त हुआ। उस दिन हिसार की सरकार (पंजाब में) जो बाबर के राजवंश में युवराज का क्षेत्र था, राजकुमार को उसकी जागीर के रूप में दी गई। यह पसन्द अकस्मात नहीं हुई थी; परन्तु विचारपूर्वक की गई थी कि ज्येष्ठ राजकुमार को सिंहासन का उत्तराधिकारी (युवराज) घोषित कर दिया जाये।

दारा की पदोन्नति शीघ्रता से उच्चता की ओर हुई और वह परिवार के सब पहले के वृत्तान्तों से बढ़ गई। पाँच वर्षों में कई उन्नतियाँ प्राप्त कर उसका पद २० हज़ार ज़ात और १० हज़ार सवार का हो गया। इसके बाद क़रीब १० वर्षों तक उसका ज़ात स्थिर रहा। तब भी उसके सवार-दल की वृद्धि के रूप में उन्नतियाँ जारी रहीं। दो अस्पाह (दो सैनिक) तथा सेह अस्पाह (तीन सैनिक) परिवर्तन के रूप में भी उन्नति प्राप्त होती रही। अप्रैल, १६४८ में दारा को १० हज़ार ज़ात की उन्नति प्राप्त हुई और ८ वर्ष पीछे जनवरी, १६५६ में दूसरी उन्नति १० हज़ार ज़ात की। शुजा और औरंगज़ेब के सम्मिलित सैन्याधिकार से इस समय दारा का सैन्याधिकार बढ़ा हुआ था। परिश्रमी और वीर औरंगज़ेब छोटा होते हुए भी अकर्मण्य शुजा से आगे निकल गया था; परन्तु शाहजहाँ की नीति और प्रेम ने दारा को प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र के ऊपर उठा दिया। अपनी प्राणघातक बीमारी के ठीक पहले सम्राट् ने दारा के पद को ५० हज़ार ज़ात तक बढ़ा दिया; और अपने आंशिक स्वास्थ्य लाभ के पीछे जब उत्तराधिकार-युद्ध क्षितिज में वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, उसने दारा को 'रुग्ण अवस्था के समय उसकी पितृभक्ति और सहृदय सेवा-सुश्रूषा की मान्यता में ६० हज़ार

ज़ात और ४० हज़ार सवार का असाधारण पद प्रदान किया जिनमें से ३० हज़ार दो अस्पाह और सेह अस्पाह थे।

विभाग २—दारा के महाराज्यपाल-पद (सूबेदारियाँ)

१—इलाहाबाद—शाइस्ताख़ाँ के स्थान पर दो अधिक राजकीय गढ़ों—चुनार और रोहतास सहित १५ जून, १६४५ को दारा इलाहाबाद के सूबे का सूबेदार (राज्यपाल) नियुक्त हुआ। चूँकि राजकुमार इस समय दरबार के साथ काश्मीर में भ्रमण कर रहा था, बकी बेग को जो दारा के अन्तःपुर का मुख्य ख़्वाजा था, उस प्रान्त में उसका प्रतिनिधि नियुक्त किया गया। अनुपस्थित महाराज्यपाल की ओर से १२ वर्षों तक बक़ी बेग और अन्य प्रतिनिधियों ने इस प्रान्त का सफलतापूर्वक प्रशासन किया। यहाँ पर दारा केवल एक बार आया। (१६५६–१६५७) और बनारस में १ जुलाई, १६५७ को उसने अपने प्रसिद्ध स्मारक ग्रन्थ सिर्रुल अस्रार (सिर्रे अकबर के नाम से भी विख्यात) को पूर्ण किया। यह ग्रन्थ ५० उपनिषदों का अनुवाद है। इलाहाबाद से राजकुमार को कोई राजनैतिक तथा आर्थिक स्वार्थ न था। राजकुमार की दृष्टि में इसके सम्मान का कारण केवल यह था कि वह हिन्दु-विद्या का केन्द्र और सूफ़ी फ़क़ीर शेख़ मुहीबुल्ला इलाहाबादी का निवास-स्थान था।

२—पंजाब—क़रीब दो वर्ष पीछे (मार्च, १६४७) पंजाब का सूबा दारा के महाराज्यपाल-क्षेत्र में सम्मिलित कर दिया गया। चूँकि इस समय यह प्रान्त उस शाही सेना को रण-सामग्री पहुँचाने का केन्द्र-स्थान हो गया था, जो बलख़ में औरंगज़ेब की अधीनता में युद्ध कर रही थी। दारा को क़रीब एक वर्ष तक अपने नये प्रान्त के मुख्य निवास-स्थान पर ठहरना पड़ा। यह प्रान्त निर्विघ्न रूप से दारा के अधिकार में रहा; जब तक कि औरंगजेब की सेना ने उसको यहाँ से बाहर न भगा दिया। यद्यपि यह प्रान्त साधारणतया उसके प्रतिनिधियों के प्रबन्ध में रहता था, परन्तु लाहौर को दारा का सर्वोपरि ध्यान था और उसके शासन की सराहना यहाँ से अधिक और कहीं नहीं हुई। उसको महान् जन-प्रसिद्धि इस कारण प्राप्त हुई कि नगर के कल्याण में उसने बहुत रुचि प्रकट की और जिसको उसने अनेक चौकों (अर्थात् बाजारों) के निर्माण से उन्नत कर दिया। उसके नाम को अब भी लाहौर में प्रेम से स्मरण किया जाता है और औरंगज़ेब द्वारा निर्मित बहुमूल्य बादशाही मस्जिद सदैव बदनाम रही है क्योंकि इसका निर्माण ख़ूनी लूट से हुआ है।[1]

१—सिक्खों ने इस मस्जिद को बारूदख़ाना बना दिया था; अंग्रेज़ों ने इसे मुसलमानों को वापस दे दिया जो इसको अकलदम समझकर इससे घृणा करते थे (लाहौर का गजेट

दारा के लिये लाहौर विशेष रूप से पवित्र था क्योंकि यहाँ पर प्रसिद्ध सन्त मियाँ मीर का निवास-स्थान था और यहीं पर उसकी मृत्यु हुई थी। १६३४ ई० में उस सन्त से उसका परिचय हुआ था। महाराज्यपाल के रूप में अपने शासन-काल में दारा ने सन्त की क़ब्र पर एक महासमाधिभवन का निर्माण किया और यहीं पर उसकी प्रिय अर्धांगिनी नादिरा बानू बेगम के शव को शरण मिली।

३—गुजरात—यह सूबा १६४६ में दारा को प्राप्त हुआ। उसने बक़ीबेग[1] को जिसको अब बहादुरख़ाँ की उपाधि प्राप्त हो गई थी, इलाहाबाद से गुजरात में स्थानान्तरित कर दिया कि वह इस नवीन प्रान्त की व्यवस्था को स्थिर कर दे। दारा कभी भी गुजरात न गया और उसके भारवहन से वह जुलाई, १६५२ में मुक्त हो गया।

४ तथा ५—मुल्तान और काबुल—जुलाई, १६५२ में प्रान्तों का पुनर्विभाजन आवश्यक हो गया जब दारा ने कन्धार अभियान के नायक का स्थान ग्रहण किया। ईरानियों से उस गढ़ को पुनः हस्तगत करने में औरंगज़ेब दो बार असफल हो चुका था। गुजरात के भार से दारा मुक्त किया गया (१७ शाबान १०६२ हि०, १४ जुलाई, १६५२ ई०) और बदले में उसको काबुल और मुल्तान मिले। औरंगज़ेब को मुल्तान का प्रान्त दारा के सुपुर्द करना पड़ा और दक्षिण के चार सूबे उसको प्राप्त हुए।[2] बिहार का सूबा जिस पर बंगाल और उड़ीसा के महाराज्यपाल राजकुमार शुजा की आँख बहुत दिनों से लगी हुई थी, दारा को २० दिसम्बर, १६५७ को दे दिया गया जब कि गृह-युद्ध लगभग आरम्भ हो गया था। दारा मुल्तान और काबुल दोनों स्थानों में अनुपस्थित महाराज्यपाल रहा। १६५३ ई० में क़न्धार से उसकी वापसी पर सुलेमान शिकोह उसके साथ दिल्ली गया। काबुल को बहादुरख़ाँ (बक़ीबेग) के शासन में छोड़ दिया। मुल्तान में एक वर्ष पीछे मुहम्मदअलीख़ाँ के स्थान पर सैयद इज्ज़तखाँ नियुक्त किया गया। जनवरी, १६५७ में रुस्तमखाँ बहादुर फ़ीरोज़जंग को काबुल में

१८८३, पृ० २४, १७६)। मियाँ मीर का समाधि-भवन लाहौर पूर्वीय (छावनी) स्टेशन के समीप है। यह संगमरमर और आगरा के रेत के पत्थर का भवन है और इसके आँगन में एक मस्जिद है (वही, पृ० १६६)। मनुची का वर्णन है कि इस भवन को दारा ने बनवाया था।

१—बहादुरखाँ (बक़ीबेग)। मासीरुलुमरा I ४४४-४४७ में जीवन-सम्बन्धी पाण्डुलेख।

२—१७ शाबान १०६२ हि०—जुलाई १४, १६५२ को प्रान्तों का पुनर्विभाजन, (वारिस ६६ अ)। गुजरात शाइस्ताखाँ को मिला जिसके स्थान पर मार्च, १६५४ में उसी प्रान्त में मुरादबख्श नियुक्त हुआ (वारिस ८५ अ०)।

बहादुर खाँ (बक़ीबेग[1]) के स्थान पर नियुक्त किया गया जिसका स्थानान्तर लाहौर को हो गया। जब गृह-युद्ध का आरम्भ हुआ, अल्पायु सुलेमान शिकोह का संरक्षक बनाकर बक़ीबेग को शुजा के विरुद्ध अभियान पर भेज दिया। लाहौर में उसकी जगह पर सैयद इज्ज़तख़ाँ (अब्दुर्रज्जाक़ जीलानी)[2] नियुक्त हुआ।

विभाग ३—दाराशिकोह की सेवाएँ और उसकी आय

सैनिक और प्रशासक के रूप में दारा का चरित्र घटनाशून्य है। अपने अधिकारी जीवन में दारा ने ईरानियों के विरुद्ध तीन सैनिक अभियानों का सञ्चालन किया। इनमें से दो आमोदमय सैन्यप्रदर्शन-मात्र थे जिनमें किसी शत्रु का सामना न करना था; परन्तु तीसरे में दुःखद रूप से भाग्य ने उसका पक्ष त्याग दिया। वह कई प्रान्तों का नाममात्र का अनुपस्थित महाराज्यपाल रहा जहाँ पर उसके नाम से उसके अधीनस्थ अधिकारी शासन करते थे और जिनकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी। युवराज का पालन-पोषण काँच के हरित गृह में पाले हुए वृक्ष की भाँति किया गया था, उसको संकटों और निराशाओं से सुरक्षित रखा गया था और शाहजहाँ के प्रेम के सतत निर्झर से उसको सींचा गया था।

यद्यपि उसकी सेवाएँ न्यून थीं, उसकी आय अधिक थी। केवल अपने सैनिक पद के कारण वह २ करोड़ ७५ हज़ार रुपये के वार्षिक वेतन का अधिकारी था। काश्मीर, काँगड़ा और पंजाब में अपनी विस्तृत जागीर भूमियों के अतिरिक्त उसको महामन्त्री सादुल्लाख़ाँ की समस्त जागीरें दे दी गई थीं (अप्रेल, १६५६)। उसके पास दो कर्मशून्य वैतनिक-पद भी थे—कोल (अलीगढ़) की फ़ौजदारी और दिल्ली और आगरा के बीच के प्रदेश की राहदारी (संरक्षक पद) जिनकी वार्षिक आय साढ़े २२ लाख रुपये वार्षिक थी। शाहजहाँ ने दारा की इच्छा पर विशाल सैनिक और कर-सम्बन्धी साधन छोड़ रखे थे और उनका उपयोग करने के लिये वास्तविक योग्यता को विकसित करने का उसको कोई अवसर न दिया था।

विभाग ४—ईरानियों के विरुद्ध प्रथम अभियान

१५५२ ई० से १२५ वर्षों तक तैमूर और सफ़वी राजवंशों में क़न्धार का प्रान्त विवादास्पद भूमि रहा। इस काल में कई बार इसका हस्त परिवर्तन हुआ। दो बार अनायास ही यह मुग़ल सम्राटों को प्राप्त हो गया; परन्तु उनके शिथिल

१—वारिस ह० अ० ६६ ब० ; ख़फ़ीख़ाँ, II, ७१३।

२—सैयद इज्ज़तख़ाँ की जीवनात्मक टिप्पणी—मसीरुलुमरा, II, ४७५।

नियन्त्रण के कारण वह जाता रहा। अकबर की बाल्यावस्था में शाह तहमास्प ने इसको अधीन कर लिया; परन्तु १५९६ में मुज़फ़्फ़रख़ाँ मिर्ज़ा ने विश्वास-घात द्वारा उसको मुगल सम्राट् को समर्पित कर दिया और वह मुग़ल-सेवा में प्रविष्ट हो गया। शाह अब्बास प्रथम ने १६२३ में इसको बलात् जहाँगीर से छीन लिया; परन्तु १५ वर्ष पीछे क़न्धार के ईरानी राज्यपाल अलीमर्दनख़ाँ ने इसको मुग़लों के हस्तगत कर दिया और अपने प्रजापीड़क स्वामी के क्रोध से शाहजहाँ के दरबार में भाग आया (फ़रवरी, १६३८)।

अनायास-प्राप्त इस प्रदेश को संगठित करने के लिये शाहजहाँ ने शक्तिशाली प्रयास किये और क़न्धार के दो आश्रित स्थानों बस्त और ज़मींदावर को विजित कर लिया। इन दुर्गों की रक्षा-पंक्तियों को दृढ़ करने में उसने ८ लाख रुपये व्यय किये और एक नये प्रान्त—क़न्धार के सूबे का निर्माण किया। डेरा ग़ाज़ीख़ाँ और डेरा इस्माईलख़ाँ के पश्चिम स्थित जातियों की प्रदेश भूमि भी इसमें सम्मिलित थी और इसका राजस्व १५ लाख रुपये (६ करोड़ दाम) था।

क़न्धार के छिन जाने के दुःख के कारण, जैसा अब्दुल हमीद ने कटाक्षपूर्वक कहा है शाह सफ़ी को 'न तो दिन को चैन था, न रात को नींद' (रोज़ बे ताब वो शब बे ख़्वाब)। परन्तु वास्तव में उसके अपने स्वामी की अवस्था कुछ अच्छी न थी क्योंकि उसको सदैव यह भय रहता था कि अनायास-प्राप्त यह असुरक्षित स्थान कहीं उसके हाथों से न निकल जाये। १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में भारतीय विदेश नीति का यह स्वाभाविक गुण था कि हिन्दुस्तान, तुर्की और आक्ससपार देशों के सुन्नी शासकों के संघटन से शिया-मत-प्रधान ईरान का कूटनीतिक पृथकत्व कर दिया जाये। तुर्की के सुल्तान मुराद चतुर्थ से शाहजहाँ ने गाढ़ी मित्रता बनाये रखी। सुल्तान मुराद की ईरानी इराक़ पर अपनी योजनायें थीं। शाहजहाँ ने बलख़ के नज़रमुहम्मदख़ाँ और ऊज़बेग सरदारों को मैत्रीवत् सन्देशों और उपहारों के सामयिक विनिमय से प्रसन्न रखने की चेष्टा की; परन्तु उन्होंने हृदय से कभी उस पर विश्वास न किया क्योंकि तैमूर वंशियों ने बलख़, बदख़शाँ और समरक़न्द के प्रति अपने स्वत्व प्रतिपादन का कभी सर्वथा त्याग न किया। इन युद्ध-सदृश और कूटनीतिक व्यवहारों के होते हुए भी ईरानी भूत शाहजहाँ के स्वप्न को प्रायः भंग ही करता रहा।

१६३९ के आरम्भ में यह समाचार प्राप्त हुआ कि ईरानी क़न्धार पर आक्रमण करने का विचार कर रहे हैं। युवराज को जिसने अभी तक किसी युद्ध में भाग न लिया था, यह उत्सुकता थी कि ईरानियों के विरुद्ध अभियान में वह अपना प्रथम रणानुभव प्राप्त करे। तदनुसार ८ फ़रवरी, १६३९ (१४

शव्वाल, १०४८ हि०)[1] को लाहौर में बहुत गम्भीरता से उसको आज्ञा दी गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक ईरानी शत्रुता का भय अस्त हो गया था; जैसा कि काबुल के प्रति भारतीय सेना का मन्द और विराम गति से प्रयाण प्रकट करता है। वह १८ मई को काबुल पहुँची। उस नगर में एक पक्ष के विश्राम के बाद दारा को अपने दलसहित ग़ज़नी जाने की आज्ञा मिली और क़िलीचख़ाँ को क़न्धार जाने की, कि ईरानियों की गतिविधि पर निगाह रखें। वास्तव में इस समय शाह सफ़ी का कुस्तुन्तुनिया के सुल्तान मुराद चतुर्थ से घोर संघर्ष चल रहा था। सुल्तान ने ईरानी इराक़ पर आक्रमण कर दिया था और बग़दाद को हस्तगत कर लिया था। जुलाई, १६३९ में मुग़ल युवराज काबुल वापस बुला लिया गया।

विभाग ५—क़न्धार की ओर दारा का दूसरा अभियान

सुल्तान मुराद चतुर्थ की मृत्यु पर और इराक़ और आर्मीनिया में अपने नव-विजित प्रदेशों से तुर्कों के शीघ्र निष्कासन पर, ईरानी आक्रमण का भय वास्तविकता को प्राप्त हो गया। तुर्कों के भय से मुक्त होकर और अपनी नयी विजयों पर प्रसन्न होकर, ईरान के शाह ने अपने राज्य के समस्त युद्ध-साधनों को क़न्धार की ओर मोड़ दिया। उसने अपने मुख्य सेनापति रुस्तमख़ाँ गुर्जी को सबल सैन्य सहित पहले ही भेज दिया और उसको आदेश दिया कि खुरासान की राजधानी निशापुर में ठहर कर उसके आगमन की प्रतीक्षा करे। लाहौर के मुग़ल दरबार में इस समाचार से बहुत हलचल पैदा हो गई। प्रान्तीय शासनों से विशिष्ट अधिकारी अविलम्ब बुलाये गये और अपने-अपने दल लेकर राजपूत सामन्त पंजाब की ओर शीघ्रता से चल पड़े। इस सेना का सर्वोपरि अधिकार राजकुमार दारा को दिया गया (१० अप्रैल, १६४२) और सैयद ख़ाँजहाँ, रुस्तमख़ाँ बहादुर, राजा जयसिंह, राजा जसवन्तसिंह और अन्य अनुवभी वृद्ध पुरुष दारा के अधिकारी-मण्डल में नियुक्त किये गये।

मुल्तान के सूबेदार सैयदख़ाँ बहादुर और काबुल की सेना के कुछ अधिकारियों को आज्ञा मिली कि दारा को सैन्य सहायता दें। विशाल सेना को

१—प्रथम अभियान—दारा का क़न्धार के प्रति प्रस्थान—पाद० II १४०। मुग़ल सेना का काबुल में आगमन, २५ मुहर्रम १०४९ हि० वही, पृष्ठ १४७। दारा का ग़ज़नी को प्रस्थान १७ सफ़र, १०४९ हि० वही, १५०। काबुल को वापस १८ रबीउल अव्वल, १०४९ हि० वही, १५१। घर को प्रस्थान २५ रबी उस्सानी वही, १५६। लाहौर में सम्राट् का संदर्शन, ९ अक्तूबर, १६३९ ई० (२१ जमादी उल्सानी, १०४९ हि० वही, १६३)।

लेकर फिर युवराज ने सिन्धु को पार किया; परन्तु ईरान का शाह निशापुर कभी न पहुँचा क्योंकि मई, १६४२ में काशान के स्थान पर उसने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दी।

यह घटना दारा के लिये घोर निराशाजनक हुई। बिना शत्रु से टक्कर लिये दारा वापस होना न चाहता था। उसने प्रस्ताव किया कि सीस्तान, फ़राह और हिरात पर आक्रमण करके ईरानियों को युद्ध पर विवश कर दिया जाये और इस प्रकार क़न्धार को सदा रहने वाले ईरानी भय से मुक्त कर दिया जाये। शाहजहाँ ने अधिक विवेक से काम लिया और इस अविचारपूर्ण साहस को स्वीकार न किया और राजकुमार को ग़ज़नी से आगे बढ़ने की आज्ञा न दी। कन्धार की गढ़स्थित सेना और निवासियों को पुनः विश्वास दिलाने के लिये दो विशिष्ट अधिकारी रुस्तमखाँ बहादुर फ़ीरोजजंग और सैयद खाँ बहादुर जफ़रजंग ३० हजार सवारों के सहित वहाँ भेजे गये। एक मास बाद दारा दरबार में वापस बुला लिया गया और लाहौर में उसके आगमन पर (२ सितम्बर, १६४२)[१] विजयी सेनापति योग्य सर्वसम्मान से उसका स्वागत किया गया।

विभाग ६—कन्धार में औरंगज़ेब की असफलतायें

ईरानियों के विरुद्ध दारा के द्वितीय अभियान के ५ वर्ष बाद तक शाहजहाँ ने अपेक्षाकृत विश्राम का आनन्द भोग किया। जिसका श्रेय अल्पवयस्क शाह अब्बास द्वितीय की बाल्यावस्था और परवशता को है। परन्तु शाह ने अपने शत्रु के अनुमान को असत्य सिद्ध कर दिया और मध्य हेमन्त (जनवरी, १६४९) में सुसज्जित सैन्य सहित क़न्धार के सम्मुख प्रकट हो गया। सुहावने जाड़े के आनन्द के लिए शाहजहाँ ने इस अति लुभावने अधिकृत क्षेत्र की बलि दे दी। स्वयं रणक्षेत्र में उपस्थित होने के स्थान पर उसने औरंगजेब और सादुल्लाखाँ के अधीनस्थ सैन्य-साहाय्य भेजी; परन्तु कायर मुगल सेना ने गढ़ को राजकुमार के आगमन के पहले ही शत्रु के हवाले कर दिया। औरंगजेब ने मई, १६४९ में कन्धार पर घेरा डाल दिया; परन्तु तीन मास के असफल प्रयास के बाद वह वापस हटने पर विवश हो गया।

इसके बाद तीन वर्ष की भारी तैयारियों के बाद औरंगजेब और सादुल्लाखाँ ६० हजार की विशाल सेना सहित भेजे गये कि क़न्धार को पुनः विजित करें। दूसरा घेरा २ मई, १६५२ से जुलाई १६५२ तक पड़ा रहा, परन्तु बहुत खुदाई और बमबारी के होते हुए भी सफलता इतनी ही दूरस्थ प्रतीत होती रही जितनी

१—कन्धार के प्रति दारा का दूसरा अभियान—पाद० II २९१–३०८।

पहले किसी और अवसर पर। निराशा-मय साहस से औरंगजेब सर्वदल-सहित आकस्मिक आक्रमण के लिए उत्सुक था, परन्तु इस विवेक-हीन उद्योग का समर्थन करने से सम्राट ने इन्कार कर दिया और उसको आज्ञा दी कि वह घेरे को हटाले।

विभाग ७—क़न्धार को घेरने के लिये दारा की नियुक्ति—उसकी तैयारियाँ

९ जुलाई, १६५२ को जब कन्धार से हताश होकर सेना काबुल वापस आई, साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिये दारा ने दूसरे अभियान के नेतृत्व के लिए अपने को प्रस्तुत किया। अतः निश्चय हुआ कि आगामी वसन्त ऋतु में युवराज को महासेनापति बनाकर शाही सेना ईरानियों के विरुद्ध लाहौर से प्रस्थान करे। इस समय युवराज का पद ३० हजार ज़ात का था जिसमें २० हजार सवारों का दो अस्पाह, सेह अस्पाह दल भी था। शाहजहाँ का भी सिंहासनारोहण के समय यही मनसब था। इसके अतिरिक्त साम्राज्य के समस्त सैनिक साधन उसकी इच्छा पर रख दिये गये कि वह इस चढ़ाई करने वाली सेना को सुसज्जित करे। काबुल और मुल्तान के प्रान्त उसके शासन-क्षेत्र में सम्मिलित कर दिये गये, जिन पर शासन करने के लिये उसके प्रतिनिधि शिकोह और मुहम्मदअलीख़ाँ क्रमशः नियुक्त किये गये।

सैनिक की अपेक्षा विद्वान् के रूप में इस समय दारा की ख्याति अधिक थी और समस्त साम्राज्य किसी चमत्कार की प्रतीक्षा में था। युवराज की योग्यता का अनुमान स्वयं युवराज से अधिक और कोई न करता था। औरंगज़ेब और सादुल्ला जैसे योग्य पुरुष उसके अनुमान में केवल दयनीय साधारण व्यक्ति थे। वह स्वभावतः आवेगशील भावुक और अनुचित रूप से आशावादी था। उसकी कल्पना प्रायः उसको धोखा देती। गिबन के सन्त पीटर के समान दारा "जैसी उसकी इच्छा होती वैसा विश्वास कर लेता और जो कुछ वह विश्वास करता वह उसको स्वप्नों और आभासों में दिखाई देता।" भावुकता के सतत अभ्यास और सूफी और हिन्दू सन्तों (साधकों) की संगति के कारण दारा की मानसिक प्रवृत्ति सरल विश्वासी, संवेदनशील और अव्यावहारिक हो गई थी। आशावादिता ने राजकुमार की कल्पना पर अपना प्रभाव प्रकट किया। क़न्धार के शीघ्र हस्तगत होने के स्वप्न उसको पहले से हो रहे थे।

कहा जाता है कि जब वह क़ाबुल में ठहरा हुआ था, एक दिन दो फ़क़ीर राजकुमार की बैठक में आये और अपने थेगली लगे हुए वस्त्रों की सलवटों में अपने शिरों को ढक कर मौन बैठ गये। कुछ देर के बाद उनमें से एक ने अपना शिर उठाकर ज़ोर से कहा—"ईरान की घटनायें इस समय मेरे समक्ष हैं। ईरान

के शाह की मृत्यु हो गई है।" दूसरा चिल्ला उठा—"मैं भी यही देख रहा हूँ, परन्तु मैं वापस नहीं आऊँगा जब तक शाह का विमान गाड़ न दिया जायेगा।" इन शब्दों को सुन कर राजकुमार ने कहा—"मैंने भी एक आभास (मकाशफ़ा) में देखा है कि सात दिनों से अधिक मुझको क़न्धार में न ठहरना होगा और इन सात दिनों में गढ़ विजित हो जायेगा····शाह अब्बास की मृत्यु सत्य हो सकती है।" हेमन्त के आगमन पर वह लाहौर वापस आ गया और अपनी तैयारियों में यथाशक्ति संलग्न हो गया। वारिस कहता है—"जो एक वर्ष में न हो सकता था वह कार्य लाहौर में अपने ३ मास और ९ दिन के निवास-समय में राजकुमार ने पूरा कर लिया (लतायेफ, ७ अ; वारिस ७० अ)। लतायेफ़-उल-अख्बार का लेखक कहता है—"जो विपुल भंडार और अवरोध सामग्री राजकुमार ने एकत्र की, उसका कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि ६ हज़ार बाँस जिनमें से प्रत्येक लम्बाई में १० गज़ से कम न था (१ गज़ = ४२ अंगुल) सीढ़ियाँ बनाने के लिये इकट्ठे किये गये।" (लतायेफ़ ८ ब)।

तोपखाने की सुसज्जा और सैनिक रसद विभाग के संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया गया। बंजारे, जो उस समय सेना के ठेकेदारों और अन्न के व्यापारियों की एक जाति थे, इस पर बाध्य किये गये कि कन्धार की सेना को अन्न की रसद पहुँचाते रहेंगे। लाहौर के तोपों के कारखाने में तीन बड़ी तोपें[1] और ७ छोटी तोपें (तोपें हवाई) ढाली गईं।

तोपखाने की पूरी शक्ति ७ बड़ी तोपों, १७ तोपें हवाई, और ३० छोटी तोपों तक पहुँच गई। ३० हज़ार गोले, १४ हज़ार हवाइयाँ, डेढ़ हज़ार मन गोलियाँ और उसी अनुपात में लाहौर के अस्त्रागार में बारूद का संग्रह किया गया।

१—इनमें से सबसे बड़ी का नाम 'फ़तहे मुबारक' रखा गया। यह ४५ सेर का गोला फेंक सकती थी। इस पर यह शुभेच्छा खुदी थी :—

तोपेदाराशिकोह शाहेजहाँ। मी कुनद कन्धारा रा वैराँ।

"संसार के अधिपति दाराशिकोह की यह तोप क़न्धार का विनाश करदे"। एक दूसरी तोप का नाम 'किश्वर कुशा' रखा गया। यह ३२ सेर का गोला फेंक सकती थी। तीसरी का नाम संस्कृत में रखा गया—गढ़ भंजन। सब से बड़ी तोप ४६ सेर का गोला फेंक सकती थी। इसका नाम 'क़िला कुशा' रखा गया और उस पर यह शेर खोदा गया—

तोपे दाराशिकोह, क़िला कुशा। सरे गरजस्प मे बुर्द ब हवा॥

"दाराशिकोह की यह तोप 'क़िला-कुशा' नामक गरजस्प के शिर को वायु में फेंक दे।" (लतायेफ़-उल-अख्बार ७ अ, ८ अ; वारिस ७ ब)

तोपखाने के कार्यकारिवर्ग में पर्याप्त वेतन भोगी कुछ योरुप के तोपची और थोड़े से सैनिक इन्जीनियर थे। कहा जाता है कि लाहौर में अपने निवास-समय में राजकुमार ने आज्ञा दी कि क़न्धार के अनुरूप एक नकली किले का निर्माण किया जाये जिससे उसको हस्तगत करने का पूर्व अभ्यास हो सके। तब उसने फिरंगियों (योरुप-निवासियों) को बुलाया जो घेरा डालने में निपुण थे और जिनके पास गढ़हस्तगत करने की विद्या पर उनके द्वारा लिखी हुई पुस्तकें थीं (किताबहा दर आँफ़न साख़तन्द उहमराह दाशतन्द)। इन पुस्तकों में सर्व प्रकार के कल्पनीय गढ़ों के चित्र थे, उनके वर्णन थे और जिस जाति का गढ़ हो उसी के अनुसार उसके निकट प्रवेश करने के ढंग थे। नियुक्त दिन पर युवराज स्वयं क़न्धार का यह नकली घेरा देखने लाहौर गया। उसने दो घेरने वाली तोपों की पंक्तियों का निरीक्षण किया जो इस कृत्रिम क़न्धार के सम्मुख खड़ी की गईं थीं और इसकी भित्तियों पर गोलाबारी की आज्ञा दी। एक दल को आज्ञा दी कि उस पर अचानक धावा करे और उसको हस्तगत कर ले। उपस्थित सज्जनों ने राजकुमार को बधाइयाँ दीं। एक समकालिक पुस्तिका—"फतेह अव्वले-दारा शिकोह" अर्थात् दारा शिकोह की प्रथम विजय—में यह घटना चिरस्मृत कर दी गई। वह राजभवन को वापस आया और प्रशंसा की कि हिन्दुस्तानियों की अपेक्षा फिरंगियों का तोपखाना अच्छा था[1]।

अधिकारी गणना-पट्ट के अनुसार लाहौर में एकत्र इस अभियानक दल की संख्या ७० हज़ार सवारों की थी। इसमें ११० मुसलमान और ५८ राजपूत उच्च पदाधिकारियों की सेनायें सम्मिलित थीं (जिनका अधिकार क्षेत्र पंच हजारी से पंच सदी तक था)। राजकुमार की निजी सेना की टुकड़ियाँ भी इसमें सम्मिलित थीं। इनके अतिरिक्त ५ हज़ार तोड़ेदार बन्दूक़ची और अहदी दल के ३ हज़ार तीर चलाने वाले ये सब घुड़सवार थे। तोड़ेदार बन्दूक़चियों की दस हज़ार पैदल सेना और शाही हस्तिशाला के ६० युद्ध-हस्ती थे। राजकुमार और मनसबदारों के १७० हाथी इस संख्या के अतिरिक्त थे। सेना की कार्यक्षमता इनसे बहुत बढ़ गई थी। सेना के न लड़ने वाले संस्थान में ६ हज़ार लोनिए और बेलदार थे, ५०० पत्थर काटने वाले और खनक थे और ५००[2] पानी वाले।

१—लतायेफ़, ह० ग्र० ६ अ, ६ ब।

२—खफ़ीखाँ के इस उद्धरण में ५०० की संख्या—यद्यपि गलत नहीं—छापे की अशुद्धि प्रतीत होती है क्योंकि सेना की संख्या को देखते हुए ५०० खनकों और पानी वालों की संख्या बहुत ही कम है। दोनों दशाओं में शुद्ध संख्या शायद ५ हज़ार है। आगे एक उद्धरण में वारिस कहता है कि खाई को सुखाने के कार्य में मुल्ला फाज़िल की सहायता पर सैयद महमूद बारहा को १०७० खनकों ·····सहित नियुक्त किया गया था (वारिस, ७४ ब.)।

शिविर-अनुयायिओं की संख्या सम्मिलित नहीं है। जब तैयारियाँ पूरी हो गई दारा ने सम्राट् को लिखा कि ज्योतिषियों ने प्रस्थान के लिये २३ रबी उल अव्वल (११ फरवरी, १६५३) और क़न्धार के अवरोध के लिये ७ जमादी उस्सानी (२५ अप्रैल) निश्चित की थी। सम्राट् का निर्देश हुआ कि मुल्तान होकर थल छोटयाली के मार्ग से सेना प्रस्थान करे क्योंकि मुल्तान और क़न्धार के बीच में खाद्य-सामग्री का बाहुल्य था। इस अवसर पर राजकुमार को अनेक उपहार प्राप्त हुए—आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, हाथी और घोड़े जिनका मूल्य ५ लाख रुपये था, एक लाख के सोने के सिक्के और सैनिक कोष के लिये एक करोड़ रुपये, और इसके अतिरिक्त २० लाख रुपये अधिकारियों और सैनिकों को पुरस्कार देने के लिये थे।[1]

सेना में साधारणतया, परन्तु विशेषतया राजकुमार के निजी दल के सैनिकों और अधिकारियों में बहुत उत्साह फैला हुआ था। अपने स्वामी की भाँति ये सब "अपरीक्षित वीर" थे। इनके अदम्य आशावाद से उनको दुःख होता जो लड़ते-लड़ते वृद्ध हो गये थे और दो बार क़न्धार से असफल वापस आये थे। दारा का प्रत्येक अधिकारी अपने को उस समय का रुस्तम या अफ़रासियाब समझता था और अनिच्छुक प्रतीत होता था कि क़न्धार-विजय के गौरव में अपने शाही सहायकों को हिस्सा दे; परन्तु दारा अपनी सफलता के लिये लौकिक बल पर इतना भरोसा न करता था जितना कि आध्यात्मिक बल पर। बहुत से "प्रार्थनाकारी मुल्लाओं" (अरबाबे दुआआत) को उसने वेतन पर रख लिया। उन्होंने उसकी विजय के लिये लाहौर में प्रार्थना करना आरम्भ कर दिया और सेना के साथ क़न्धार गये। अन्धविश्वास और जादू-टोने के उस युग में कोई भी व्यक्ति, चाहे जितना धार्मिक और बुद्धिमान क्यों न हो, शैतान की उपेक्षा न कर सकता था। अतः राजकुमार ने कई जादूगरों (साहिरान) को अपनी सेवा में रख लिया कि अवरोधितों के अन्न में कीड़े (किरम) पैदा कर दें और अपने जादू-टोने से शत्रु-दल में फूट डाल दें। इस प्रकार प्रत्येक रूप से सुसज्जित होकर और बिना भेद-भाव के मनुष्य, परमात्मा और शैतान को अपनी सेवा पर विवश करके युवराज ने तीसरी बार ईरानियों के विरुद्ध मोरचा लिया।

११ फरवरी, १६५३ को दिन की तीन घड़ी बीत जाने पर राजकुमार दारा शिकोह लाहौर के नगर से बाहर आया और उसने बाहर शिविर में निवास किया। दो दिन ठहरने के बाद मुल्तान, डोकी और पिशिन के मार्ग से उसने

१—सफीखाँ, I, ७१६–१७; वारिस, ह० अ० ७० ब०।

अपना प्रयाण आरम्भ किया। २३ अप्रैल (५ जमादी उस्सानी) को हिन्दुस्तानी सेना पञ्जमुन्दराह के दर्रे से बाहर आगई और २५ को क़न्धार से ५ कोस मर्दे-क़िला के स्थान पर शिविरस्थ हो गई। इस प्रकार मन्दगामी प्रयाण के कारण अवरोध आरम्भ करने की शुभ तिथि (७ जमादी उस्सानी) निकल गई, जिसको ज्योतिषियों ने निश्चित किया था। यद्यपि रुस्तमख़ाँ बहादुर फ़ीरोज़जंग की अध्यक्षता में सेना का अग्रदल पहले से क़न्धार पहुँच गया था और दोनों ओर से गोलियों की मार हो चुकी थी। दारा के अधिकारियों अब्दुल्लाबेग और जाफ़र ने हठ किया कि ख़न्दकों के खोदने के लिये दूसरा शुभ मुहूर्त निकाला जाये। अतः स्पष्ट है कि इस कारणवश नायकगण आते ही आते अवरोध-पंक्ति में अपने निश्चित स्थानों पर जम न सके। यह कार्य उन्होंने बृहस्पतिवार, १० जमादी उस्सानी १०६३ हि० को किया। परन्तु कामराँ (हुमायूँ का हत-भाग्य भाई) के बाग़ में अपने मुख्य स्थान पर राजकुमार सात दिन बाद को ही दूसरे शुभ दिवस १६ जमादी उस्सानी (४ मई, १६५३) पर ही निवास कर सका[१]।

अध्याय ४

क़न्धार का तृतीय घेरा

विभाग १—प्राचीन क़न्धार और उसके बाह्य स्थान

क़न्धार का प्राचीन नगर, जिसका सर्वनाश १७३८ में नादिरशाह ने कर दिया, आधुनिक नगर से क़रीब २ मील बाहर हिरात की सड़क पर था। नगर के तीन अलग-अलग भाग थे, प्रत्येक एक अलग ऊँचाई पर था। वे एक दूसरे की रक्षा कर सकते थे। पहाड़ी की दाँतेदार चोटी पर अनेक बुर्ज थे जो पत्थर की झिझरियों द्वारा एक दूसरे से जुड़े थे। इन में से सबसे ऊँचा जो लकह कहलाता था, गढ़ (जिसका नाम था दौलताबाद) को ऊपर से देखता था जो कुछ नीचे दूसरी ऊँचाई पर था। बस्ती और बाजार (मण्डी) जिन के चारों ओर परकोटा था, कुछ और नीचे पूर्व के मैदान के ऊपर प्रथम पठार पर

१—दारा का क़न्धार को प्रयाण—वारिस, ७४ अ०, ७४ ब०; लतायेफ़, ६ ब, १३ अ; इस द्वितीय प्रयाण के अनुसार कामराँ के बाग़ में लगे हुए अपने शिविर में दारा ने बुधवार १६ जमादी उस्सानी—अर्थात् ४ मई, १६५३ को प्रवेश किया। परन्तु वारिस कहता है—"१५ को"—अर्थात् ३ मई को।

बसे हुए थे। प्राचीन नगर के प्राकार कहीं-कहीं पर दस गज़ चौड़े थे। ये पक्की मिट्टी के बने हुए थे, जो फूस के टुकड़ों और पत्थरों के मिश्रण से बहुत मजबूत कर दिये गये थे। मैदान की ओर चौड़ी और गहरी खाई थी। पहाड़ी शृङ्खला के उत्तरीय पक्ष पर, जिसके आश्रय में गढ़ स्थित था, चालीस सीढ़ियाँ थीं जो चट्टान में कटी थीं और एक गुफा को जाती थीं जो पहाड़ी के ऊपर की ओर आधी दूर पर थी। इस पहाड़ी का नाम चहलजीना (४० सीढ़ियों की पहाड़ी) था जो नगर और गढ़ दोनों के ऊपर थी। शृंखला के बीच में चोटी पर लाकह का दुर्ग था जो इसके पश्चिम पक्ष पर स्थित क़न्धार की रक्षा करता था। यहाँ पर एक लम्बी ढाल में समाप्त होकर पहाड़ी मैदान से मिल जाती है। पहाड़ी सिलसिले के उत्तर पूर्वीय कोने से पहाड़ी के साथ-साथ चलते हुए जहाँ पर परकोटा पहाड़ी से अलग हो जाता है, हम क्रमशः बाबा वली, वेज़कराँ, ख्वाजा-ख़िजिर और मशूरी के फाटकों पर पहुँचते हैं। यहाँ पर गढ़ के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर परकोटा फिर पहाड़ी से जा मिलता है। यहाँ पर मिट्टी का एक पुश्ता और गढ़ी थे। (औरङ्गज़ेब, खण्ड १ और २, पृ० १२४–७)।

विभाग २—घेरा डालने वाली सेना की यथास्थान नियुक्तियाँ

बृहस्पतिवार २८ अप्रैल, १६५३ को सेना के विभागीय नायकों ने निम्न क्रम से स्थान ग्रहण कर घेरा-पंक्ति को पूर्ण कर दिया:—

उत्तर पूर्व से आरम्भ—

बाबा वली फाटक पर—महावत ख़ाँ—पञ्चहज़ारी।

वेज़क़राँ फाटक पर—क़िलीचख़ाँ—पञ्चहज़ारी।

वेज़क़राँ और ख्वाजा ख़िजिर के बीच—जाफ़र, राजकुमार का मीर आतिश, अपने तोपख़ाने सहित।

ख्वाजा ख़िजिर फाटक पर—अब्दुल्ला—राजकुमार का मीरबख़्शी, अपनी पैदल सेना सहित।

ख़िजिर और मशूरी फाटकों के बीच—क़ासिम ख़ाँ—शाही तोपख़ाने का मीर आतिश—चार हज़ारी।

मशूरी फाटक पर—मिर्ज़ा राजा जयसिंह—पञ्च हज़ारी।

चेहल जीना बुर्ज़ पर—इख़्लस ख़ाँ—तीन हज़ारी।

लाकह दुर्ग पर—बक़ी ख़ाँ, चम्पतराय बुन्देला, सैयद मिर्ज़ा तथा अन्य।

राजकुमार का मीरे सामान, मुल्ला फ़ाज़िल, खाई को सुखाने के कार्य पर नियुक्त हुआ और १०७० खनकों और एक सैनिक दल सहित सैयद महमूद बारहा उसकी सहायता पर नियुक्त किया गया। लाकह पहाड़ी के पश्चिम की ओर

मिर्ज़ा कामराँ के बाग़ के सामने राजकुमार ने ४ मई को अपने शिविर में प्रवेश किया। रुस्तमख़ाँ बहादुर फ़ीरोज़जंग ने सबल सैन्य सहित कुछ आगे बढ़ कर अपना स्थान संभाला कि बस्त की सड़क पर निगाह रखे। अन्य थाने असंदिग्ध योग्यता के अधिकारियों के संरक्षण में सौंप दिये गये।

विभाग ३—धावे और रात्रि प्रहार

प्रथम दिवस को ही ईरानियों का एक जत्था ख़िजिर फाटक से बाहर आ गया और उसने हिन्दुस्तानियों को चुनौती दी। कुछ अनुयायी लेकर ख़्वाजा ख़ाँ उज़बेग बाहर आया और उसने ख़न्दक के पास तक शत्रु का पीछा किया। यहाँ पर उसका घोड़ा मारा गया और उसके भी कई गोलियों के घाव आये जो प्राकार से चलाई थीं। जब वह वापस हो रहा था, पलायक उस पर टूट पड़े और उसको मार डालने वाले ही थे, जब उनके एक अधिकारी ने चिल्लाकर उनसे कहा—"तुमको शरम आनी चाहिये। उसको जाने दो।" जब यह समाचार राजकुमार के कानों तक पहुँचा, उसने ख़्वाजाख़ाँ को बुलाया और उसको एक विशेष ख़िलअत (वस्त्रोपहार) और एक घोड़ा उपहार में दिया और उसके मनसब में २०० सवार बढ़ा दिये।

२ रमज़ान (१७ जुलाई, १६५३) को प्रातःकाल ही ३०० ईरानियों का एक जत्था इज्ज़तख़ाँ की ख़न्दक़ के सिपाहियों पर टूट पड़ा, जब वे नमाज़ (प्रार्थना) के लिये एकत्र हुए थे। उन्होंने बहुत से सैनिकों को मार डाला और घायल कर दिया। यदि नज़र बहादुर ख़ेश्गी के पुत्रों कुत्बख़ाँ और शम्सख़ाँ ने उनको वीरतापूर्वक सहायता न दी होती, उन पर बहुत बड़ी विपत्ति आ जाती। इन दोनों भाइयों के ३१ सैनिक घायल हो गये और महावत ख़ाँ के १४ सिपाही मारे गये और ३१ घायल हो गये। उसने वापस जाते हुए ईरानियों का सामना उनकी ख़न्दक़ के पास किया।

इज्ज़त ख़ाँ दारा का कृपापात्र सेवक था; उसने अपनी हानि की मात्रा (क़रीब ६० मरे और घायल) गुप्त रखी; अन्यत्र मारे गये, ईरानियों की लाशों को अपनी ख़न्दक में उठा लाया और उन लाशों को अपने सैनिकों की वीरता के विजय-चिह्न के रूप में उस अधिकारी को बता दिया जो पूछताछ करने भेजा गया था[1]।

१—लतायेफ़लअख़बार ७६ अ–७७ अ। पादशाहनामा में अधिकारी वर्णन दारा द्वारा प्रेषित पत्रों के आधार पर स्पष्ट रूप से है। वह इस प्रकार है—"धावे बहुत ही कम हुए और कोई भी सफल न हुआ। परन्तु एक अवसर पर महावत ख़ाँ की खाई के सैनिकों की उपेक्षा के कारण, ख़ाँ के कुछ सैनिक मार डाले गये और कुछ घायल हो गये। जब ईरानी वापस हो रहे

अवरोध की समाप्ति के निकट—विशेषकर दारा के कृपापात्र जाफ़र की ख़न्दकों पर—धावे बहुधा हुआ ही करते। अपने रात्रि-जागरण में ईरानी उतना सतर्क रहते जितना कि हिन्दुस्तानी असावधान। वे प्रायः चुपके से ख़न्दकों में घुस आते और अपने रात्रि आक्रमण के भयानक स्मृति के रूप में खनकों के मुण्ड-हीन रुण्ड छोड़ जाते। क़ासिमख़ाँ की खाई में बेलदारों का दरोगा (नायक) फ़तेह मुहम्मद कलाल २४ मई की रात्रि में खाई के अग्रभाग को चार बेलदार लेकर गया। दूसरे ही दिन प्रभात को उनके मस्तकहीन शव मिले। उसी रात्रि को दूसरा जत्था महावतख़ाँ और क़िलीचख़ाँ की जगहों के बीच की ज़मीन को चुपके से पार करके उनकी पंक्तियों के पीछे के मैदान में पहुँच गया। उसने तीन सिपाहियों को मार डाला और चार घोड़ों की टाँगें तोड़ डालीं। (लतायेफ़ ३१ ब.)। सतर्क बुन्देले सरदार भी इन अप्रिय अवपातों (धावों) से बचे न थे। ३० जून के मध्याह्न में पहाड़सिंह बुन्देला की खाइयों में उसके सिपाहियों को असावधान देख कर अवरोधितों (घिरे हुओं) की एक टोली उन पर आ धमकी और क़रीब ६० लोगों को मार डाला; पहाड़सिंह के कुछ सिपाहियों ने उनका पीछा किया और गढ़ की गोलियों से अपने २० आदमी और नष्ट किये। (वही, ५८ अ०)। तीसरी रमज़ान को (१८ जुलाई) क़रीब ३० ईरानी बन्दूक़ची लाकह की पहाड़ी से उतर आये; चार ऊँटों और पाँच गायों के गले काट डाले। ये चम्पतराय बुन्देला और बक़ी ख़ाँ के तोपखानों के बीच की ज़मीन पर चर रहे थे। वे उनका माँस लेजा रहे थे कि कई सौ शाही सैनिकों ने उन पर आक्रमण किया। अपने साथियों की रक्षा पर और ईरानी पहुँच गये और परस्पर गोली चली, परन्तु ईरानी अपना शिकार लेकर भाग ही गये। (७९ ब.)। ये थोड़ी-सी उदाहरणार्थ घटनायें हैं जो इस अवरोध में प्रायः होती ही रहती थीं।

थे, इज़्ज़तख़ाँ की खाई के सिपाहियों ने जो समीप ही थे, उनको दण्ड दिया और कुछ ईरानियों को मार गिराया।" (वारिस ७७ ब)। शिविर में साधारण वार्तालाप का यह विषय बन गया कि इस घटना के असत्य वृत्तान्त पर दारा ने अपने हस्ताक्षर कर दिये थे। लतायेफ़ुल अख़्बार का लेखक कहता है—"चूँकि आरम्भ से ही यह स्पष्ट था कि युवराज की इच्छा थी कि गढ़ को हस्तगत करने के प्रयासों का सम्पूर्ण श्रेय उसी के ही सेवकों को—विशेषकर जाफ़र और इज़्ज़तख़ाँ को प्राप्त हो······शत्रु को दण्ड देने में, उसको भगा देने में और उनको रोकने में कि अपने मृतकों को उठा न ले जायें, जो कुछ महावतख़ाँ के सैनिकों ने किया—उसका श्रेय सम्राट को प्रेषित वृत्तान्तों में इज़्ज़तख़ाँ को दिया गया। दो मारे हुए शत्रुओं के शवों की उपस्थिति इसका आधारभूत कारण बनाया गया। वास्तव में महावतख़ाँ के तोपखानों के सामने से इज़्ज़तख़ाँ के सैनिकों ने उनको उठा लिया था······क़ुत्बख़ाँ और शम्सख़ाँ का कोई उल्लेख नहीं है······।" (७८ ब—७९ ब.)

विभाग ४—जादू और चमत्कार

यद्यपि दारा शिकोह वास्तव में ईश्वर-प्रेमी था, परन्तु ईश्वर के झगड़े को अपना झगड़ा बनाना उसके धर्म का अङ्ग न था। अपनी युद्ध-सज्जा के पूरक रूप में बहुत से विद्वान् और ईश्वर-भक्त उलेमा (धर्मज्ञों) के साथ वह लाहौर से कई टोना करने वाले जादूगर भी लाया था। उनमें एक हिन्दू संन्यासी, स्पष्टतया तान्त्रिक साधु, इन्द्रगिरि नामक था, जो बहुत दिनों से इस प्रतिज्ञा पर कि क़न्धार में वह अपना चमत्कार बतायेगा, राजकुमार के अन्न-पान का उपभोग कर रहा था। वह "४० आत्माओं (प्रेतों) का अधिपति" माना जाता था जिनसे वह परकोटा को गिराकर खाई भरने का काम ले सकता था। ३ मई को इन्द्रगिरि को आज्ञा हुई कि अपने प्रेतों को बुलाये और उनको गढ़ पर लगादे जो मानुषी प्रयास द्वारा अजेय प्रतीत होता था। बहुत विश्वास से वह खाई तक गया और गढ़ में प्रवेश की आज्ञा माँगी। ईरानी सन्तरियों के आह्वान के उत्तर में उसने कहा—"मैं राजकुमार के निकट मित्रों में हूँ। मैं गढ़ को देखना चाहता हूँ और एक चिलम तम्बाकू उस ऊँचे बुर्ज पर पीना चाहता हूँ।" ईरानी उसको गढ़ के अन्दर ले गये और बाद को जो दूसरी ओर जा मिले थे उनसे यह पता चला कि वे ईरानी उसको अपने सरदार के पास ले गये थे। उस सरदार ने आज्ञा दी कि उसको गढ़ के चारों ओर घुमा दिया जाये और एक चिलम तम्बाकू उसको पीने को दी जाये। ईरानी सेना नायक ने आज्ञा दी कि उसको एक कलश मदिरा, भोजन और अन्य आवश्यक वस्तुयें दी जायें जो दारा साधारणतया नित्य इन्द्र-गिरि को देता था।

जब इन्द्रगिरि वापस होने का बहुत आग्रह करने लगा, ईरानियों को सन्देह हो गया और वह शिकंजे में डाल दिया गया। शारीरिक यातना में पड़कर उसने अपना भेद प्रकट कर दिया और उसको यह कार्य दिया गया कि लाकह् गढ़ में अपने कार्य में संलग्न ईरानियों को पानी पिलाये। ईरानी आज्ञापक ने इन्द्रगिरि को कहा कि अपना कुछ जादू बताये जिससे मुग़ल सेना विवश होकर वापस चली जाये। परन्तु जब वह संन्यासी की ओर से हताश हो गया, उसने आज्ञा दी कि इन्द्रगिरि को जामरूद शाही पहाड़ी की चोटी पर पहुँचा दिया जाये और वहाँ से उसको नीचे फेंक दिया जाये कि वह पाताल लोक के अपने मित्रों में जा मिले (लतायेफ़, १८ अ०)।

२३ जुलाई को एक हाजी दारा के शिविर में प्रकट हुआ। साधु वेश में वह जादूगर और दिठबन्द था (साहिर व चश्मबन्द)। उस ने राजकुमार से कहा कि वह कनौर (गनौर ?) के देश से आया है और उसका अभिप्राय है कि प्रार्थना और जादू से क़न्धार का पतन प्राप्त करना। उसने घोषणा की कि अपने

मन्त्रों द्वारा एक पस (३ घण्टे) और दो घड़ियों तक वह गढ़ की तोपों और बन्दूक़ों को चुप रख सकता है और इस पर्याप्त समय में कुछ वीर पुरुष उसको हस्तगत कर सकते हैं। राजकुमार ने उसके लिये निःशुल्क भोजन और २०) रु० प्रतिदिन पारितोषिक के स्वीकृत किये। जादूगर ने दो रण्डियों, दो जुवारियों, दो चोरों, एक भैंसा, एक मेंड़ा और पाँच मुर्गों की भी अपेक्षा की और कुछ सोच विचार कर राजकुमार ने यह प्रार्थना भी स्वीकृत कर दी। अब एक जोगी अपने ४० शिष्यों को लेकर आया और एक विशेष प्रार्थना करने की इच्छा प्रकट की जिसके द्वारा गढ़स्थ सेना २० दिनों के अन्दर अधीनता स्वीकार कर लेगी। अपनी टोली लेकर वह एक एकान्त स्थान को चला गया। उसके लिये निःशुल्क भोजन और सौ रुपये दैनिक अन्य व्यय के स्वीकृत हुए। कुछ दक्षिणी साधु आये। वे गुरु कहे जाते थे[1]। वे अपने को १७ वीं शताब्दी के काउंट ज़ेप्पलिन कहते थे। उन्होंने बीड़ा उठाया कि राजकुमार के लिये वे "एक आश्चर्य वस्तु का निर्माण करेंगे जो दो वा तीन व्यक्तियों को उनके हथगोलों (हुक़्क़ों) सहित उठा लेगी और बिना पक्षों और परों के वायु में उड़ जायेगी।" उनको अपना प्रयोग करने की अनुमति प्राप्त हो गई और ४० रुपये प्रतिदिन उनके लिये स्वीकृत हुए (लतायेफ़, ८५ अ, ८५ ब०)।

अगले दिन २४ जुलाई को नक़ीबों (घोषकों) ने प्रत्येक डेरे का चक्कर लगाया और सैनिकों को घोषणा की कि प्राकारों पर चढ़ने के लिये तैयार हो जायँ। दोपहर को हाजी आया और कुछ देर बाद दृष्टि से ओझल हो गया; परन्तु दिन बीत जाने पर वह पुनः प्रकट हुआ और कहा—"मैं गढ़ के अन्दर गया था और मंगलवार को दोपहर के समय मैं सिपाहियों को अपने साथ ले जाऊँगा।" यह आगामी सोमवार के लिये पुनः स्थगित कर दिया गया। २६ जुलाई की रात्रि में जादूगर ने जाफ़र के हित में कुछ पैशाचिक क्रियाओं का अनुष्ठान किया। हाजी ने एक दीपक जलाया और दाल के कुछ दाने (माश-उड़द) उस पर डाले, तब वह एक अतिमानुष नृत्य करने लगा, कभी वह एक गज़ ऊँचा कूद जाता और कभी ज़मीन पर आ गिरता। नृत्य की समाप्ति पर दीपक के सामने एक कुत्ते का और एक भेड़ और मुर्ग़ों का भी बलिदान दिया गया और तब रण्डियों, जुआरियों और चोरों को सम्बोधन कर उसने कहा—"तुम सब का बलिदान देना आवश्यक है; परन्तु तुम्हारे स्थान पर मैं अपना रक्त दूँगा। तुम मुक्त हो।" अपनी एक जाँघ पर उसने घाव कर दिया, और

१—दबिस्ताँ का लेखक काश्मीरी ब्राह्मणों की एक जाति का उल्लेख करता है जो गुरुवागुरीन कही जाती थी (शिया० II, १०३)।

अपना कुछ रक्त निकालकर बलि दिये हुए पशुओं के रक्त पर उसने यह रक्त छिड़क दिया। वह फिर नाचने लगा और कुछ समय तक नाचता रहा........ तब उसने जाफ़र को बुलाया और उसको आज्ञा दी कि बलि-रक्त से अपनी तलवार को धो लेवे जिसके प्रभाव से वह फ़ौलाद को भी काट देगी। उसको यह भी विश्वास दिया गया कि इन क्रियाओं द्वारा वह अचेलीज़ बन गया था, परन्तु उसके अचेलीज़ की एँड़ी न थी।

अगले दिन जब रात्रि की केवल चार घड़ियाँ रह गई थीं, जाफ़र ने अपने अनुयायियों को सुसज्जित कर दिया और उनको पूर्णतया तैयार करने के बाद वह हाजी को जगाने गया कि वह दुर्ग की तोपों को बाँध दे। अनिच्छा से जादूगर ने अपनी आँखें खोलीं और बोला—"मिर्ज़ा जाफ़र—तीन देव (प्रेत आत्मायें) इस दुर्ग की रक्षा कर रहे हैं। इस रात्रि को उनका और मेरा कठोर मल्ल युद्ध हुआ है। इस युद्ध में मुझे कई बार आकाश में जाना पड़ा और पृथ्वी पर उतरना पड़ा। मैं इस समय तक दो देवों को परास्त करने में सफल हो चुका हूँ; परन्तु तीसरा जो उन सब में अति दुर्दान्त है, इस समय तक स्वतन्त्र है और दुर्ग के प्राकारों की रक्षा कर रहा है। आगामी सोमवार तक आक्रमण को स्थगित कर दो, क्योंकि मुझे आशा है कि उस समय तक मैं इस हठी देव को अधीनस्थ कर लूँगा।"

जाफ़र के हित में जादूगर के प्रयास की वार्ता बाहर भी फैल गई थी और स्पष्ट है कि ईरानियों को भी पहुँच गई। उन्होंने उसके प्रतिकार में शुक्रवार को कुछ जादू किया और एक कुत्ते की लाश को नीचे गिरा दिया। उसका पेट फटा हुआ था और उसमें कुछ उबले हुए चावल भरे हुए थे। कहा जाता है कि वही उपाय उन्होंने फिर किया और एक अन्य अधिकारी, जम्मू की पहाड़ियों के राजा राजरूप की खाई में उन्होंने एक कुत्ते की लाश फेंकी। यह राजा चहल-ज़ीना बुर्ज पर आक्रमण का विचार कर रहा था। फिर भी नियुक्त दिवस पर अमन्द उत्साह से जाफ़र फिर हाजी के पास गया।[1] हाजी ने उसको उत्तर दिया कि तीसरे देव को परास्त करने की आशा उसको नहीं रह गई थी और यदि दोनों बन्दी देव मुक्त न किये गये, वे उसकी जान ले लेंगे। अतः इस उद्योग का निश्चय ही त्याग कर देना चाहिये।

विभाग ५—बुस्त और गिरिष्क का हस्तगत करना

बस्त और क़न्धार के अन्य आश्रित स्थानों को अधीनस्थ करने के लिये

१—लतायेफ़, ह० ग्र० ८६ अ, ८६ ब, ८७ अ, ८९ ब, ९० अ। शनिवार ९ फरवरी, १९२९ के स्टेट्समैन में एक 'भूतों के अपति' की लगभग सदृश कहानी निकली थी।

रुस्तमखाँ बहादुर फ़ीरोज़ जंग १३ मई, १६५३ को १५ हज़ार सैनिकों की सुसज्जित सेना लेकर शिविर से निकला। २१ मई को वह बस्त पहुँच गया, कुछ प्रदर्शन किया, और मेहदी क़ुलीखाँ के पास एक सन्देश-वाहक भेजकर उसको परामर्श दिया कि वह आत्मसमर्पण कर दे। जब ईरानियों ने रक्षा की तैयारियाँ कीं, रुस्तमखाँ ने क़न्धार से एक बड़ी तोप और कुछ खनक याचना कर मँगा लिये और गढ़ पर घेरा डाल दिया। जब बड़ी तोप आ गई, मेहदी क़ुलीखाँ ने शर्तें जानने की प्रार्थना की और अवरोध घेरे के दसवें दिन उसने गढ़ को समर्पित कर दिया (वारिस ७६-अ)। परन्तु अनधिकृत इतिहास लतायेफुलअख़्बार में बस्त के पतन की एक भिन्न कथा पाई जाती है। उसमें कहा गया है कि अवरोध के सातवें दिन रुस्तमखाँ ने क़न्धार के पतन की एक झूठी कहानी का प्रसार कर दिया और अपने शिविर में आमोद-प्रमोद की आज्ञा दे दी। इस चाल से मेहदीक़ुली को धोखा हुआ, और नवागत बड़ी तोप से बिना एक गोला चलाये दुर्ग पर अधिकार हो गया। तब भी इस तोप का नाम 'अमन-तलब' (शान्ति की इच्छुक) रख दिया गया (लतायेफ़, ३५ ब०)।

रुस्तमखाँ ने मेहदीक़ुली को इस बात पर प्रस्तुत कर लिया कि अपने पुत्र को पत्र लिखे कि वह आजाये और उसके साथ हिन्दुस्थान को चला चले। इस पुत्र के संरक्षण में गिरिष्क का गढ़ था जो ३० मील आगे बढ़कर हेलमण्ड के तट पर था। मेहदीक़ुली के पुत्र ने दुर्ग को ख़ाली कर दिया, परन्तु वह फ़राह को भाग गया। २९ शाबान (१५ जुलाई, १६५३) को रुस्तमखाँ ने सैनिकों की एक टोली भेजी कि ज़मीनदावर के समीप में मिर्ज़ा मुहम्मद रौशन ग़ुर्जी को दण्ड दे। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में उसने स्वयं हेलमण्ड पार एक धावा किया कि नौसाद (?) गाँव के पास ईरानियों के एक जमाव को बिखेर दे। रुस्तमखाँ को इसके आगे यह आज्ञा मिली कि और आगे बढ़कर उत्तर-पश्चिम की ओर ज़मीनदावर के ज़िले पर आक्रमण करें क्योंकि फ़राह से क़न्धार को यहाँ होकर सड़क जाती थी।

हज़ारों ने मुग़लों को अपना सहयोग दिया और ईरानियों से कुछ थाने छीन लिये। दौलत बेग हज़ारा ने किरिवाज़ (?) पर अधिकार कर लिया और मिहिर क़ुली सुल्तान हज़ारा ने क़िज़िलबाशों और ग़ुर्जियों के एक दल को भगा दिया। इन लोगों के अधिकार में चरशिना का गढ़ था और ग़ुर्जी लोग फ़ीरोजकोह पर्वतमाला के उत्तर में ग़ुर्जिस्तान के निवासी थे। परन्तु ये सरलतायें प्रभाव हीन हो गईं जब यह आवश्यक हो गया कि क़न्धार पर धावे में भाग लेने के लिये रुस्तमखाँ के दल को वापस बुला लिया जाये। मुख्य शिविर से कोई भी सैनिक

बस्त को गढ़रक्षा कार्य पर जाने को तैयार न हुए। जब मुग़ल ग्रहदियों को आज्ञा मिली कि वे बस्त के लिये प्रस्थान करें, उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया और धमकी दी कि वे सेवा से त्याग-पत्र दे देंगे। विद्रोही सैनिकों ने यह तर्क किया कि सआदतख़ाँ जिसके आधीन बस्त में सेवा करने की उनको आज्ञा हुई थी, ईरानी था, हिन्दुस्तान से उसको कुछ लेना-देना न था, वहाँ उसके कोई नातेदार भी न थे, उसका एकमात्र पुत्र उस समय उसके साथ शिविर में था। उन्होंने कहा—"भाग्य के किसी परिवर्तन की दशा में सआदत ख़ाँ प्रसन्नता से ईरानियों से जाकर मिल जायेगा, परन्तु हिन्दुस्थान में हमारे परिवार नष्ट हो जायेंगे। ईश्वर ही जानता है कि हम वहाँ से भाग सकेंगे या नहीं" (लतायेफ़, १४६ ब)।

राजकुमार के आदेशानुसार रुस्तमख़ाँ बहादुर, बस्त के दुर्ग को पूर्णतया नष्ट करके २७ सितम्बर को क़न्धार के मुख्य शिविर में पुनः सम्मिलित हो गया।

विभाग ६—चेहल ज़ीना पहाड़ी पर हमला

क़न्धार की रक्षा-पंक्ति की कुंजी एक सख़्त चट्टान की पहाड़ी थी। यह गढ़ से क़रीब पौन मील की दूरी पर पहाड़ी शृङ्खला के उत्तरी पक्ष पर थी। चट्टान में खुदे हुए ४० ज़ीनों के ऊपर इसमें बाहर की ओर दो ऊँचे बुर्ज़ थे जो क़न्धार के गढ़ और उसकी मण्डी (सुरक्षित बाज़ार) के ऊपर थे। इस पहाड़ी पर अधिकार कर लेने पर क़न्धार अरक्ष्य हो जाता है। शाह अब्बास द्वितीय ने १६४६ में यह पता लगा लिया था और औरंगज़ेब की भी यह योजना थी कि इस पर अधिकार करके क़न्धार की रक्षा-पंक्ति को नष्ट कर दिया जाये। परन्तु धीरे-धीरे सुरंगें लगा कर और गोलाबारी द्वारा इस पर अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता था। अतिमानुषी साहस द्वारा बहुमूल्य चुकाने पर ही इस पर अधिकार प्राप्त हो सकता था। दारा युद्ध-विद्या में निपुण न था। उसने विचार किया कि निरन्तर अग्नि वर्षा से वह बुर्ज़ के रक्षकों को भगा देगा। उसके विचार में किसी आक्रमणकारी दल की आवश्यकता न थी जो शत्रु की अपव्यवस्था से लाभ उठा सके। ७ और ८ मई की रात्रियों को निरन्तर कई हज़ार गोले फेंके गये। इससे ईरानी बहुत प्रसन्न हुये क्योंकि उन्होंने इतने ज़ोर की आतिशबाज़ी पहले कभी न देखी थी। आतिशबाज़ों और आज्ञापक अधिकारियों से बहुत प्रसन्न होकर दारा ने प्रत्येक व्यक्ति को २०) रु० पुरस्कार में दिये और मुहम्मद सादिक़ और मीर शिहाबुद्दी को १०० ज़ात की वृद्धि दी।

१० मई को अस्थिर रूप से एक नये स्थान पर जाफ़र को भेजा गया कि वह चेहल जीना के पूर्वीय बुर्ज़ के सामने एक भारी तोपों की पंक्ति खड़ी करें। गोलाबारी का कोई प्रभाव न हुआ और ईरानियों ने उसकी कुछ तोपों को शान्त कर दिया। अन्त में इस तोपख़ाने का अधिकार उचित व्यक्ति काँगड़ा की पहाड़ियों के राजा राजरूप को दिया गया जिसने द्वितीय अवरोध (घेरे) में इस पहाड़ी पर आक्रमण करके विशेष ख्याति प्राप्त की थी। दारा ने राजरूप को ५०० ज़ात और ५०० सवार की पद-वृद्धि दी और मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की (६ जून)। परन्तु कुछ देर बाद राजरूप के पड़ोसी और उसके पुश्तेनी शत्रु राजा मान ग्वालियरी ने राजकुमार के कान भर दिये। उसको राजरूप के पद के प्रति ईर्ष्या थी। प्रथम अवरोध में भी वह राजरूप के पिता का प्रतिस्पर्धी रहा था। इस समय तक सुरंग लगाने में राजरूप के ४० आदमी मारे जा चुके थे और १६० घायल हो गये थे। अतः उसने निश्चय कर लिया कि किसी भी मूल्य पर वह आक्रमण करने का साहस अवश्य करेगा। अपने वाम और दक्षिण पक्ष पर स्थित तोपख़ानों के आज्ञापकों को उसने आक्रमण के निश्चित समय की सूचना दे दी और उसकी स्वीकृति के लिये राजकुमार को भी विधिपूर्वक यह सूचना भेज दी। दारा के ज्योतिषियों को २० जून का "५ घड़ी पीछे" का यह समय अशुभ प्रतीत हुआ क्योंकि सूर्य उस समय कर्क रेखा में था जो बुर्ज़ की स्थिति के विचार से लाभदायक न था। राजरूप को स्पष्ट आज्ञा मिली कि समय को बदल कर '१८ घड़ी के बाद' कर दे। परन्तु ज्योतिषानुसार अनुकूल समय होने के पहले ही जाफ़र के एक छोटे भाई का देहान्त हो गया जो बहुत दिनों से बीमार था। यह अशुभ शकुन समझा गया और आक्रमण की आज्ञा बिल्कुल रद्द कर दी गई। अपने अग्र-दल को वापस बुलाने में बेचारे राजरूप के और भी ५ आदमी मारे गये और क़रीब २० घायल हो गये।

इसके तीन दिन बाद दारा ने राजरूप को (उसकी अनुपस्थिति में) कायर लोमड़ी के नाम से पुकार कर कहा—"उसको जाफ़र की खाई में भेज दो। वह उसको बतायेगा कि सेवा कैसे करते हैं और किस प्रकार उसको अपना तोप-ख़ाना राजा मान ग्वालियरी के सुपुर्द करना है।" क़ाज़ी अफ़ज़ल ने दृढ़ता से राजरूप का पक्ष लिया और तिरस्कार से उसको बचा लिया। १५ जुलाई को वल्लभ चौहान को आज्ञा मिली कि राजरूप से चेहल ज़ीना पर आक्रमण का भार ले ले, परन्तु उसने यह कह कर क्षमा याचना की—"मैं मैदान का निवासी हूँ।" इस पर राजकुमार क्रुद्ध हो गया और उसने आज्ञा दी कि चौहान को अविलम्ब जाफ़र की खाई में भेज दिया जाये। परन्तु शीघ्र ही उसको पश्चात्ताप

हुआ और जब वह जाफ़र के यहाँ जा रहा था, उसने उसको वापस बुला लिया। वल्लभ को आज्ञा हुई कि वह देवीसिंह बुन्देला के स्थान पर जाये जो चेहलज़ीना के आक्रमण पर नियुक्त था (लतायेफ़, ७२ ब)। परन्तु इस समय से इस स्थान की उपेक्षा की गई क्योंकि अब समस्त साधन परिखा को पाटने में और अवरोध की मुख्य पंक्ति में खाइयों को आगे बढ़ाने में जुटा दिये गये।

१४ सितम्बर (२ ज़िल्काद) को चेहल ज़ीना के तोपखाने की दीवारें[1] गिरा दी गईं। देवीसिंह ने सामग्री राजरूप को सुपुर्द करदी। राजरूप को अब आज्ञा हुई कि ख़्वाजा वायसकराँ के फाटक के समीप, गढ़ के एक आगे निकले हुए भाग (मरगज) शेर हाजी को मार्ग बनाने में, वह जाफ़र को सहयोग दे। जाफ़र के सहयोग की स्थिति में राजरूप का काम बहुत अच्छा रहा। दारा ने उसको ५ हज़ार रुपये पुरस्कार में दिये कि उसको उस समय के संकट में सहायता मिल जाये। उसने ५ हज़ार अधिक का वादा किया जब उसकी खाई शेर हाजी के नीचे पहुँच जायेगी।

दारा की ओर से ऐसा ही व्यवहार उसके अधिकांश अधिकारियों को प्राप्त होता था। यह केवल मनुष्य प्रकृति की माँग थी कि गृह-युद्ध में औरंगज़ेब के विरुद्ध दारा का पक्ष लेने में राजरूप ने आना-कानी की और दारा का शत्रु भी बन गया।

विभाग ७—ख़न्दक बनाना

क़न्धार के पूर्वीय पक्ष पर मुख्य द्वारों के सम्मुख स्थापित सैनिक टुकड़ियों की भयानक पंक्ति सुरक्षित खाइयाँ खोदकर धीरे-धीरे परिखा के समीप पहुँच गई। जाफ़र का तोपखाना समस्त अवरोध कार्यों का केन्द्र बन गया। इसके

१—चेहलज़ीना। वारिस राजरूप की वीरता की प्रसंशा करता है—"राजरूप ने...... चेहलज़ीना के नीचे तक खाई को पहुँचा दिया और यद्यपि एक तोप उसको भेजी गई। गोलाबारी का कोई प्रभाव न पड़ा......एक बुर्ज पर आक्रमण भी किया गया, परन्तु दुर्गस्थ सेना ने नफता का उपयोग किया और बहुत से सैनिक घायल हो गये। राजकुमार ने राजरूप को आज्ञा दी कि वह यह कार्य छोड़ दे......इसके बाद जाफ़र और क़िलीचख़ाँ के तोपखाने के बीच में उस को एक तोपख़ाने का अधिकार दिया गया" (७६ अ)। ऊपर वर्णन की हुई बड़ी तोप अमन तलव मालूम होती है। यह बस्त के आत्मसमर्पण के बाद १४ जून को वापस दे दी गई थी (लतायेफ़, ४३ अ०)। ऊपर कहा हुआ आक्रमण चेहलज़ीना का आक्रमण न था, परन्तु लाकह पहाड़ी के एक दुर्ग का आक्रमण था। यह १४ जुलाई को राजरूप ने किया था जब उसके साथ तीन और अधिकारी थे—चम्पतराय बुन्देला, देवीसिंह और सैयद महमूद। शाही सेना एक अचानक हमला करना चाहती थी, परन्तु उन पर स्वयं निर्दयता से अचानक हमला हुआ और राजा राजरूप को, जिसके सिपाही सब से आगे थे, बहुत ही हानि हुई। उसके दल के श्रेष्ठ सैनिक मार डाले गये (वही, ७०.ब०)।

कारण उन अधिकारियों में जो अन्य तोपखानों के अधिकार थे, ईर्ष्या और जलन उत्पन्न हो गईं। उनको शिकायत हुई कि राजकुमार जाफ़र का पक्ष लेता है। जाफ़र की गर्व मुद्रा और आत्मश्लाघा पर उनको क्रोध होता। ६ अगस्त को दो बड़ी तोपें—तोपमरियम और क़िला-कुश शिविर में पहुँच गईं और ६ दिन बाद फ़तेहमुबारक (फ़तेह लश्कर ?) भी आ गईं। परन्तु ये तोपें निरर्थक से भी बुरी सिद्ध हुईं क्योंकि इनके समानुपाती आकार और शक्ति के लोहे के गोले लाहौर से नहीं लाये गये थे। राजकुमार ने अपने एक कृपा-पात्र के इस सुझाव को स्वीकृत कर लिया था कि यह अधिक लाभकारी और सुविधाजनक होगा कि सेना के साथ संगतराश ले लिये जायें और क़न्धार की अक्षय खानों से सख़्त पत्थर के गोले तैयार कर लिये जायें। परन्तु संगतराशों के दुष्ट दरोग़ा ने मुलायम पत्थर के गोले बनवाये। इसका परिणाम यह हुआ कि जब वे क़िला-कुश से चलाये गये, वे हवा में फट गये और उन्होंने स्वयं तोपचियों को घायल कर दिया। अब इन पत्थर के गोलों पर सन लपेटा गया कि वे कुछ हद तक फटने न पायें। कुछ फ़िरंगी तोपची इधर से छोड़कर ईरानियों से जा मिले और दूसरे मुश्किल से हिन्दुस्तानियों से अधिक निपुण सिद्ध हुए। कहा जाता है कि गोलों की २७ हज़ार से भी अधिक मारें हुईं, परकोटा में कोई वास्तविक तोड़ फ़ोड़ न हो सकी और न वे ईरानी तोपों को बन्द कर सके।

अवरोधकों ने बहुत परिश्रम किया कि बाँधों को तोड़कर परिखा को सुखा दें। १३ जुलाई को एक सोता ख़ाली भी कर दिया गया; परन्तु तीन दिन पीछे क़ासिमख़ाँ और अब्दुल्ला ने ये समाचार भेजे कि उनके स्थान का पानी जो पहले घुटने भर रह गया था अब गर्दन तक आ गया है। जब वे अन्त में परिखा को ख़ाली करने में सफल भी हो गये, इसको सूखा रखना कठिन हो गया, क्योंकि शेर हाजी के किनारों के समीप गुप्त धाराओं से पानी आने लगा। वरन लकड़ी के लट्ठों और मिट्टी के बोरों को उसमें गिराकर जाफ़र के तोपखाने के सामने परिखा पाट दी गई। अब यह किसी न किसी प्रकार आक्रमणकारी दल के लिये बाधक न रह गई थी। परन्तु ईरानियों की अग्नि वर्षा, विशेष कर उनकी बन्दूकें इतनी विनाशक और अचूक थीं कि हिन्दुस्तानियों को साहस न हुआ कि अपने ऊँचे दमदमों और बालू के थैलों के प्राकारों से बाहर निकल सकें।

जाफ़र ने एक विशाल चबूतरे का निर्माण किया। यह ७५ गज़ लम्बा, ५५ गज़ चौड़ा और २७ गज़ ऊँचा था और उसने इसके ऊपर १० छोटी तोपें चढ़ादीं। उसने एक बड़ा दमदमा (ढका हुआ चबूतरा) बनवाया, जिसमें सुरंग लगाने का कार्य करने के लिये २० आदमी आराम से सीधे खड़े हो सकते थे।

अधिकृत वृत्तान्त के अनुसार राजकुमार की तोपों ने शेरहाजी के परकोटा और प्राकार को क़रीब ३०० गज़ गिरा दिया। जाफ़र और इज्ज़तखाँ ने (जिसके अधिकार में शेरहाजी के सम्मुख एक तोपख़ाना था) विश्वासपूर्वक कहा कि उनके सम्मुख परकोटा में काम चलाऊ छेद कर दिया गया है। अपने कृपा-पात्रों पर शेष जगत् की अपेक्षा राजकुमार को अधिक विश्वास था। बिना व्यक्तिगत अनुसंधान के या तथाकथित छिद्रों के स्वयं निरीक्षण के, राजकुमार ने उनके कथन को स्वीकृत कर लिया। इस विषय पर राजकुमार का प्रतिवाद करना किसी भी अधिकारी के लिये विपत्तिजनक था, क्योंकि इसका कारण यह समझा जाता कि वक्ता कायर है वा उसमें स्वामी के प्रति आसक्ति नहीं है।

विभाग ८—धावे की तैयारियाँ

दो दिन पीछे सामूहिक धावे के विचार से २१ अगस्त को दारा ने विभिन्न तोपख़ानों के अधिकारियों में कवच और वक्षत्राण वितीर्ण कर दिये और उनको भिन्न-भिन्न स्थानों पर नियुक्त कर दिया। लतायेफ़ुल अख़बार का लेखक कहता है कि डुग्गी पीटकर यह घोषणा कर दी गई कि धावे के दिन वे लोग जो सिपाही नहीं हैं और जिनमें आक्रमण में भाग लेने का आवश्यक साहस नहीं है, प्रार्थना (ब सम्रादत-ए-बन्दगी) के लिये तैयार रहें; प्रत्येक क़िजिलबाश के सिर पर ५) रु० का पुरस्कार रखा गया और प्रत्येक जीवित ईरानी बन्दी को लाने पर एक अशर्फी[1]। अपने उच्च-पदस्थ सामन्तों से बिना परामर्श किये ही अपनी कार्य प्रणाली निश्चित् कर, राजकुमार ने अगले दिन अपने सामन्तों को बुलाया कि उनकी सम्मति जान लेवे। परन्तु इससे वे और भी रुष्ट हो गये और अपने को अधिक अपमानित समझने लगे। क़िलीचखाँ को छोड़कर सब उपस्थित हुए। उसने कहला भेजा कि वह तीसरे पहर आयेगा क्योंकि उसने जुल्लाब ले रखा है। महाबतखाँ को[2] सम्बोधन कर दारा ने कहा—"इज्ज़तखाँ और जाफ़र के तोपख़ाने के सम्मुख परकोटा भंग कर दिया गया है। अचानक धावे के प्रति आपकी क्या राय है ?" महाबत ने उत्तर दिया—"हम नौकर हैं। हमारा कार्य केवल यह है कि आपकी आज्ञाओं का पालन करें। राजा को तो राजा ही

१—लतायेफ़, १२१ ब, १२२ अ०

२—महाबतखाँ—मिर्ज़ा लोहरास्प, कुख्यात महाबतखाँ का पुत्र जिसने जहाँगीर को बन्दी बना लिया था (म० उ० III, ५००, ५०५)। मनुची कहता है—"ऐसा हुआ कि महाबतखाँ के सिपाहियों ने दारा के एक आदमी को मार डाला। आवेश में आकर और विषय का बिना अनुसंधान किये उसने आज्ञा दी कि उसके सैनिक एकत्र किये जायें और महाबतखाँ को उसके सम्मुख खींच लायें।......शाहजहाँ ने आज्ञा दी कि दारा को कठोर वाग्दण्ड दिया जाये... ..

परामर्श दे सकते हैं।" दारा ने चाटुकारी करने का प्रयास किया; परन्तु अन्त में उसने भर्त्सना के कटु शब्द कहे।

राजकुमार ने कहा—"आप साफ़ क्यों नहीं कहते हैं कि आक्रमण उचित हैं और दूसरों के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर लड़ते हुए आप तुरन्त गढ़ पर अधिकार कर लेंगे। आपके पिता ने दौलताबाद के प्रसिद्ध दुर्ग को विजय किया था। आपका ऐसा विचार मालूम होता है कि बिना क़न्धार लिये ही आप घर वापस चले जायें। ऐसे अनुपयुक्त और कुसंगत विचार को आप मन से निकाल दें—यह अधिक अच्छा होगा।" इसके बाद एक पञ्च हज़ारी नजावतख़ाँ[१] को उसने आज्ञा दी कि आक्रमण की व्यवहार्यता पर वह अपनी सम्मति प्रकट करे। नजाबतख़ाँ ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि अधिक अच्छा हो यदि तीन या चार दिनों तक और आगे तोपें परकोटे को ढा देने में लगी रहें। दारा ने यह कहकर उसको चुप कर दिया—"आपका अभिप्राय यह मालूम होता है कि परकोटा कहीं से टूटा नहीं है..........कहीं से परकोटा टूटा हो या न, आक्रमण तो करना ही है।" तब उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह कछवाहा को सम्बोधन किया और अकस्मात् कहा—"राजाजी, (अवरोध के) आरम्भ ही से सम्राट के कार्य

इस घटना के बाद महावतख़ाँ को दारा से विद्वेष हो गया (कहावतें–I, २२५)। ऊपर की घटना का एकमात्र प्रमाण मनुची है। क़न्धार के अभियान के पूर्व वा पश्चात् यह घटित हुई–यह ज्ञात नहीं है। दारा चुग़ुलख़ोरों की बात मान लेता था; अवरोध के आरम्भ ही से उसका महाबतख़ाँ से मत-भेद था। दारा के निजी सेवकों की दुष्टता और प्रगल्भता इस कष्ट का कारण थे। जब लतायेफ़ुल अख़्बार का लेखक दारा के सचिव फ़क़ीरख़ाँ के पास खाईयों को आगे बढ़ाने की दुस्साध्यता प्रकट करने गया, उसने ख़ाँ को कुछ अपमान-जनक शब्द कहे (मई ११, १६५३) (लतायेफ़, २४ अ०)। यह महावतख़ाँ वही व्यक्ति था जिसने एक सभा में औरंगज़ेब के सम्मुख कहने का कठोर साहस किया था कि शिवा से लड़ने के लिये किसी सैनिक की आवश्यकता न थी "क़ाज़ी (अब्दुल वहाब) उसको परास्त कर देगा।" (म० उ० III, ५६४)

१—नजाबतख़ाँ, मिर्ज़ा शुजा (म० उ० III, ८२१-८२८) क़न्धार अभियान के पहले जब नजावत सहारनपुर का फ़ौजदार था, उसको स्वर्ण खानों की वार्ता सुनकर यह लोभ हुआ कि नक-कटी राणी के प्रदेश पर वह धावा करे। कमायूँ की पहाड़ियों में स्थित श्रीनगर में उसकी राजधानी थी। अपनी नाक लेकर वह अवश्य भाग निकला, परन्तु सम्मान और स्वर्ण वहाँ ही रह गये (वही, ८२२)। आरम्भ से ही नजावत की वृत्ति आपत्तिजनक थी। आबदुज़्द द्वार के सम्मुख स्थान ग्रहण करने से उसने इन्कार कर दिया था। जब उसको आज्ञा मिली कि रुस्तमख़ाँ के साथ वस्त को जाये, उसने पहले तो इन्कार कर दिया, परन्तु अपने सहकारियों की प्रेरणा पर वह बाद को तैयार हो गया (लतायेफ़, १६ अ, २४ अ, २५ अ०)। परन्तु कुछ समय के लिये राजकुमार की कृपा उसने पुनः प्राप्त करली थी और क़न्धार को पुनः बुला लिया गया था।

में आपका प्रयास आशा से कम रहा है।[1] अब कोई प्रार्थना न सुनी जायगी। यदि आपकी यह आपत्ति है कि आपके तोपखाने के सम्मुख प्राकार कहीं से भंग नहीं हुआ है, तो मैं आपको जाफ़र का तोपखाना देता हूँ।" इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर राजा ने कहा—"जब तक जाफ़र और इज्ज़तख़ाँ टूटे भागों में से (जो उन्होंने तोड़े हैं) गढ़ में प्रवेश करेंगे, परकोटा पर चढ़ने की सीढ़ियाँ लगा कर मैं भी वही कर दिखाऊँगा।" दारा ने पूछा—"यदि यही बात है, तो किस दिन आक्रमण करने के लिये आप सहमत हैं?" राजा ने उत्तर दिया—"सहमतियों से और आश्वासनों से मेरा कोई वास्ता नहीं है। मुझे केवल आपकी आज्ञा का पालन करना है।" क्रोध से राजकुमार चिल्ला उठा—"ये कैसे शब्द हैं? आपको साफ़ कहना है कि आक्रमण उचित है या नहीं है। यदि आपका अभिप्राय है कि इस बात से आप अपने को दूर रखें, तो आप मुझे यह लिख कर दे दें कि या तो मैं हिन्दुस्तान को वापसी की आज्ञा दे दूँ, या रुस्तमख़ाँ बहादुर को वापस बुला लूँ और उसकी सलाह से हमला करूँ।" राजा ने उत्तर

१—इसका प्रसंग है राजा की यह प्रार्थना कि वह अपनी खाई को और अधिक शीघ्रता से आगे बढ़ाने में असमर्थ है। राजकुमार के आदमी को राजा ने यह कह कर भगा दिया—"अवरोध कार्य में और खाई खोदने में हम राजपूत लोग बहुत चतुर नहीं हैं अधिक अच्छा तो यह होगा कि राजकुमार यह तोपखाना किसी और को दे दें—जिसको वे देना चाहें (मई २८, १६५३; लतायेफ़, ३५ अ०)। १५ रमज़ान (३० जुलाई) को दारा ने जयसिंह को बुलाया। राजकुमार ने उससे बहुत आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि वह आक्रमण करे। उसने अनेक आकर्षक प्रतिज्ञायें भी कीं। राजा का भाव बहुत रूखा रहा और बहुत देर तक उत्तर में वह एक शब्द भी न बोला। अन्त में राजकुमार को अनुत्साहजनक टालटूल का उत्तर देकर वह वापस चला गया (लतायेफ़ ६४ ब; ६५ अ०)। देखो लखनऊ के भारतीय ऐतिहासिक पत्र-लेख आयोग के नवें अधिवेशन में मेरा पत्र।

जयसिंह के जीवन सम्बन्धी पाण्डु-लेख के लिये देखो—म० उ० III, ५६८-७६। यह अपर्याप्त और असन्तोषजनक है। जयपुर के पत्र-रक्षागारों में कुछ पत्र अभी प्रकाश में आये हैं जिनसे प्रकट होता है कि जयसिंह से दारा की बहुत घनिष्ठता थी। कन्धार के अभियान में दोनों में जो परस्पर अनुत्साह वृत्ति रही, उसका स्पष्टीकरण केवल इस प्रकार हो सकता है कि जाफ़र और अन्यों के प्रति दारा के पक्षपात से राजा अप्रसन्न हो गया था और दारा की शिशु-तुल्य मूर्खताओं और उसके अनियन्त्रित भाषणों से उसको घृणा हो गई थी। मनुची कहता है कि दारा ने एक बार जयसिंह का अपमान कर दिया जब उसने उपहास में यह टिप्पणी की कि राजा की आकृति गायक की भाँति थी (कहावतें I, २२५)। कन्धार में भी दारा ने ऐसा ही ताना राजा को मारा—"यह तीसरा अवसर है जब आप कन्धार को आये हैं। यदि इस बार भी आप असफल रहे ....तो किस प्रकार हिन्दुस्तान की महिलाओं को अपना मुँह दिखायेंगे? वास्तव में स्त्रियाँ उन पुरुषों से अच्छी हैं जो बार-बार इस स्थान से वापस गये हैं। (लतायेफ़, २० अ; ८४ ब, भी देखो)।

दिया—"यह लिख कर देने को मैं तैयार हूँ कि मैं सदैव आक्रमण के पक्ष में हूँ और मैं सदैव आक्रमण करने के लिये प्रस्तुत हूँ।" दारा ने प्रत्युत्तर दिया—"आपका हृदय और आपकी जिह्वा सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। जो आपके हृदय में है, वह आपकी जिह्वा नहीं बोलती है और जो आपकी जिह्वा बोलती है, उसकी प्रतिध्वनि आपके हृदय में नहीं है। यदि वे एकरस हैं, तो आप सीधे क्यों नहीं कहते हैं कि आप आक्रमण को उचित समझते हैं और आप सुघठित प्रयास द्वारा गढ़ पर अधिकार कर लेंगे।" उसने यह और भी कहा—"शायद आप यह सोचते हों कि बिना क़न्धार जीते मैं वापस हो जाऊँगा। यदि मैं यह करूँ, तो अपना मुँह पादशाह को (सम्राट को) कैसे दिखाऊँगा।" राजा ने प्रत्युत्तर दिया—"हुज़ूर तो सम्राट् की आँखों की पुतलियाँ हैं। जब भी सम्राट् की दृष्टि हुज़ूर के जग-ज्योति-कारक मुखारविन्द पर पड़ेगी, उसका स्वागत ही होगा। परन्तु हम तुच्छ सेवक गण अपने मुख कैसे दिखायेंगे ?" राजकुमार ने ताना मारा—"दो बार तो यही मुँह आप सम्राट् को दिखा चुके हैं। प्रश्न तो मेरा है जिसके लिये यह पहला अवसर होगा।" और भी अधिक कटु शब्दों का उपयोग हुआ। इन बराबरी के निर्भीक प्रति-वचनों पर राजकुमार बहुत चिढ़ गया और इस दुखद वाग्युद्ध को ये शब्द कहकर उसने अकस्मात् समाप्त कर दिया—"आक्रमण के इस प्रस्ताव से चाहे आप सहमत हों या नहीं, मैं आपको निश्चय रूप से आज्ञा देता हूँ कि आप आक्रमण करें। मुझे चिन्ता नहीं चाहे आप मरें या गढ़ जीत लें............।" तब उसने गम्भीरता से फ़ातिहा पढ़े और ऊपर वर्णन किये हुए सामन्तों को जाने की आज्ञा दे दी।

साम्राज्य के तीन सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न सामन्तों के भावों को ही दारा ने केवल कलुषित न कर दिया, परन्तु इज्ज़तख़ाँ की उपस्थिति में जाफ़र की अनवसर प्रशंसा से उसने अपने दो विश्वासपात्रों में अनजाने ही पारस्परिक ईर्ष्या के बीज बो दिये। जाफ़र की आशावादिता और उसकी चाटुकारिता के साथ शेखी मारने की मुक्त प्रशंसा में राजकुमार ने कहा—"तेरे सरीखे यदि दो और पुरुष होते, तो इस समय तक इस गढ़ का प्रश्न निश्चित हो गया होता।" जाफर, इज्ज़तख़ाँ और राजा राजरूप ही तीन व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी सम्मति आक्रमण के पक्ष में दी। क़िलीचख़ाँ तीसरे पहर आया, परन्तु उससे आसन ग्रहण करने की प्रार्थना करने के पहले ही राजकुमार ने कहा कि आक्रमण करने का निश्चय हो गया है और फ़ातिहा के बाद ख़ान जा सकता है।

२३ अगस्त को (मंगलवार, ६ शवाल) सारी रात सैनिक सशस्त्र रखे गये और उनके विशेष स्थानों में राजकुमार ने उनका निरीक्षण किया। जब रात्रि की लगभग तीन घड़ियाँ रह गईं, राजकुमार के संकेत पर आक्रमणकारी टोलियाँ

अपने उद्दिष्ट स्थानों पर झपट पड़ीं। ज़ेरेक्सीज़ की भाँति, जो अपने स्वर्ण-सिंहासन से सलामीस के रण का अवलोकन कर रहा था, दारा प्रसिद्ध पहाड़ी चेहल दुख्तराँ (४० पुत्रियों की पहाड़ी)[1] के शिखर पर एक सुरक्षित भवन से अपने सैनिकों के भाग्य का निरीक्षण कर रहा था। आगे क्या हुआ इसका बहुत सुन्दर चित्रमय वर्णन लतायेफ़ुल अख़बार के लेखक ने दिया है। वह महाबतख़ाँ की आज्ञा से उसके तोपख़ाने के समीप एक ऊँचे स्थान पर खड़ा हुआ था और रण की उत्तरोत्तर गति का वृत्तान्त ख़ाँ को भेज रहा था। ख़ाँ स्वयं एक दमदमे में (उठे हुए तोपख़ाने में) सुरक्षित बैठा हुआ था।

विभाग ६—आक्रमण का अनुष्ठान

इज्ज़तख़ाँ के तोपखाने से हम अपना वर्णन आरम्भ करते हैं। दो युद्ध-हस्तियों और एक हज़ार कवच-धारी अश्वारोहियों को अपने साथ लेकर जहाँगीर बेग ने भग्न स्थान पर धावा किया। ऐसा मालूम होता था कि ईरानियों ने इस स्थान को त्याग दिया है। बहुत धैर्य से ईरानियों ने अपने तोपख़ाने को उस समय तक शान्त रखा जब तक कि मुग़ल उनके तीरों और गोलियों की मार के भीतर न पहुँच गये। तोपख़ाने और बन्दूक़चियों की अति भयानक अग्नि वर्षा से, जो ठीक उन पर आकर गिरी, मुग़लों के हाथी और सवार भाग निकले। शिविर के ईर्ष्याजनित जनवाद अनुसार, जब आक्रमण का संकेत हुआ, इज्ज़तख़ाँ ग़ुलाबजल से स्नान कर रहा था (जामा रा वा करदह ग़ुलाब बर ख़ुद मेबाशिद)। एक टोली को लेकर उसने जहाँगीर बेग के अग्रदल का अनुसरण किया, परन्तु वह अपनी खाई को वापस आ गया। उसने कोई प्रयास न किया कि अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करे और आक्रमण को पुनः आरम्भ करे।[2] इस समय महाबतख़ाँ अपनी खाई में बैठा हुआ लतायेफ़ुल्–अख़बार के लेखक से वृत्तान्त सुन रहा था। दुर्घटना से एक गोला उसकी खाई के समीप फट गया और एक सैनिक की मृत्यु हो गई जो ठीक उसके सामने बैठा हुआ था; परन्तु ख़ाँ को कोई चोट न आई। जब इज्ज़तख़ाँ ने शत्रु को पीठ दिखा दी, वह पीछे की ओर अपने स्थान को वापस चला गया।

१—१० रमज़ान, २५ जुलाई को राजकुमार ने अपने बय्युतात (गार्हस्थ सामग्री और कारखानों का अध्यक्ष) चन्द्रभान को आज्ञा दी कि वह एक ऐसा स्थान चुन लें जिससे वह आक्रमण के दिन अपने सैनिकों के वीरकर्मों को देख सके। चेहल दुख्तराँ के नाम से प्रसिद्ध भवन को, जो एक पहाड़ी की ढाल पर था, चन्द्रभान ने पसन्द किया और राजकुमार ने इसका निरीक्षण किया (लतायेफ़, ८९ अ)।

२—यह उक्ति सत्य हो सकती है। वारिस का वर्णन केवल यह है—"इज़्ज़त ख़ाँ की ओर से जो लोग आगे बढ़े ······ वे तीन ओर से अग्नि में फँस गये।" वारिस, ७८ ब।

जाफ़र के तोपख़ाने की दाहिनी ओर से क़िलीचखाँ, और बाईं ओर से मिर्ज़ा अब्दुल्ला और कासिमख़ाँ बहुत साहस और धैर्य से भग्न स्थान की ओर बढ़े। परन्तु जाफ़र शिविर की अनुदार किंवदन्ती के अनुसार इस समय निश्चिन्त होकर रोटी और प्याज़ खा रहा था और तरबूज़ का स्वाद ले रहा था। (नान ओ प्याज़ ओ हिन्दुआना मे ख़ुर्द)।[1] तो भी इस स्थान पर जमकर लड़ाई हुई। भीषण अग्नि वर्षा[2] और दृढ़ प्रतिरोध के सम्मुख मुग़लों ने घोर संघर्ष किया; परन्तु अनेक घायलों के अतिरिक्त ५५७ मृतकों की हानि को सहन कर उनको वापस होना पड़ा। कहा जाता है कि नजाबतख़ाँ और राजा मुकुन्दसिंह हाड़ा, जो जाफ़र के तोपख़ाने को भेजे गये थे, आक्रमण के समय अकर्मण्य रहे। नजाबतख़ाँ को दारा से कुछ शिकायतें थीं, परन्तु हम नहीं जानते हैं कि प्रसिद्ध हाड़ा सरदार जिसने बाद को सामूगढ़ के रण में दारा के हितार्थ अपने प्राणों का बलिदान कर दिया, इस अवसर पर इतना शिथिल कैसे रहा। कहा जाता है कि नजाबतख़ाँ ने हाड़ा सरदार को पूछा कि वह अपने सिपाहियों को हमला पर क्यों नहीं भेज रहा है, और उसने उत्तर दिया—"ये लोग, जो मेरे साथ हैं, साधारण किराये के टट्टू नहीं हैं, वे मेरे भाईबन्द और नातेदार हैं। मैं उनको वहाँ नहीं भेज सकता हूँ जहाँ मैं स्वयं नहीं जाना चाहता हूँ।" ख़ाँ ने प्रत्युत्तर दिया—"सम्राट् के कार्य में भाई-बेटे का कोई विचार न होना चाहिये।" उत्तेजित होकर जोशीला हाड़ा सरदार उठकर खड़ा हो गया और नजाबतख़ाँ के ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद क़ुली का हाथ पकड़ कर प्राकार की ओर चल पड़ा। जब ख़ाँ ने देखा कि राजा हँसी नहीं कर रहा है, वह अपने पुत्र के जीवन के भय से नंगे पाँव दौड़ पड़ा कि उनको वापस लाये। राजा जयसिंह ने, जो दारा पर बहुत क्रुद्ध था, उल्लेख योग्य कोई प्रयास नहीं किया। उसकी खाई से केवल दो व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियाँ लेकर बाहर निकले; परन्तु तुरन्त वे ईरानियों की गोलियों का शिकार हो गये और आक्रमण के इस क्षेत्र में कार्यवाही यहाँ पर समाप्त हो गई।

सैयद महमूद बारहा, लशकरख़ाँ, मुहम्मद आकिल और मीरकअताउल्ला (अहदियों का बख़्शी) के अधीनस्थ चार टोलियों ने पश्चिम की दिशा से प्रयत्न किया कि अचानक आक्रमण से क़ैतुल पहाड़ी और लकह दुर्ग पर अधिकार

१—लतायेफ़, १३४ अ० "अपने तोपख़ाने से जाफ़र ने अपने आदमियों को प्रेरित किया कि आगे बढ़ कर हमला करें।" वारिस, ७८ ब।

२—ईरानियों ने जलती हुई चादरों का उपयोग किया "जिन पर नफ़ता चढ़ा हुआ था।" —वारिस, ७८ ब०।

कर लें। शत्रु की उभयपक्षीय भीषण अग्नि-वर्षा के सम्मुख बे-सोचे समझे बढ़ने में अनेक सैयदों के साथ सैयद महमूद मृत्यु को प्राप्त हो गया। एक हज़ार बकसरिया (बकसर निवासी) बन्दूक़चियों के साथ लशकरख़ाँ चुपचाप लाकह दुर्ग के प्राकार के नीचे तक चढ़ गया। उसके साथ कुछ उल्लेखनीय सरदार भी थे—उदाहरणार्थ बदनसिंह भदवरिया और चम्पतराय बुन्देला। चढ़ने वाली सीढ़ियों की सहायता से वे ऊपर तक पहुँच जाने वाले ही थे कि दुर्भाग्यवश ईरानियों ने उनकी प्रगति का पता लगा लिया और पत्थरों से आक्रामकों को आकुल कर दिया और ३० व्यक्तियों को बिल्कुल मार ही डाला। मुहम्मद आक़िल ने द्वन्द्व युद्ध में ईरानियों की एक टोली को परास्त कर दिया, परन्तु एक आकस्मिक गोली से उसका सहायक अताउल्ला मारा गया जिस पर अहदी अति शीघ्र पीछे हट गये। आक़िल और देवीसिंह बुन्देला इस प्रकार असहाय रह गये। वे अपनी जगह पर डटे नहीं रह सकते थे और भारी हानि का सहन कर उनको पीछे हटना पड़ा।

चार घण्टों तक, अगले दिन के एक प्रहर तक कोलाहल बना रहा। करीब एक हज़ार आदमी मारे गये और उतने ही घायल हो गये। जैसे ही दारा अपने डेरे को वापस आया, दुर्ग के भीतर विजय-संगीत प्रारम्भ हो गया। ईरानी, नर्तकियों को उन स्थानों तक लाये जहाँ से मुग़लों के तोपख़ाने दिखाई पड़ते थे, अपने शत्रुओं के मनोरंजन के लिये वहाँ उनका नृत्य कराया और मन-भर समस्त दिन आनन्द मनाया। प्रसन्न वदन होकर हिन्दुस्तानियों को मुँह बना-बनाकर उन्होंने बहुत चिढ़ाया। अगले दिन ईरानी आज्ञापक ने मुग़ल सेना के मुसलमानों को अनुमति दे दी कि केवल मुसलमानों की लाशें उठा ले जायँ और उनको दफ़न कर दें। उसने हिन्दुओं के ५ सौ सिर एकत्र किये और उनके बिना सिर के धड़ों को मांसाहारी पक्षियों के लिये छोड़ दिया।[1]

१—अनुषंग के लिये—लतायेफ़, ११२ अ, १३३ ब; वारिस, ७७ ब। आक्रमण की तिथि (९ शवाल, १०६३), उसके उद्देश्यों और विवरणों के विषय में दोनों प्रामाणिक लेखक सहमत हैं। वारिस कहता है कि आक्रमण की रात्रि में प्रत्येक बड़ी तोप से १०० बार अग्निवर्षा की गई। इस विषय पर लतायेफ़ुल अख़्बार मौन है। फिर वारिस मृतकों और घायलों की संख्या १ हज़ार बताता है; परन्तु दूसरा लेखक कहता है कि पूर्वीय तोपख़ानों में ५५७ मृतकों के अतिरिक्त केवल पश्चिमीय मोर्चे पर वह संख्या मृतकों और घायलों की थी (मृतकों की ठीक संख्या का अनुसन्धान नहीं किया गया है)। वारिस बहुत ही विवेकशील है और वास्तव में आक्रमण के विशुद्ध विवरण देता है। वह बड़े सामन्तों के निन्दनीय चरित्र पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं करता है। वह कहता है कि अपने नेता की मृत्यु के बाद भी अहदी वीरता से लड़ते रहे, परन्तु और लोग अहदियों की पंक्तियों में संहार को देखकर पहाड़ी से नीचे भाग निकले।

विभाग १०—अवरोध का अन्तिम रूप

आक्रमण की असफलता पर परस्पर दोषारोपण किया गया। अन्य साम्राज्यवादियों ने जाफ़र और इज्ज़तख़ाँ पर कायरता का लांछन लगाया और उन्होंने महाबतख़ाँ और राजा जयसिंह पर कर्तव्योपेक्षा का दोष आरोपित किया। परन्तु परस्पर एकान्त में लोग कुछ ही कहें, किसी में यह साहस न हुआ कि दारा को कहे कि आक्रमण के समय जाफ़र ने कुछ भी न किया था (हिचरा क़ुदरते आँनीस्त के बेगोयद के जाफ़र कारे न कर्द; लतायेफ़, १२८ ब०)।

दारा बहुत ही उदास था। जाफ़र ने उसको इस प्रकार आश्वासन दिया—"हुज़ूर को सैनिकों की मृत्यु पर क्यों दुःख होना चाहिये। वे सेवा में इसी उद्देश्य से रखे जाते हैं कि रण में उनका बलिदान दिया जाये। रहा आक्रमण के विषय में, तो हुज़ूर कृपया यह जाँच कर लें कि शाह अब्बास (द्वितीय) ने इस दुर्ग को एक से अधिक आक्रमण करने के बाद ही प्राप्त किया था।" उसने महावत ख़ाँ को बस्त भेज दिया—प्रत्यक्ष में इस कारण से कि रुस्तमख़ाँ को सैनिक सहायता पहुँचाये, और राजा जयसिंह को[1] शुतर्गर्दा दर्रे की ओर भेज दिया कि एक ईरानी सेना के तथाकथित आगमन पर ध्यान रखे (३० अगस्त)। केवल क़िलीचख़ाँ एक पञ्चहज़ारी था जिसने दारा के कृपापात्रों की ओर विद्वेष भावना रखते हुए भी आक्रमण के दिन अत्यन्त भक्ति से आचरण किया था। अब दारा ने ख़ाँ से साग्रह प्रार्थना की कि वह असफलता की अपकीर्ति से उसे बचाये। समस्त तोपख़ानों का एक-मात्र अधिकार

१—इस अभियान की समाप्तिपर्यन्त दारा और जयसिंह में परस्पर कटु भावनायें बनी रहीं। "२५ शवाल (८ सितम्बर, १६५३) को दारा ने शाहम क़ुली को राजा के पास यह सन्देश देकर भेजा—"मैंने सुना है कि आप जनता को कष्ट दे रहे हैं और उनके बाग़ों के वृक्ष कटवा रहे हैं। यदि क़न्धार के प्राकारों के नीचे आपने अपनी इस विनाशक शक्ति का प्रदर्शन किया होता, तो इस समय तक सारी दीवारों को गिराकर सम्भवतया आप उस पर अपना अधिकार कर लेते।" राजा ने उत्तर दिया……"मेरे शिविर-स्थान से दो-तीन कोस के अन्दर तक मेरे सौभाग्य से कोई बाग़ नहीं है जहाँ से मेरे सिपाही वृक्षों को काटकर ईंधन इकट्ठा कर सकते हों।" दारा के सन्देश-वाहक ने यह भी सूचना दी कि राजा के शिविर के आस-पास कोई बाग़ नहीं दिखाई पड़ता है, और जिस व्यक्ति ने यह समाचार उसको दिया था, वह अवश्य झूठ बोला होगा (लतायेफ़, १४६ अ)। आगे चलकर १ ज़िल्क़ाद (१३ सितम्बर, १६५३) को राजा ने दारा को पत्रोत्तर दिया। दारा ने लिखा था कि उस मास की ४ तारीख को दूसरा हमला करने के लिये वह क़न्धार में उपस्थित हो जाये। राजकुमार को इसका उत्तर यह मिला—"आक्रमण मुझसे नहीं हो सकता है। मेरी इस त्रुटि पर हुज़ूर जो भी चाहें वह दण्ड मुझे दे सकते हैं। क़न्धार से अब मुझे कुछ भी लेना देना नहीं है।" (वही, १५१ ब)

उसको देने का दारा ने प्रस्ताव किया और ख़ानेख़ानाँ की उपाधि सहित उसको हफ़्त (सप्त) हज़ारी का पद (७ हजार ज़ात और ७ हज़ार सवार, दो अस्पाह, सेह अस्पाह) देने की प्रतिज्ञा की। क़िलीचख़ाँ सतर्क वृद्ध सैनिक था। इस प्रलोभन पर विचार करते हुए उसने कहा—"अवरोध (घेरा) समाप्त हो रहा है। इस स्थिति में कार्य-भार मेरे सुपुर्द करना मेरे हाथ में मछली की दुम देना है (दुमे माही ब दस्ते मन दादन अस्त)। तो भी उसने प्रतिज्ञा की कि वह यथाशक्ति प्रयास करेगा और अवरोध को निर्देश देने का कार्य उसने स्वीकृत कर लिया। दारा इतना प्रफुल्लित हो गया कि वह ख़ाँ के गले से चिपट गया और उसके प्रस्थान के समय उसकी गर्दन का उसने चुम्बन किया (लतायेफ़, १३५ ब)। कुछ दिन पीछे क़िलीचख़ाँ ने[1] दारा को परामर्श दिया कि रुस्तमख़ाँ बहादुर के सैनिकों को वापस बुला लिया जाये कि द्वितीय आक्रमण किया जा सके। अवरोध एक मास और खिंच गया। उसमें आवेग-पूर्ण उद्योग और निराशामय प्रयास लक्षित होते थे। उनका उद्देश्य शेर हाजी की रक्षा-पंक्तियों की प्राकारों में सुरंगें लगाना और उन पर गोले फेंकना था।

विभाग ११—दारा की असफलता के कारण

आक्रमणकारी मुग़ल साम्राज्यशाही की प्रगति को ईरान की प्रगाढ़ देश-भक्ति और अदम्य गर्व ने उलटा फेर दिया। १७वीं शताब्दी के अवरोध-रण-व्यापार में आक्रमण की अपेक्षा रक्षा-साधनों की उनकी उत्तमता ने उनका पूरा साथ दिया। महान् मुग़लों की सेना सदैव अनियत सैनिकों की एक विशाल राशि रही थी। इसको देशी और विदेशी स्वार्थसाधक सैनिक सशक्त बनाये हुए थे, और ये बारह विशेष जातियों और देशों के व्यक्ति होते थे। भारत में मुग़ल सेना की गौरवशाली सफलता उसकी सैनिक निपुणता के कारण इतनी न हुई जितनी कि और बातों के कारण—उदाहरणार्थ—हिन्दुओं के विरुद्ध इस्लाम की सामान्य देश-भक्ति और उनका दृढ़ संगठन; हिन्दुओं के जाति-पाँति के झगड़े और उनके राजवंशों के पितृ-परम्परा-गत कलह तथा राजनैतिक प्रश्नों और अपने शासकों के भाग्य के प्रति भारतीय जनता की प्रसिद्ध उदासीनता। परन्तु ईरान के विरुद्ध दिल्ली का सम्राट् अपनी सेना के मुस्लिम भाग को धर्म या देश के नाम पर कोई प्रेरणा न दे सकता था। क्योंकि ईरान से हिन्दुस्तान में आकर बस जाने वालों के बुद्धि और बाहुबल से ही प्रायः इस सेना की बल-वृद्धि होती थी। कछवाहों और राठौड़ों को जो

१—क़िलीचख़ाँ तूरानी (म० उ० III, ९२)। वह ईमानदार मुँहफट सैनिक था। उसने अपने जीवन का बहुत-सा समय क़न्धार में ईरानियों से लड़ते हुए व्यतीत किया था। इस वीर अनुभवी सैनिक के प्रति दारा का व्यवहार या तो फुसलाने का होता था या उपेक्षा का।

आनन्द शिशोदियों से लड़ने में मिलता था, वह सफ़ावियों से लड़ने में प्राप्त न होता था। मनसबदारों के दलों में और जातीय पलटनों में पारस्परिक ईर्ष्या तथा अनुशासन और शस्त्राभ्यास की अनुपस्थिति के कारण सेना में किसी प्रकार की सैनिक-भावना की वृद्धि न हुई थी। इन्हीं के कारण सहयोग भी असम्भव था, जब तक किसी अधिकारशील व्यक्ति की सतर्क दृष्टि उनका नियन्त्रण न कर रही हो। मैत्री-भावना तथा सामान्य पक्ष के प्रति निष्ठा नहीं, परन्तु इनके विपरीत ईर्ष्या और वैयक्तिक प्रतिष्ठा के प्रति अनुराग मुग़ल सेना की निस्सन्देह प्रेरक शक्तियाँ थीं। मुग़ल साम्राज्य का समस्त सैनिक इतिहास इस तथ्य को प्रमाणित करता है। मुग़ल सेना के जन्मजात इन अवगुणों के प्रति औरंगजेब सदृश व्यक्ति भी असहाय था।

कुछ भी हो, दारा के चरित्र के कुछ गम्भीर अवगुणों की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता है। क़न्धार में उसकी असफलता के प्रति ही नहीं, बल्कि उसके समस्त राजनैतिक जीवन की दुःखद असफलता के प्रति भी वे ही उत्तरदायी हैं। उसने एक दल—अपने दल के व्यक्तियों से अपना तादात्म्य कर लिया और कुछ नवोदयों को बिना विचार के अपना विश्वास सौंप दिया। ये अनुभवहीन थे और बहुत सीमा तक धूर्त और अभिमानी थे। इसके कारण उसमें और उच्च सामन्तों में भेद-भाव बढ़ गया। उनको सन्देह हुआ कि राजकुमार की ऐसी इच्छा न थी कि प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान प्राप्त करने के समान अवसर दे। परिणाम यह हुआ कि उनको क़न्धार का पतन इतना प्रिय न था जितना कि दारा के कृपा-पात्रों का अपमान। उसमें चरित्र-बल और चातुर्य न था जो उसकी सेना के परस्पर विरोधी तत्वों को एकत्र रखने के लिये आवश्यक था। आज्ञा भंग[1] और अवज्ञा केवल पञ्चहज़ारियों के ही नहीं, अपितु न्यून पदाधिकारियों के भी चरित्र की विशेषतायें थीं।

केवल साम्राज्य-सहायकों और राजकुमार के दलों के बीच कटुता और ईर्ष्या की भावनायें थीं, यही नहीं उसके कृपा-पात्रों ने भी अपनी स्वार्थी चालें

१—थोड़े से उदाहरण दिये जाते हैं—

अ—जाफ़र के तोपखाने से मुहम्मद आक़िल आता है, स्वतन्त्र अधिकार माँगता है। उसको प्राप्त कर लेता है। (२५ मई; लतायेफ़, ३१ ब०)

इ—जाफ़र की खाई में सेवा करने से नुस्रतखाँ इन्कार कर देता है और पद-त्याग की धमकी देता है (१५ अगस्त ; वही, ११४ ब०)।

उ—राजकुमार के क्षमा के प्रस्ताव को शम्सखाँ और कुत्बखाँ ठुकरा देते हैं और अपने स्थानों पर वापस होने से इन्कार कर देते हैं। वे कहते हैं कि इज़्ज़तखाँ के साथ रख दिये जाने से उनकी इज़्ज़त (मान) जाती रही है (२६ अगस्त ; वही, १३६ अ०)।

चलीं जिनका परिणाम अवश्यंभावी था। दारा के तीन विश्वस्त अधिकारियों ने-अर्थात्—अब्दुल्ला, जाफ़र और इज्ज़तखाँ ने—परस्पर झगड़ा कर लिया और निकृष्ट ढंग से एक दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने का षड्यन्त्र किया। राजकुमार के तोपखाने का सरदार जाफ़र अवरोध का परम वीर पुरुष था। उसको राजकुमार का असीमित विश्वास प्राप्त था। वास्तव में वह राजकुमार के लिये 'अंधे की लाठी' था। कहा जाता है कि राजा जयसिंह, महावतखाँ और क़िलीचखाँ द्वारा प्रतिज्ञा करने पर और आश्वासन दिये जाने पर ज़ुल्फ़िक़ारखाँ ने एक बार आत्म-समर्पण कर देने की अपनी इच्छा प्रकट की। इस पर दारा ने घृणा से कहा—"यदि उसकी इच्छा आने की है, तो वह जाफ़र और इज्ज़तखाँ की प्रतिज्ञा पर आ सकता है क्योंकि उनका वचन मेरे वचन के बराबर है" (क़ौलेआँहा क़ौले मा अस्त)[1]। परन्तु ये दोनों राजकुमार की स्वयं उपस्थिति में भी प्रायः झगड़ जाते और कभी-कभी एक दूसरे की चुग़ली भी करते। जाफ़र की गर्वोक्ति पर बिगड़ कर इज्ज़तखाँ ने उसको पाजी कहा और राजकुमार को मुँहफट कह दिया—"इन पाजियों के प्रति आपके द्वारा प्रदर्शित कृपा और विश्वास से कोई लाभ न होगा[2]।" १५ जून को अब्दुल्ला ने जाफ़र के पास एक प्रार्थना भेजी। जाफ़र के तोपख़ाने के संनिकट उसका तोपखाना था। उसने कहा कि जाफ़र अपने तोपख़ाने के अग्र भाग को आगे बढ़ाना स्थगित करदे जब तक वह उसकी समरेखा में न आ जाये। चार दिन बाद अब्दुल्ला राजकुमार को प्रणाम करने गया और एक प्रश्न के उत्तर में उससे निवेदन किया कि उसकी खोई जाफ़र की खाई से कुछ पग आगे है। जब यह बात जाफ़र के कानों तक पहुँची, वह क्रोधित हो उठा और ईरानियों की समस्त जाति और उनके दुष्ट विश्वासहीन शिया सम्प्रदाय को गालियाँ देने लगा। उसके क्रोध को शान्त करने के लिये दारा के कृपालु शब्दों से भी कोई लाभ न हुआ। तीन दिनों के बाद क़ाज़ी अफ़ज़ल इन दोनों के बीच में वैर-शान्ति करने में सफल हुआ। परन्तु यह सन्देह किया गया कि अब्दुल्ला के सैनिक[3] शत्रु से विश्वासघातक पत्रव्यवहार कर रहे हैं।

विभाग १२—अवरोध-त्याग

क़न्धार के मुग़ल अभियानों में थकाने वाली एकरूपता है, क्योंकि तीनों में एक ही योजना, एक ही कार्य-प्रणाली और एक ही अवश्यंभावी परिणाम,

---

१—लतायेफ़, ६८ ब०।

२—लतायेफ़, ६२ अ०।

३—अब्दुल्ला की चाल—लतायेफ़, ४६ ब; क़ाज़ी द्वारा वैर-शान्ति—वही, ५० अ; अब्दुल्ला के सैनिकों को चेतावनी, ६४ अ०।

दिखाई देते हैं । ईरानी हिन्दुस्तानियों की तुलना ग्रीष्मकालीन चिड़ियों से करते थे जो अफ़ग़ानिस्तान की हेमन्त ऋतु के आगमन पर अपने गरम मैदानों को चली जाती थीं । परन्तु दारा ने निश्चय कर लिया कि हेमन्त में भी अवरोध चालू रहेगा और आज्ञा निकाल दी कि सेना के लिये रसद-सामग्री प्राप्त की जाये । परन्तु इसकी तो कोई सम्भावना न थी कि वह इतना समर्थ हो जाये कि दुर्गस्थ सेना को भूखा मार कर आत्म-समर्पण पर उनको विवश कर दे, क्योंकि अवरोध का कोई विशेष प्रभाव न था । अफ़ग़ान लोग और कभी-कभी तो दारा के शिविर के ही व्यापारी (बक़्क़ाल) चोरी-चुपके से भोज्य सामग्री दुर्ग में पहुँचा देते थे । सीमास्थ अफ़ग़ान जातियों की विद्रोही वृत्ति से परिस्थिति चिन्तनीय हो गई थी । उन्होंने धमकी दी कि लाहौर और मुल्तान से अभियानक-सेना का यातायात सम्बन्ध काट देंगे । जुलाई के अन्तिम सप्ताह ही में डोकी के स्थान पर दरबार के एक दण्डधारी (गुर्ज़-बरदार) को उन्होंने लूट लिया था, और शाही आज्ञा (फ़र्मान), घोड़ों, सम्मान-वस्त्र और स्वयं दारा के निमित्त प्रेषित इत्रदान (हुक़्क़ये इत्री) को लूट ले गये थे (लतायेफ़, ८८ ब०, २५ जुलाई १६५३) । हिन्दुस्तानी फ़ौजें पूर्णतया आचारभ्रष्ट हो गई थीं, और अपने विरुद्ध दैवी हस्तक्षेप के स्वप्न देखने लगी थीं । एक मनुष्य ने एक हज़ार अपरिचित सवारों को स्वप्न में देखा जो मुग़ल सेना से होकर शान्तिपूर्वक दुर्ग में प्रवेश कर रहे थे । इसका अर्थ यह लगाया गया कि वे इमाम रज़ा के सैनिक थे और वे हिन्दुस्तानी सुन्नियों के विरुद्ध ईरानी शियों की सहायता के लिये आये थे । राजकुमार के शिविर में एक पवित्र कुल के सैयद को स्वप्न में रसूल (मुहम्मद) के दर्शन हुए और रसूल ने भविष्यवाणी की कि उस वर्ष विजय प्राप्त करना सम्भव न था और यह कि मुसलमानों का अधिक रक्त-पात कराना निरर्थक था (लतायेफ़, ६१ अ, ६२ ब, १४४ ब०) ।

बस्त के गढ़ को भूमिसात् करके २७ सितम्बर को रुस्तमख़ाँ बहादुर फ़ीरोज़-जंग क़न्धार को लौट आया । परन्तु सम्राट् की आज्ञा-पालन निमित्त राजकुमार को क़न्धार पर एक और आक्रमण करने की योजना त्याग देनी पड़ी और आगामी हेमन्त में अवरोध चालू रखने का विचार छोड़ देना पड़ा । अगले दिन शुभ मुहूर्त पर राजकुमार ने घर की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दी । तोप-ख़ाना और काबुल से आये हुए दल के साथ इज्ज़तख़ाँ ने ग़ज़नी की राह पकड़ी और सेना का मुख्य भाग राजकुमार के अधीन पिशिन और डोकी के मार्ग से मुल्तान की ओर चल पड़ा । ५ अक्तूबर को दारा पिशिन पहुँचा और वहाँ के गढ़ को नष्ट करने की आज्ञा दी । इस सेना को क़बायली (जातियों के) प्रदेश में लड़ कर अपना मार्ग बनाना पड़ा, क्योंकि अफ़ग़ानों ने सड़कों को घेर लिया

था और उन्होंने अपना जैसा रिवाज था, सहायता का धन माँगा था। डोकी के समीप राजा जयसिंह ने अफ़ग़ानों के एक बड़े दल को परास्त किया। डोकी में १३ अक्तूबर को राजकुमार ने निवास किया और वहाँ से ६ दिनों में मुल्तान पहुँच गया। यहाँ ११ दिन ठहर कर उसने २२ नवम्बर को (११ मुहर्रम, १०६४)[१] लाहौर में प्रवेश किया।

२६ दिसम्बर, १६५३ को दिल्ली शाहजहाँनाबाद के नव-निर्मित नगर में युवराज और उसके दल का सार्वजनिक रूप से भव्य स्वागत किया गया। पिछली संध्या को (१४ सफ़र। १०६४ हि०; वारिस, ८२ अ) क्रमशः लाहौर और आगरा से दारा और शाहजहाँ दिल्ली पहुँच गये थे। सम्राट् की आज्ञा थी कि रात्रि में वह नगर के बाहर ठहर जाये। अगले दिन प्रभात में दरबार में उपस्थित सामन्तों को उसने भेजा कि जाकर उसके पद-योग्य सर्वसम्मान से उसको दीवाने आम[२] (सार्वजनिक सभामण्डप) में लिवा लायें। अपने पुत्र सुलेमानशिकोह को अपने साथ लेकर दारा ने दरबार में प्रवेश किया और एक हजार अशर्फियाँ नजर (भेंट) पेश कीं। अपनी असीम कृपा और प्रेम-बाहुल्य में सम्राट् ने उसका आलिङ्गन किया और उसका चुम्बन किया (वही, ८२ ब)। अपने प्रेमोन्मत्त पिता की अन्यून कृपा और स्नेह में दारा अपने क्लेशों और निराशाओं को भूल गया और अपने अध्ययन का शान्तिपूर्वक प्रारम्भ कर दिया। दारा अपने एकान्तवास और अध्ययन में मग्न रहा जब तक कि गृह-युद्ध की भेरी ने उसको समर का आह्वान न दिया।

१—लतायेफ़ुल् अख़बार का लेखक कहता है कि १३ जिल्क़ाद (२५ सितम्बर) को दारा ने रुस्तमखाँ बहादुर को पत्र लिखा कि १४ को अवश्य ही मुख्य शिविर में पहुँच जाये, परन्तु १५ जिल्क़ाद (२७ सितम्बर) को खाँ शिविर में पहुँचा। १० जिल्क़ाद (२८ सितम्बर) बृहस्पतिवार को ७ घड़ी रात्रि शेष रहने पर दारा ने घर की ओर यात्रा प्रारम्भ की; परन्तु वारिस के अनुसार १४ जिल्क़ाद (२६ सितम्बर) को रुस्तमखाँ बहादुर क़न्धार पहुँचा और अगले दिन प्रयाण प्रारम्भ हुआ (लतायेफ़, १६८ अ, १७० ब; वारिस, ह० ग्र० ७० अ)। प्रत्यागमन की अन्य घटनायें—पिशिन के दुर्ग का विनाश, लतायेफ़, ७२ ब। एक युद्ध-हस्ती पागल हो जाता है; राजकुमार की आज्ञा पर भी राजा छत्रसाल हाड़ा उसको मारने से इन्कार कर देता है, विद्रोही अफ़गान क़बायलियों से छत्रसाल की टक्कर (वही; १७३ ब, १७४ अ)। पहाड़सिंह बुन्देला के सिपाहियों को अफ़गान लूट लेते हैं और राजा जयसिंह उनको कड़ा पाठ पढ़ाता है (वही, १७५ अ०)। क़न्धार से लाहौर की यात्रा का संक्षिप्त वर्णन (वारिस, ह० ग्र० ७६ ब०)।

२—इस अवसर पर एक बहुमूल्य खिलअत (वस्त्रोपहार), एक निमस्तीन और शाही अश्वालय से दो इराक़ी घोड़े दारा को दिये गये।

विभाग १३—क़न्धार के अभियान का अवशेष

यह उल्लेख कर देना रोचक होगा कि २६ दिसम्बर को सार्वजनिक स्वागत के सम्मान में भाग लेने के लिये युवराज के साथ एक भी पञ्चहज़ारी न था। मिर्जा राजा जयसिंह की भविष्यवाणी के अनुसार ही घटनायें घटित हुईं। युवराज के दर्शन पर सम्राट् की आँखें हर्षोत्फुल्ल हो गईं। असफलता का कलंक लगे हुए दारा के कृपा-पात्रों को श्लाघा और वास्तविक अभिवृद्धियाँ प्राप्त हुईं। सम्राट् की अगली चान्द्र जन्मगाँठ के अवसर पर, दारा की सिफ़ारिश पर जाफ़र को जो "खाइयों को अग्रसर करने में सर्वोपरि प्रयत्नशील था" बरक़न्दाज़ख़ाँ की उपाधि से सम्मानित किया गया। दारा के दूसरे कृपा-पात्र फ़क़ीरख़ाँ को (बाक़रख़ाँ नजुमसानी का पुत्र), जो पद-च्युत कर दिया गया था, और जिसको दरबार में आना मना था, उसको दारा की याचना पर २ हज़ार ज़ात और १ हज़ार सवार का अपना पुराना पद पुनः प्राप्त हो गया।[1] महावतख़ाँ ने क़न्धार से अपनी वापसी के बाद आज ही सम्राट् से भेंट की, परन्तु उसको एक ख़िलत भी न मिली। नजाबतख़ाँ का भाग्य भी ऐसा ही रहा। १४ जनवरी, १६५४ को उसको आज्ञा हो गई थी कि अपनी जागीर को चला जाये, उसको ख़िलत न मिली थी (वारिस, ८३ ब)। क़िलीचख़ाँ के साथ सप्त हज़ारी के पद और ख़ाँनेख़ानाँ की उपाधि की प्रतिज्ञा की गई थी; परन्तु वह राजकुमार की कृपा से इस कारण वञ्चित रह गया कि उसने कहा था कि जाफ़र द्वारा कृत प्राकार-भंग अव्यावहारिक था (२५ सितम्बर, लतायेफ़, १६६ अ)। (पंजाब में) भेरा के स्थान पर २४ जनवरी, १६५४ को उसका देहान्त हो गया (वारिस, ८३ ब०)। चान्द्र जन्म गाँठ पर (६ फ़रवरी) राजा जयसिंह के पुत्र कुँवर रामसिंह को उसके मनसब में ५०० जात की वृद्धि प्राप्त हुई; परन्तु उस वयोवृद्ध अनुभवी सैनिक की योग्यता और सेवा की यह कोई मान्यता न थी जब हम इसकी तुलना उसके राठौड़ प्रतिस्पर्धी जसवन्तसिंह की मान्यता से करते हैं जो आयु में उससे बहुत छोटा और योग्यता में बहुत कम था। सम्राट् की सौर जन्म गाँठ के गज़ट में एक मास पूर्व (६ जनवरी) उसको ६ हज़ारी का पद और महाराजा को उपाधि प्राप्त हो गई थी। राजा मुकुन्दसिंह हाड़ा को

१—फ़क़ीरख़ाँ शायद दारा का सचिव और उसका विश्वासपात्र था। दारा की आज्ञा से उसने महावतख़ाँ को एक पत्र लिखा कि अपनी खाई आगे बढ़ाये। लतायेफ़ुल अख़बार का लेखक फ़क़ीरख़ाँ के पास गया कि महावतख़ाँ की ओर से परिस्थिति का स्पष्टीकरण करे। कारणों की उपेक्षा कर फ़क़ीरख़ाँ ने उत्तर में कुछ रोष-जनक शब्द कहे (११ मई, लतायेफ़, २४ अ)। फ़क़ीरख़ाँ के चरित्र को प्रकट करने के लिये यह पर्याप्त है। यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि उसने किसी न किसी प्रकार दारा की कृपा प्राप्त करली।

५०० ज़ात की वृद्धि देकर मना लिया गया। १६५४ के जन्म गाँठ के गज़टों में राजरूप और चम्पतराय बुन्देला का कोई उल्लेख नहीं है और न इसकी चर्चा पाई जाती है कि उनको कोई पुरस्कार प्राप्त हुआ हो। चान्द्र जन्म गाँठ पर (६ फ़रवरी) रुस्तमख़ाँ बहादुर फ़ीरोज़ जंग को ४ हाथियों, एक हथिनी और १० इराक़ी घोड़ों का राजोचित पुरस्कार प्राप्त हुआ।

क़न्धार के इस तृतीय अभियान में पञ्चहज़ारियों के आचरण और उनसे दारा के सम्बन्धों के विषय में लतायेफ़ुलअख़्बार के वर्णन की यथार्थता को दोनों जन्म गाँठों के सम्मानों की ये सूचियाँ सिद्ध करती हैं।

अध्याय ५

दाराशिकोह का आध्यात्मिक जीवन

विभाग १—दारा शिकोह और क़ादिरिया सम्प्रदाय

दारा के विवाह के प्रथम वर्ष ही में नादिरा बेगम ने एक पुत्री को जन्म दिया जिसका देहान्त ईदुल्फ़ितर के दिन (२१ मार्च, १६३४) हो गया। उस समय वह सम्राट् के साथ लाहौर को जा रहा था। इस प्रथम दुख के आघात में वह विचलित हो उठा। यह बहुत सम्भव है कि इस मानसिक स्थिति की दशा में वियोग-पीड़ित नव दम्पति ने लाहौर के प्रसिद्ध साधक फ़क़ीर मियाँ मीर के चरणों में आध्यात्मिक सान्त्वना प्राप्त करना चाहा। वह क़ादिरिया सम्प्रदाय का सूफ़ी था जिसको स्वनामधन्य सन्त अब्दुल क़ादिर जीलानी ने स्थापित किया था (१०७७-११६६ ई०)।

महान सम्राट् शाहजहाँ ने केवल दो मुसलमान सन्तों को अपने पदार्पण से सम्मानित किया था। एक था बुर्हानपुर का शेख़ मुहम्मद फ़ज़्लुल्ला जिससे वह सम्राट् जहाँगीर के जीवन-काल में मिला था जब वह दक्षिण का सूबेदार था। दूसरा मियाँ मीर था जिससे वह १६३४ ई० में तीन बार मिला। सन्त की कुटी में उसका प्रथम पदार्पण ७ अप्रैल, १६३४ को हुआ। दूसरा उसके दो दिन बाद। काश्मीर से लौट कर शाहजहाँ ने पुनः शेख़ के दर्शन किये (१८ दिसम्बर, १६३४ ई०) और उससे "ब्रह्म ज्ञान और अध्यात्म विद्या के कुछ जटिल प्रश्नों पर वार्तालाप किया जो उस तपस्वी के लिये हर्ष और उल्लास के हेतु थे।"[1]

१—पादशाहनामा I ब० ६५। मियाँ मीर और मुल्लाशाह बदख़्शी का जीवनोल्लेख पाद० I ब० ३२६-३३०, ३३५। मियाँ मीर के चरित्र पर ख़फ़ीख़ाँ; और अपने राजकीय अतिथि

१६३५ के हेमन्त ऋतु में जब दरबार लाहौर में एकत्र था, बहुत सम्भव है कि दाराशिकोह को मियाँ मीर से अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रति स्वस्थ प्रेरणा प्राप्त हुई और इससे अधिक महत्त्व की यह घटना हुई कि उसका परिचय उसके भविष्य के पीर (आध्यात्मिक गुरू) मुल्ला शाह बदख़शी से हो गया जो शेख़ का शिष्य था। उसी वर्ष पूजनीय सन्त मियाँ मीर का देहान्त हो गया और उसको अवसर न प्राप्त हो सका कि राजकुमार को अपना शिष्य बनाये। मियाँ मीर की मृत्यु के पीछे ६ वर्षों तक ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान के इच्छुक राजकुमार ने प्रत्येक दिशा में आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की खोज की और सन्तों की जीवनियों और उनके चमत्कारों के अध्ययन में व्यस्त रहा।

अपनी पुस्तक 'रिसालै हक़नुमा (ईश्वर बोध) (१६४६ ई० में लिखित) में दारा कहता है कि 'उसकी मध्य युवा अवस्था में' एक रात्रि को एक फ़रिश्ते (हातिफ़) ने उसको स्वप्न में चार बार उच्च स्वर से कहा—"तुझ पर ईश्वर की वह कृपा है जो इस पृथ्वी के किसी राजा पर नहीं हुई है।" आरिफ़ों (स्वप्न-वेत्ताओं) ने इस स्वप्न का यह अर्थ लगाया कि उसको ईश्वर-ज्ञान-प्राप्ति का वचन प्राप्त हुआ है। राजकुमार कहता है—"समय आने पर इसका पूर्वाभास प्रकट होने लगा और दिन-दिन आवरण कुछ न कुछ उठता ही गया।" हम सत्य से अधिक दूर न हो जायँगे यदि हम यह धारणा बना लें कि यह दैवी प्रेरणा दारा को उसके विवाह के पहले न प्राप्त हुई थी और न निश्चय से ठीक उसके बाद जब युवकों को भिन्न प्रकार के स्वप्न आते हैं। सम्भव यह है कि अपने प्रथम शिशु की मृत्यु के पीछे मियाँ मीर के गूढ़ प्रभाव से दारा आध्यात्मिक जीवन के प्रति जाग्रत हो उठा। इच्छा विचार की जननी है—इस कहावत के अनुसार दारा का स्वप्न, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, शायद उसी के विचार की साकारता थी। १६३५ ई० की हेमन्त ऋतु में लाहौर में गूढ़द्रष्टा संतों की संगति से उसकी कल्पना उत्तेजित हो उठी थी। यह उसका प्रभाव था। उस दिन से राजकुमार सन्तों की कुटियों में प्रायः जाने लगा और एक गुप्त वेदना से वह विकल हो गया।

राजकीय इतिहासकार अब्दुल हमीद दारा के साहित्यिक तथा धार्मिक जीवन पर प्रायः मौन है। वह हमको एक रोचक आख्यान देता है जो राजकुमार के सन्तों के प्रति अन्ध विश्वास-मूलक सम्मान पर और चमत्कारों में उसकी मूढ़

के प्रति उसकी उदासीनता और सम्राट् द्वारा इसकी प्रशंसा पर मुन्तख़ब ५४८-४९। दबिस्ताँ में मियाँ मीर और मुल्लाशाह का उल्लेख जो दबिस्ताँ के लेखक का पीर था। शिया भाग III पृ० २८४, २८७; फ़ारसी पाठ, बम्बई का मुद्रण पृ० ३१८, ३१९।

श्रद्धा पर कुछ प्रकाश डालता है। एक अवसर पर जब गायक और मदारी राजसभा का मनोरञ्जन कर रहे थे शेख नाज़िर हर्षोन्मत्त हो गया और पीने के लिये उसने पानी माँगा। चमत्कार दिखाने में शेख प्रसिद्ध था और इसी कारण दरबार में आने का उसको निमन्त्रण मिला था। शेख ने कुछ पानी पिया और दूसरों की ओर गिलास बढ़ा दिया। जिस किसी ने उसको पिया कहा कि उसमें शुद्ध मधु था। राजकुमार दाराशिकोह और क़ाज़ी मुहम्मद इस्लाम (मृ० १६५१ ई०) ने सम्राट् से निवेदन किया कि आगरा में उनकी उपस्थिति में एक वार शेख ने एक घड़े को (कूज़ा) और दूसरे अवसर पर एक रुमाल को कबूतर बना दिया था। उन्होंने आगे यह भी कहा कि एक अवसर पर शेख ने उनकी बन्द मुट्ठियों में घास का एक तिनका रख दिया जो कीड़ा (किर्म) बन कर बाहर निकला। राजा विक्रमाजीत ने, जिसकी सत्यता की साक्षी वृद्ध अब्दुल हमीद देता है, एक अवसर पर सम्राट् को कहा कि एक बार वह शेख नाज़िर को नमाज़ पढ़ते देख रहा था; उसने देखा कि नमाज़ पढ़ते-पढ़ते शेख की काली मोछें (महासीन) सफ़ेद हो गईं, उसका सिर उसके धड़ से अलग हो गया, और कुछ समय के बाद वे पुनः जुड़ गये।[१]

इस आरम्भिक अवस्था में ही दारा की धार्मिकता बुद्धि-प्रधान हो गई। इस्लाम के सन्तों के चमत्कारों और उनकी जीवनियों पर एक वृहत्काय ग्रन्थ के निर्माण में उसने अपने पर्याप्त अवकाश को लगा दिया। भक्ति-भाव से उसने यह कार्य किया; इस कार्य को उसने सन्तों की संगति का स्थान दिया; इस प्रकार के अध्ययन से उसकी कल्पना और भी उत्तेजित हो गई और उसकी मानसिक प्रवृत्ति असंदिग्ध रूप से आध्यात्मिक हो गई।

मियाँ मीर की मृत्यु के बाद १२ नवम्बर, १६३० तक दारा फिर लाहौर न गया। ईरानियों के विरुद्ध एक अभियानक दल का नेतृत्व करने के लिये इसके कुछ दिन पीछे उसकी नियुक्ति हो गई, और ९ अक्तूबर, १६३९ को वह उससे वापस लौटा। चूंकि फ़रवरी, १६४० के प्रथम सप्ताह में सम्राट् के साथ[२] उसको काश्मीर जाना था, अतः विश्राम के अल्पकाल ही में ११ जनवरी, १६४० को लाहौर में ही उसने अपने प्रथम ग्रन्थ सफ़ीनतुल औलिया को सम्पूर्ण कर दिया। दारा सम्राट् के साथ काश्मीर में क़रीब ७ मास रहा—(२२ मार्च,

---

१—अब्दुल हमीद का पादशाहनामा, I ब–३३७।

२—लाहौर में शाहजहाँ का आगमन १२ नवम्बर, १६३८ (१५ रजब १०४८ हि०—पाद० II १२३) काश्मीर को प्रस्थान—२५ शवाल, १०४९ हि० (८ फ़रवरी, १६४० ई०) वही, पृ० १७९; श्रीनगर में प्रवेश ९ ज़िलहिज (२२ मार्च, १६४०) वही, पृ० १९०।

१६४०—१४ सितम्बर, १६४०)[1] और इस काल में मियाँ मीर के शिष्य मौलाना शाह बदख़शी की सेवा उसने पुनः आरम्भ करदी। यद्यपि दारा शिकोह को अनेक सन्तों से शिक्षा और प्रेरणा प्राप्त हुई थी और वह अपने पत्रों में उनको पीर और मुर्शिद (गुरु और पथ-प्रदर्शक) की उपाधियों से सम्बोधित करता था, परन्तु अन्त तक मौलाना शाह पर ही राजकुमार की श्रद्धा स्थिर रही। अपनी दीक्षा के बाद दाराशिकोह अपने को क़ादिरी और हनफ़ी कहता था।

दाराशिकोह जन्म से प्रसिद्ध ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का शिष्य था। वह अकबर के वंश का संरक्षक सन्त था। अजमेर में उसकी समाधि के प्रति अकबर ने अपनी राज्योचित भक्ति प्रकट की थी। उसकी बहन ज़हाँनारा उसी सम्प्रदाय की मुरीदा (शिष्या) थी और उसने एक पुण्य कार्य समझकर 'मुनिसुल अर्वा' (आत्मशान्तिदायक) नाम की ख़्वाजा की जीवनी लिखी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मुईनुद्दीन चिश्ती के सम्प्रदाय को छोड़ने के पूर्व दारा बहुत दिनों तक संशयग्रस्त रहा कि वह अब्दुल क़ादिर जीलानी के सम्प्रदाय की दीक्षा ले या नहीं। परन्तु मियाँ मीर के आकर्षक व्यक्तित्व और उसकी भक्ति ने और मौलाना शाह की प्रसिद्धि ने राजकुमार को क़ादरिया सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट कर लिया। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक ही था कि अकबर के प्रपौत्र की कल्पना को अब्दुल क़ादिर जीलानी[2] की दानशीलता और जन-सेवा की उच्च भावना प्रेरणा दे, क्योंकि वह (अब्दुल क़ादिर जीलानी) इस पक्ष में था कि नरक के द्वार सर्वथा बन्द कर दिये जायँ और स्वर्ग के द्वार मुसल्मानों और काफ़िरों (अविश्वासियों) दोनों के लिये समान रूप से खोल दिये जायँ। जब वह क़ादरिया सम्प्रदाय की क्रियाओं से पूर्णतया परिचित हो गया, उसने अपनी द्वितीय पुस्तक 'सकीनतुल-औलिया' लिखी जो १६४२ ई० में पूर्ण हुई। यह मुख्यतया मियाँ मीर की जीवनी है और इसमें अपने उद्देश्य-प्राप्ति की ओर सूफ़ी की आध्यात्मिक यात्रा की भिन्न-भिन्न मंजिलों के प्रसंगतः उल्लेख हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दारा द्वारा क़ादरिया सम्प्रदाय का वरण करने में उसको ईश्वर की स्वीकृति प्राप्त हुई। शुक्रवार, १७ रजब १०५५ हि० की रात्रि में उसे आकाशवाणी द्वारा यह सन्देश प्राप्त हुआ कि ईश्वर की प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम मार्ग क़ादरिया सम्प्रदाय की दीक्षा ही थी। उसी रात्रि को उसे यह भी ईश्वरीय आज्ञा प्राप्त हुई कि नवदीक्षित सूफ़ियों के उपयोग के लिये

१—शाहजहाँ का लाहौर को प्रस्थान ७ जमादी उस्सानी, १०५० हि० (१४ सितम्बर, १६४०); पाद० II २०८।

२—देखो इस्लाम का शब्द सागर, I ४२।

वह एक पुस्तिका का निर्माण करे। उसने अविलम्ब आज्ञा का पालन किया और एक वर्ष के भीतर ही एक पुस्तिका 'रिसालै हक़नुमा' लिख डाली जिसमें उसने आध्यात्मिक आलोक की भिन्न-भिन्न भूमियों और सूफ़ियों की क्रियाओं का सारांश दिया। सम्प्रदाय के संस्थापक अब्दुल क़ादिर जीलानी की भाँति वह साधिकार कहता है कि ईश्वरीय आज्ञा के पालनार्थ ही वह लिख रहा है; कि यह ग्रन्थ वास्तव में क़ादिर (सर्व शक्तिमान) की ओर से भेजी हुई श्रुति है—और वह एक क़ादिरी का साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है (हस्त अज़ क़ादिर, मदन अज़ क़ादिरी—क़ादिर के हाथ से है—क़ादिरी के हाथ से नहीं है)[1]।

दाराशिकोह की उपरिवर्णित पुस्तकें, जो १६३९ और १६४६ ई० के बीच में लिखी गई हैं, उसके आध्यात्मिक जीवन के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थिति की द्योतक हैं। उसके धार्मिक दृष्टिकोण, उसके आध्यात्मिक ध्यान की विधि तथा उसके फल, और ईश्वर और विश्व के प्रति उसकी धारणा—इन सबकी क्रमशः परीक्षा करने का हमारा विचार है।

विभाग २—दारा द्वारा उद्घोषित सिद्धान्त

यदि दारा को इस्लाम में अविश्वास न था, तो इस समय तक उसकी पुस्तकों में भी अविश्वास की कोई गन्ध न थी। शायद कुछ सिद्धान्त इस प्रकार के हैं—उदाहरणार्थ विश्वदेववाद और केवल के अवतरण (अवतार) का सिद्धान्त जो तत्कालीन कट्टर मजहबी विद्वानों को अमान्य थे, परन्तु उनको जिस रूप में उपस्थित किया गया—वह बिलकुल सम्प्रदाय के अनुसार था। इस समय दारा पक्का मुसलमान था—पैगम्बर और उसकी शिक्षा पर उसको पूरी श्रद्धा थी। वह इस परम्परा की कुछ-कुछ वैज्ञानिक-सी व्याख्या भी करता है कि हिन्दू देवता की भाँति पैगम्बर के शरीर की छाया न पड़ती थी और उस पर मक्खी न बैठ सकती थी। "क्योंकि आत्मा वायु से भी सूक्ष्म है और कोई भी पदार्थ इसकी गति में बाधा नहीं डाल सकता है और न उसकी चेष्टा में आवरण उपस्थित कर सकता है, तो आश्चर्य की क्या बात है कि उस जगत् के अग्रणी ने स्वर्ग के प्रति अपनी प्रसिद्ध यात्रा अपने (सूक्ष्मीकृत) जड़ शरीर से की ?" राजकुमार के लिये (जैसा कि वह अपने रिसाला में कहता है)

१—राय बहादुर श्रीशचन्द्र वसु द्वारा रिसालै हक़नुमा के इङ्गलिश अनुवाद में (इलाहाबाद, १९१२ ई०) यथार्थ तिथि का वर्णन नहीं है। नवलकिशोर प्रेस के लीथो संस्करण में तिथि शुक्रवार, ८ रजब, १०५५ हि० है। परन्तु इस वर्ष ८ रजब को शुक्रवार न था; बुधवार, २० अगस्त, १६४५ था। अतः ८ रजब या तो गलत है, या छापे की अशुद्धि है। इसको १० या १७ रजब होना चाहिये। बाद की तारीख को मैं अधिक शुद्ध समझता हूँ।

समस्त नामों में उच्चतम और श्रेष्ठ नाम "अल्ला" था जो दोनों में, जिनको इस्लाम में विश्वास है और जिनको नहीं है, सामान्य था (शामिले कुफ़्फ़ार ओ इस्लाम)[1]। वह यह दावा नहीं करता है कि उसके सिद्धान्त मौलिक हैं। वह कहता है कि सूफ़ी सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रन्थों का वह केवल सारांश दे रहा है। रिसालै हक़नुमा की प्रस्तावना में वह इनका उल्लेख करता है। यद्यपि वह उन ईश्वरवादियों पर कटाक्ष करता है जो नकली इस्लाम के बाह्य अंगों के भक्त हैं और उनकी पुस्तकों को नकली सिक्के कहता है, परन्तु वह बलपूर्वक कहता है—"यह अवश्य ज्ञात होना चाहिये कि जो कुछ इस रिसाले में लिखा है, उसमें और पैगम्बर द्वारा अंगीकृत क्रियाओं, ध्यानविधियों और बैठने, चलने, फिरने और कार्य करने की शैलियों में बाल बराबर भी अन्तर नहीं है।"[2] यदि हम राजकुमार के शब्दों का विश्वास करें तो हमको मानना होगा कि हारा की गुफ़ा में पैगम्बर श्वास-नियन्त्रण (प्राणायाम) करते थे, ध्यान के समय वह अपने मन को विभिन्न केन्द्रों (हिन्दू योगियों के चक्रों) पर एकाग्र करते, उनको ज्योति के दर्शन होते और वह अनाहत ध्वनि (शून्य का महान् शब्द) सुनते थे। ये शब्द हमको भले ही निरर्थक प्रतीत हों, हम न्याय से दारा पर यह आरोप नहीं लगा सकते हैं कि उसने इन भारतीय या तिब्बतीय रहस्यों को बाहर से लेकर इस्लाम में प्रविष्ट कर दिया। इन क्रियाओं के बिखरे हुए तथा अस्पष्ट उल्लेख[3] दारा शिकोह के जन्म से कई सौ वर्ष पहले से सूफ़ी साहित्य में पाये जाते हैं। अपने पीर से प्राप्त इन परम्परागत जन-श्रुतियों को बिना उनकी सूक्ष्म परीक्षा किये हुए उसने केवल हम तक पहुँचा दिया है।

दारा के सिद्धान्त—उदाहरणार्थ आत्मा का प्रकृति में अवतरण—निश्चय ही सूफ़ी सम्प्रदाय की शास्त्रीय विचार-धारा को अमान्य थे। वह कहता है—"हे मित्र यह जान लो कि मनुष्य की आत्मा ने इस शरीर के बन्धन में क्यों

१—देखो—रिसाला, पृ० १, ९–१०; एस० सी० बसु का अनुवाद-पाठ्यांश १,१३। तुलना करो—'समस्त २४ हजार और एक सौ पैग़म्बर केवल एक शब्द का प्रचार करने भेजे गये थे। उन्होंने लोगों को आज्ञा दी कि 'अल्ला' के नाम का जाप करें और उसकी भक्ति करें। अबुल् फ़ज़्ल का अबु सईद को पत्र (निकल्सन कृत 'इस्लामी रहस्यवाद में अध्ययन पृ० ७)।

२—सरेसुइ तफ़ावत व तजावस न याफ़ता बूद—रिसाला फ़ारसी पाठ्यांश पृ० ६। अनुवाद पृ० ४।

३—श्वास-नियन्त्रण (प्राणायाम) और मन का दिले सनोबरी (कमल हृदय) पर एकाग्र करना, १७ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में हिन्दू, पारसी और मुसलमान योगियों की सामान्य सम्पत्ति थी जैसा कि दबिस्तान-उल्-मज़ाहिब का लेखक कहता है, जो दारा का गुरुभाई था।

प्रवेश किया है। कारण यह है कि इसमें जो बीज गुप्त रूप से निहित है, वह पूर्णता को प्राप्त हो जाये और फिर आत्मा में वापस मिल जाये।" (सबबे तजल्जले हक़ीक़ते इन्सानी दर ईं हैकले जिस्मानी आँ अस्त के उ वादियात के दर ईं पिन्हाँ अस्त व कमाल रसीदह बाज़ ब अस्ले ख़्वेश पैवन्दाद)।[१]

अस्तु, इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि प्रत्येक सिद्धान्त, प्रत्येक क्रिया और आध्यात्मिक उन्नति की प्रत्येक भूमिका (मंजिल) का—जिसकी रिसाला में व्याख्या की गई है—समान सिद्धान्त वेदान्त और योग दर्शनों के बहुत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में वर्तमान है। परन्तु दारा स्पष्ट कहता है कि उसकी पुस्तिका सूफ़ी सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रन्थों का सार है—जैसे इब्न्-उल्-अरबी का फ़ुसुल्हिकम्, उसी लेखक का अल् फ़ुतुहतुल् मक्किया; अबुनस्र-अल्-सर्राज का किताब-अल्-लुमा और कई अन्य ग्रन्थों का।[२]

विभाग ३—दारा और यौगिक क्रियाएँ

योग पर दारा के विचारों के सम्बन्ध में कुछ शब्द। मुरक्क़ा या खिर्क़ा (थेगली या पेबन्द लगा हुआ लबादा या घागरा) का धारण करना नियमित नव-दीक्षित सूफी के लिये सामान्य नियम है। हम नहीं जानते हैं कि हिन्दुस्तान के युवराज ने इसको जन-साधारण के सम्मुख कभी धारण किया या नहीं, या वह इसको अपने राजकीय वस्त्रों के नीचे धारण करता था जैसा कि कार्डिनल (पोप के नीचे कैथालिक पादरी) ऊल्ज़े अपने प्रधान मन्त्री पद के भव्य स्वर्ण और रेशम के वस्त्र के नीचे सन का कपड़ा धारण करता था। उसकी पुस्तकों से जहाँ तक हम अनुमान कर सकते हैं उसको संन्यास की अपेक्षा नैतिक त्याग अधिक पसन्द था। उसकी सम्मति में "ईश्वर का स्मरण न करना सांसारिकता है। वेश-भूषा से या पुत्रों तथा स्त्रियों के होने से कोई सम्बन्ध नहीं है।" प्रत्येक स्थल पर वह इसी विचार की पुष्टि करता है और स्पष्ट कहता है कि उसका मार्ग प्रसाद का मार्ग है न कि ताप और प्रयास का, कि बिना किसी प्रकार की तपश्चर्या के ही स्वभावतः उसको ईश्वर की ओर आकर्षण हो गया। इसका भी ध्यान रखना है कि यद्यपि राजकुमार अपने को क़ादिरिया कहता है, वह आत्मसंयम तथा शारीरिक त्याग की आरम्भिक मंजिल की उपेक्षा करता है, जिनको नव-दीक्षित के लिये शेख़ अब्दुल क़ादिर आवश्यक मानता है। दारा कहता है—"लेखक के सम्प्रदाय के अनुशासन में, अन्य सम्प्रदायों में विहित

१—रिसाले हक़नुमा का परिचय।

२—इङ्गलिश में एस० सी० वसु द्वारा अनूदित—'सफ़ीनात' का परिचय। देखो परिशिष्ट रिसाला, II।

क्रियाओं के विपरीत, कोई वेदना और कष्ट नहीं है..........इसमें कोई तपश्चर्या नहीं है, प्रत्येक वस्तु सरल, दयापूर्ण है—वह ईश्वर का स्वतन्त्र उपहार है। यह प्रेम, स्नेह, आनन्द और सुविधा का मार्ग है।" ईश्वर पीड़क नहीं है, अपने उपजीवियों को वह संतोष देता है, इस मार्ग पर वह अपने निर्वाचित जनों का नेतृत्व इसलिए करता है कि अपने प्रिय पात्रों के रूप में वह उनका स्वागत करे, न कि अपराधियों के रूप में उनको वह दण्ड दे।[१]

इस्लाम की आत्मा त्याग की नहीं है, परन्तु अनासक्ति की है—मनुष्य बाह्य जगत् के व्यापारों में संलग्न रहे, परन्तु उस पर उनका कोई प्रभाव न पड़े, वह जगत के हलचल में एकाकी भाव से रहे—यह इस्लाम में आध्यात्मिक उन्नति का मापदण्ड है।[२]

ध्यान भंग से सावधान रहने के लिये क़ादिरिया का साधारण अवलम्बन यह है कि ईश्वर के नाम का उच्च स्वर से उच्चारण किया जाये। इसके लिये व्यायामशील आसन और अन्य उपाय भी विहित हैं। परन्तु दारा इनकी सर्वथा उपेक्षा करता है। उसका पक्ष यह है कि बहुत ही मन्द गति से मन ही मन में 'अल्ला'—नाम का जप किया जाये—जिह्वा की कोई गति न हो। इस विधि का विधान मियाँ मीर ने अपने कुछ कृपा-पात्र शिष्यों के लिये किया था। वह 'सुल्तान-उल्-अज़कार' की बहुत प्रशंसा करता है और उसको विहित बताता है[३]। श्वास पर अधिकार द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करने की यह विधि सर्वशः वही विधि है जो हिन्दुओं के प्राणायाम की है। अन्तर केवल यह है कि हिन्दु योगी सीधा बैठता है और सूफी प्राणायाम के समय अपनी दोनों कुहनियों को घुटनों पर टेक कर आगे की ओर झुक जाता है। दारा अपने रिसाला में कहता

१—रिसाला—इङ्गलिश अनुवाद पृ० ५, फ़ारसी पाठ्यांश पृ० ५।

२—हमारे कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अमर पंक्तियों में दारा के अध्यात्मवाद की पूरी प्रतिध्वनि है—"वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय; I असंख्य बन्धन माझे महानन्दमय I लभिब मुक्तिर स्वाद।"

३—ध्यान के लिये बैठने के पूर्व क़ादिरिया सम्प्रदाय में नव शिष्य के लिये साधारणतया यह क्रम है कि सूरा इख़्लास, सूरा फ़लक़, सूरा नास—प्रत्येक का सात बार पाठ किया जाये। तब मुमुक्षु पल्थी मारकर बैठता है (पारिभाषिक नाम चहार ज़ानू-सिद्धासन), शब्द 'ला' का उच्च स्वर से उच्चारण करता है और बायें घुटने पर सिर से ज़ोर का प्रहार करता है, 'इला' कहते हुए दाहिने घुटने पर, 'हा' कहते हुए दाहिने कन्धे पर और 'इलह' को अधिक ज़ोर से कहकर हृदय पर बल लगाता है कि लोहार के हथौड़े की भाँति वह अन्दर की ओर प्रहार करे। अल्लाह के आह्वान निमित्त इस उच्च उद्घोष पर अन्य सम्प्रदायों के सूफ़ी हँसते हैं क्योंकि अल्लाह न तो बहरा है, न दूर है। अल्लाह और उसकी प्रजा के बीच का अन्तर उस अन्तर से भी कम है जो सवार और ऊँट की गर्दन के बीच में है।

है कि दृष्टान्तों और संकेतों द्वारा इस क्रिया का भेद मौलाना शाह को मियाँ मीर ने बता दिया था। मौलाना शाह इसका वास्तविक अर्थ एक वर्ष में समझ सका, परन्तु ६ महीनों में ही उसके योग्य शिष्य ने इसके प्रभाव का साक्षात् कर लिया। जिन लोगों ने यह क्रिया दारा से सीखी, उनको तीन या चार दिनों में ही आत्मा का प्रकाश दीखने और अनहद शब्द सुनाई देने लगा। उस देश में और उस काल में यह कोई आश्चर्यकारी घटना नहीं है जब इस चतुराई की उक्ति का प्रचार था—"यदि मध्याह्न में राजा कहे कि अर्धरात्रि है तो यह कहना हितकर होगा—'हाँ—मुझे लाखों तारे दिखाई पड़ रहे हैं।" अपने असीम धर्मोन्माद में, अतुलित आत्म-विश्वास में तथा मनुष्य-प्रकृति के शोचनीय अज्ञान में इस आध्यात्मिक निर्देशक ने भविष्य में प्रभावहीन राजनीतिज्ञ और सैनिक सिद्ध होने का प्रमाण उपस्थित कर दिया।

विभाग ४—दाराशिकोह का अद्वैतवाद

इस्लाम में सूफ़ी अद्वैतवादी हैं और तौहीद या एकत्वप्राप्ति[1] उनका उद्देश्य है। ईश्वर के एकत्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद, ईश्वर के एकत्व का साक्षात्कार करना ही तौहीद है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी खोज अपने ढंग से करता है। इस प्रकार जितने उसकी खोज करने वाले हैं, उसको पहुँचने के लिये उतने ही मार्ग हैं। ख़ुरासान का प्रसिद्ध सन्त अबुसईद फ़ज्लुल्लाह कहता है—"ईश्वर को प्राप्त करने के लिये अनेक मार्ग हैं; परन्तु मार्ग की लम्बाई केवल एक डग है। अपने बाहर एक डग रखो और तुम ईश्वर को प्राप्त हो जाओगे।" अपनेपन से बाहर निकलजाना (फ़ना) यह साक्षात्कार करना है कि अपनेपन का अस्तित्व नहीं और सिवाय ईश्वर के किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं (तौहीद)। 'जो अपने को पहचानता है, वह अपने ईश्वर को पहचानता है'—इस जन-श्रुति का अर्थ है कि जो अपने को अस्तित्व-हीन जानता है (अदम), वह जानता है कि सच्चा अस्तित्व (वजूद) ईश्वर का है। बुद्धि द्वारा यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है.... इसको सीख नहीं सकते हैं। वह ईश्वरीय प्रकाश से ही प्राप्त होता है। वह इन्द्रिय जो इसका ग्रहण करती है—हृदय है।"[2]

१—तौहीद पर विद्वत्तामय निरूपण के लिये देखो—काश्फुल्महजूब का निकल्सनकृत अनुवाद, पृ० २७८-२८५।

२—देखो निकल्सन कृत—'इस्लामी रहस्यवाद के अध्ययन' पृ० ५०। तुलना करो कबीर की उक्ति से :—

नाँव न जानों गाँव का, बिन जाने कित जाँव।
चलता चलता जुग भया पाव कोस पर गाँव

तौहीद का सिद्धान्त दारा के आजीवन अध्ययन का विषय बना रहा । ज्ञान और ध्यान द्वारा इसका पूर्ण साक्षात्कार उसके अध्यात्मवाद का उद्देश्य बन गया । सर्वं प्रथम हम उसके भक्ति विषयक रूप का निरूपण करेंगे ।

दारा की युवा अवस्था के आरम्भ में ही ईश्वर ने उसको ईश्वरीय ज्ञान देने की प्रतिज्ञा की थी । उस समय से दारा उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था जब अपनी असीम दया से ईश्वर उसको अपने निकट कर लेगा । राजकुमार कहता है—"अपने ही कर्मों और क्रियाओं द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त करने की मुझको कोई आशा नहीं है । हे ईश्वर, मेरा एकमात्र आश्रय तेरी दया है ।"[1] दारा ने ईश्वरीय दया-मार्ग का अनुसरण किया । इसके कारण आध्यात्मिक प्रकाश की खोज में उसको अनेक आप्त सन्तों की शरण में जाना पड़ा । मौलाना शाह के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन की सहायता से ध्यान द्वारा उसने 'एकत्व' का अनुभव किया और इसके बाद "प्रत्येक धर्म के अध्यात्म ज्ञानियों से मिलने की और एक-ईश्वर-वाद (तौहीद) के सिद्धान्त पर उनके व्याख्यानों को सुनने की उसकी उत्कण्ठा बहुत बढ़ गई; उसने सूफी मत पर अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया और स्वयं उस पर पुस्तिकायें लिखीं; एक-ईश्वर-वाद के ज्ञान के प्रति उसकी पिपासा (तिश्नगी दर तलाबे तौहीद) दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई । यह ज्ञान वास्तव में असीम सागर है" ।[2] वह अनेक सन्तों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया और सूफी की भाषा में—'अनेक घाटों पर उसने छक कर पानी पिया' (मशरब) कि उसकी आध्यात्मिक पिपासा शान्त हो जाये । न बुद्धि द्वारा और न शान्त मनन द्वारा ही उसको सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हुआ । वह उसे रहस्यमय प्रेम के आवेश में प्राप्त हुआ । यह आवेश उसको ५ वर्षों तक रहा (१६४५–१६५०) । एकत्व की उसकी धारणा के विकास का, और उसके गूढ़-वाद का एक मनोरंजक रूप उन पत्रों से प्रकट होता है जो दाराशिकोह ने प्रसिद्ध समकालीन सन्त शाह दिलरुबा को लिखे थे । इस विकास की अवस्थाओं की ओर हम यहाँ पर केवल संकेत देंगे क्योंकि इन सम्पूर्ण पत्रों का अनुवाद अन्यत्र किया जायेगा ।

जा कारण जग ढूँढ़िया सो तो घट ही माहिं ।
परदा दिया भरम् का ताते सूझे नाहिं ॥

अर्थात्—गाँव का नाम नहीं जानते हो, यह बिना जाने कहाँ जाओगे ? चलते-चलते जुग बीत गया, परन्तु गाँव पाव कोस पर ही है । जिसको तुमने सारे जग में ढूँढ़ा है, वह तो तुम्हारे अन्दर ही है । उसने भ्रम का परदा डाल रखा है, इससे दिखाई नहीं देता है ।

१—एस० सी० वसु द्वारा अनूदित सफ़ीनत्-अवलिया का परिचय-परिच्छेद ।

२—सिर्रे अकबर का परिचय-परिच्छेद ।

सूफ़ियों के अनुसार एकत्व (इत्तिहाद) के बोध में तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था है—अपनेपन का सर्वनाश और विना वास्तविक वियोग के संयोग (जम), यद्यपि वियोग का आभास अब भी बना रहता है। इस अवस्था में मुमुक्षु को बोध होता है—'वह सब कुछ है—मैं कुछ भी नहीं हूँ।' दिलरुबा को दारा के पत्र नं० ३ से आध्यात्मिकता की यह अवस्था प्रकट होती है। साधारण काव्यमय उद्गार में वह कहता है—

'प्यारे प्रभु मैं नहीं हूँ, नहीं हूँ। तू ही प्रेमी, प्रेम और तू ही प्रिय है।'

द्वितीय अवस्था, जिसका पारिभाषिक नाम है—'संयोग का उन्माद' (सक्रुल जम) आध्यात्मिक आरोहण (उरूज़) की सर्वोच्च सीमा है, यहाँ पर पहुँचकर "मैं" और "तू" के बीच में वियोग की चेतना सर्वथा नष्ट हो जाती है। साधक ईश्वर के निर्विशेष एकत्व में पूर्णतया विलीन हो जाता है। उपासक का मानो मस्तिष्क चकराने लगता है और उसके लिये अपनेपन में और ईश्वर में कोई भेद-भाव नहीं रह जाता है। उसको बोध होता है "मैं" "मैं हूँ" और ईश्वर की उपासना में वह केवल अपनी उपासना करता है। राजकुमार द्वारा इस बोध की प्रथम अवस्था से उसकी द्वितीय अवस्था की ओर संक्रान्ति पत्र नं० ४ से प्रकट होती है जो दारा ने शाह दिलरुबा को लिखा था। परिचायक पद्यों में हर्षोन्माद से विह्वल दारा ईश्वर को शख़्से कुल (सर्वव्यापक सत्ता—विराट) के रूप में दृष्टिगत करता और लगभग भगवद्गीता की भाषा में उसकी स्तुति करता है।[1] "हमह वजह, हमह समा, हमह ऐन—अर्थात्—नाम रूप सब तू ही है, कर्ताधर्ता सब तू ही है।" सर्वेश्वरवादी दारा आश्चर्य में कहता है—"वास्तव में, निस्सन्देह वास्तव में, उस आँख के लिये जो देख सकती है पूर्ण (कुल) अपने अणु भाग में भी स्पष्टतया प्रकट है। जगत् को प्रकाश देने वाले सूर्य के दर्शन बालू के प्रत्येक उज्ज्वल कण में हो सकते हैं, और सागर के दर्शन जल की प्रत्येक बूँद में।"

आध्यात्मिक आरोहण के अपने शिखर से दारा को नीचे का धर्मान्धता और अज्ञान का जृम्भित गम्भीर गर्त नहीं दीख पड़ता है। उसी पत्र में शाह दिलरुबा को दारा लिखता है—"इस फ़क़ीर के हृदय से इस्लाम के बाह्य अंग ग़ायब हो गये हैं और सच्ची नास्तिकता (कुफ़्र) मुझको प्रकट हो गयी है········ मैं यज्ञोपवीतधारी मूर्ति पूजक हो गया हूँ। नहीं—मैं स्वयं अपना उपासक

१—तुलना करो—१३-१३:—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वानावृत्य तिष्ठति ॥

(खुद परस्त) हो गया हूँ और मैं आत्मपूजकों के मन्दिर का पुजारी (दैर नशीं) बन गया हूँ ।" एक मर्मस्पर्शी प्रतिभाशाली वाक्य लिखकर वह इस पत्र को समाप्त करता है:—

"अगर काफ़िर अज़ इस्लामे मजाज़ी गश्त बेज़ार;
केरा कुफ़्र हक़ीक़ी शुद पदीदार,
दरूँ हर बुते जाँ इस्त पिन्हाँ;
ब ज़ेरे कुफ़्र ईमानिस्त पिन्हाँ ।[1]

अर्थात्—"यदि अविश्वासी (काफ़िर) को बाह्य इस्लाम से अलग कर दिया गया है तो सच्चा अविश्वास (कुफ़्र) किसको प्रकट हुआ है अर्थात् उसके वास्तविक रहस्य को कौन जानता है ?

प्रत्येक मूर्ति में जीवन छिपा हुआ है और अविश्वास (कुफ़्र) के नीचे विश्वास (ईमान) छिपा हुआ है ।"

ऐसा मालूम होता है कि "अद्वैत के उन्माद" की इस अवस्था में रिसालै-हक़नुमा लिखा गया है । उसी के शब्दों को देखिये :—

(i) इस विश्व में तुझ से कोई अपरिचित नहीं है; जिस किसी पर तेरी छाया पड़ जाती है, वह स्वयं तू बनकर तेरे सम्मुख उपस्थित होता है ।

(ii) हे मनुष्य ! तू प्रत्येक स्थल पर ईश्वर की खोज करता है; परन्तु वास्तव में तू ही ईश्वर है और इस अवस्था में उससे भिन्न है । यह तेरी खोज सागर के लिये बूँद की खोज के यथार्थतः समान है, जब वह सागर के जल में पहिले ही से वर्तमान है ।

वह "मुमुक्षु" को विश्वास दिलाता है............"जब तू इस अवस्था को पूर्णता तक पहुँचा देगा, तब इसमें लेशमात्र भी सन्देह न रहेगा कि तू सत्य है ।"

१—तुलना करो—दीवाने अमीर खुस्रु :—

'काफ़िरे इश्क़म मुसल्मानी मरा दरकार नीस्त,
हर रगे माँ तार गश्ता हाजते जुन्नार नीस्त;
खल्क़ मी गोयद के खुस्रु बुतपरस्ती मी कुनद,
आरे, आरे मी कुनम वा खल्क़े आलम कारे नीस्त ।

अर्थात् प्रेम ने मुझे अविश्वासी (काफ़िर) बना दिया है । मुझको मुसलमान के धर्म की आवश्यकता नहीं है । मेरी प्रत्येक रग तार बन गई है । मुझे जनेऊ की आवश्यकता नहीं (जिसको मूर्ति पूजक ब्राह्मण अपने धर्म (अविश्वासी) के चिह्न रूप में पहनता है) ।

लोग कहते हैं—खुस्रु मूर्ति-पूजा करता है ।

हाँ, हाँ—मैं करता हूँ मुझको संसार के लोगों से कुछ काम नहीं है ।

"मैं ईश्वर हूँ; मैं सत्य हूँ" (अन अल हक़) यह इसका बोध है—या जैसा कि वेदान्ती कहता है—

"मैं ब्रह्म हूँ (ब्रह्मास्मि)।" यह सत्य का सत्य है जिसको वैदिक ऋषियों ने आर्यावर्त के वनों से उद्घोषित किया था और यही सत्य था जिसने हारूँ-अल-रशीद के समृद्ध काल में मुस्लिम जगत् को आश्चर्यान्वित कर दिया, जब अमर शहीद हल्लाज के रक्त की प्रत्येक बूँद बग़दाद की धूलि से चिल्ला उठी—'अन अल हक़'।

अल्लाह, मुहम्मद और कुरान को छोड़कर इस्लाम के समस्त बाह्य अङ्ग वास्तव में दारा के रहस्यवाद में विनष्ट हो गये। राजकुमार की निद्रा भंग हो गई। उसको एक नये जीवन का ज्ञान हुआ जो स्फूर्तिदायक था और जिसमें प्रेरणा थी। तौहीद के सिद्धान्त के अनुसन्धान में वह अन्य धर्मों की प्रामाणिक पुस्तकों तक पहुँच गया। उसको लोग अलकामिल अर्थात् पूर्ण की उपाधि से सम्बोधित करते थे और उसके उदार समकालीन पुरुष उसको सूफ़ी सम्प्रदाय पर प्रमाण मानते थे। वह 'तादात्म्य की गम्भीरता' को पुनः प्राप्त हो गया जो एकत्व के बोध की तृतीय अवस्था है। "अनेकत्व में एकत्व" के सिद्धान्त में उसको दृढ़ विश्वास था जिसका वर्णन शाह दिलरुबा को पत्र न० ५ की आरम्भिक पंक्तियों में है—"उसके नाम में जो सत्ता की एकता में अनुपम है, जिसकी वहिदत (एकत्व) को कोई अनेकत्व (कसरत) छुपा नहीं सकता है और इस समस्त अनेकत्व के होते हुए भी जिसकी वहिदत (अनेकत्व में एकत्व) संख्याओं में संख्या १ के सदृश स्थिर है।"

विभाग ५—दाराशिकोह का ईश्वरवाद

'अनेकत्व में एकत्व' के नियमानुसार समझा हुआ क़ुरान का निश्चल एकेश्वर-वाद दारा के ईश्वरवाद की कुञ्जी है। मुसलमान के हृदय में एक से अधिक के लिये कोई स्थान नहीं है। उसकी आत्मा की शान्ति के निमित्त प्राकृतिक और आध्यात्मिक जगत दोनों में या तो "मैं" या "वह" का सर्वनाश हो जाना चाहिये। मुसलमान का यह धर्म है कि 'जिहाद' (धर्म युद्ध) करता रहे—अन्दर की ओर अपनी नीच प्रकृति (नफ़्स) के विरुद्ध और बाहर की ओर अन्यों से जो ईश्वर का एकत्व नहीं मानते हैं। अपने जन्मजात अहंभाव—"मैं हूँ और कोई नहीं"—को साथ लेकर गर्वशील मुसलमान योद्धा दूसरों को जीतने निकलता है। तलवार के तर्क* द्वारा सर्वनाश की क्रूर रीति से वह ईश्वर के एकत्व का और स्वयं अपना बोध प्राप्त करना चाहता है। इस्लाम का सन्त भी सदैव सतर्क रहता है कि 'अन्यों' से संघर्ष करे जो विपत्तियों के रूप में (ख़तरात) उसके हृदय के अन्दर घुसना चाहते हैं। उनसे उसका मल्लयुद्ध होता रहता है जब तक

पहचानता है और अविश्वास के मल के नीचे उसको शुद्ध विश्वास के दर्शन होते हैं। एक ही "अस्तित्व" की ओर देखने में हिन्दु और मुसलमान के बीच उसको केवल दृष्टिकोण का भेद दिखाई देता है। वे परस्पर बच्चों की तरह झगड़ते हैं क्योंकि उनमें से कोई सम्पूर्ण परम सत्य को नहीं जानता है और दोनों निन्दनीय हठ से अपनी मूर्खता और अपने अज्ञान में डटे रहते हैं। और दोनों धर्मों के साधारण अनुचर भी सूफ़ी को सन्देह-दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वह शान्ति का परामर्श देता है और सम्पूर्ण सत्य का साक्षात् करने में वह दोनों को ठीक रास्ते पर लगाना चाहता है। उनको अपने "स्वार्थ" से छुड़ाने में उसको निराशा होती है और ग्लानि से यह कह कर वह हट जाता है, जैसा कि दया और ग्लानि से दाराशिकोह ने कहा:—

"मरा ब उमुअमे ईं हर दो क़ौम कारे नीस्त"

अर्थात्—"इन दोनों जातियों के जन-साधारण से मेरा कोई वास्ता नहीं है"।[1] इन जातियों के चुने हुए लोगों की ओर उसका ध्यान गया और उसको आशा हुई कि इस 'निर्धारित वर्ग' के प्रयास से कभी न कभी इन जातियों में सामान्य ऐक्य स्थापित करने में वह सफल हो जायगा।

सच्चा अविश्वासी 'बहु' को 'एक' में निमग्न देखता और मुसलमान सिवाय इसके और कुछ नहीं देखता कि 'एक' 'बहु' में प्रकट है। मुस्लिम तत्वद्रष्टाओं की पारिभाषिक शब्दावली में "हुविय्या"—अर्थात् 'तत्-त्व' और "अनिय्या"—अर्थात्—'अहं-त्व' का पारस्परिक भेद "वहिदिय्या" में लुप्त हो जाता है—अर्थात् ऐसे बहुत्व में जो तत्वतः एक दूसरे से तथा एकत्व से अभिन्न है।[2] वहिदिय्या अर्थात् बहुत्व में एकत्व का यह नियम दारा के अध्यात्मदर्शन की आधारशिला था। दाराशिकोह के जन्म के अनेक शताब्दियों पहले संसार इस नियम पर एक मत हो गया था, परन्तु वह लेशमात्र सुखी न था और न उनमें ऐक्य का कोई लक्षण दृष्टिगोचर होता था। लोगों में छाया के पीछे संघर्ष हो सकता है, चाहे वास्तविकता के विषय में परस्पर कोई मतभेद न हो और ईश्वर के नाम में वे रक्तपात करते थे। अतः नाम विशेष से ईश्वर की पूजा पर मनुष्य जाति सहमत नहीं हो सकती है क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय उसको भिन्न नाम से पुकारेगा। अतः दार्शनिक राजकुमार ने अब से तीन-सौ वर्ष पहले भारत की नव शुभवार्ता का उद्घोष किया और इस्लाम और हिन्दू धर्म रूपी दो महासागरों को एक करने के अपने दैवी ध्येय के प्रति ईश्वर के

१—मज्मुआत बहरैन का परिचय।

२—देखो निकल्सन का 'इस्लामी रहस्यवाद का अध्ययन' पृ० ६६-६७।

आशीर्वाद का आह्वान किया। उसने कहा—"उसके नाम में जो अ-नाम है; परन्तु जो किसी अभीष्ट नाम से अपने को प्रकट करता है; उस प्रियतम की असीम स्तुति की जाये जो अनुपम सुन्दर मुख पर हिन्दु धर्म और इस्लाम को धारण किये हुए है। जो दो अभिमुखी बिन्दुओं की भाँति एक दूसरे के विपरीत हैं, जो परमात्मा इन दोनों में से किसी को अपने मधुर मुख पर आवरण नहीं बनने देता है। हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों उसकी खोज में हैं, दोनों यह घोषित करते हैं—"वह एक अद्वितीय है, वह सर्वत्र विराजमान है, वह आदि है, वह अन्त है और उसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है। वह पड़ोसी है, मित्र है, सहयात्री है। वह फ़क़ीर के फटे-पुराने चिथड़ों में है और वह राजा के रेशमी वस्त्रों में है। सभ्य जनों की सभा में और संसार के उपेक्षित कोणों में ऐसे लोग हैं जो उसको पहचानते हैं।[1]

अध्ययन और गूढ़ आध्यात्मिक अभ्यासों द्वारा दारा ने दार्शनिक कल्पना प्राप्त करली जो सूफ़ी के विचार में सत्य दृष्टि और दैवी क्षमता है। दैवी तत्व को और उसके विशेषणों के साथ उसके सम्बन्धों को समझाने के लिये और इससे भी आगे अपनी आत्मा को पहचानने के लिये खोजी को एकमात्र यही शक्ति समर्थ बनाती है। रिसाला में अपने काल्पनिक शिष्य को राजकुमार कहता है—"जब यह पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, जहाँ कहीं भी तू दृष्टिपात करेगा, तुझको तूही दिखाई पड़ेगा और सर्वत्र तू अपने ही एकत्व को पायेगा। सावधान रहो और विना रूप और, विशेषण के उसका ध्यान न करो। उस दशा में तुझको 'तश्बीह' अर्थात्—विश्व में, जो उसकी मूर्ति है, उसके संदर्शन का सौभाग्य प्राप्त न होगा। इसी प्रकार सावधान रहो कि केवल प्रकटित रूपों की समानता तक तथा गुणों तक उसके सम्बन्ध की अपनी धारणा को तुम सीमित न कर दो—अन्यथा तन्जीह—अर्थात् अव्यक्तित्व की उसकी सम्पदा में अपने भाग से तू वञ्चित रह जायेगा, परन्तु तुझको ज्ञान होना चाहिये कि शुद्ध भाव तथा अशुद्ध भाव, (अर्थात्–निर्गुण भाव तथा सगुण भाव) व्यक्तित्व तथा अव्यक्तित्व (तशबीह और तंजीह) उसी के प्रकटीकृत रूपों और आत्म-सीमितीकरण के अंग हैं। यदि तेरा विचार है कि छोटे-से-छोटा अणु भी उससे अलग है, तो अवश्य ही एकत्व और ज्ञान (तौहीद व इर्फ़ान) का परम आशीर्वाद तेरे लिये निषिद्ध हो जायेगा।"[2] सूफ़ी के अनुसार ईश्वर का ज्ञान अपने आपका ज्ञान है जिसको मदिरा के मद की भाँति कुछ ही लोग सहन कर सकते हैं। उसके मद में उपासक अपने आँपको भूल जाता

१—मज्मु-अल-बहरैन का परिचय। यह स्वतन्त्र अनुवाद है।

२—देखो, रिसालै हक़नुमा पृ० २३; फारसी पाठ्य पृ० २३।

है और ऐसी बातें कहता है जिनमें अदीक्षित को पाषंड और अधर्म की गन्ध आती है। अपनी ओर संकेत करके प्रसिद्ध सन्त अबु सईद एक अवसर पर चिल्ला उठा—"इस वस्त्र में अल्लाह के सिवाय और कोई नहीं है।"

विभाग ६—दाराशिकोह द्वारा प्राप्त वास्तविक आध्यात्मिक प्रगति

आध्यात्मिक उत्कर्ष की यह ऊपर दी हुई चरम सीमा है और इसके आगे सिवाय पीछे लौटने के और कोई प्रगति शक्य नहीं है। एकत्व के बोध की तृतीय या अन्तिम अवस्था की प्राप्ति उस समय होती है जब सूफ़ी पीछे लौटने लगता है और 'संयोग के गाम्भीर्य' को (सहवल्-जम) पुनः प्राप्त कर लेता है। "यह वह अवस्था है जिसमें साधक द्वितीय अवस्था के शुद्ध एकत्व से एकत्व में बहुत्व तथा संयोग में वियोग और सत्य में व्यवस्था की दशा पर वापस आ जाता है। इसके परिणामस्वरूप ईश्वर के संयोग में रहते हुए भी वह ईश्वर की उसी प्रकार से सेवा करता है जैसे दास अपने स्वामी की सेवा करता है और दैवी जीवन को उसकी पूर्णता—अर्थात् मनुष्यता – में प्रकट करता है।"[१] आध्यात्मिक यात्रा का मार्ग वृत्त की परिधि के समान है जो आरम्भ-बिन्दु पर समाप्त होती है। सूफ़ी अपना आरोहण (उरूज) आलमे नसूत (पार्थिव लोक वा दृष्टिगत संसार) से प्रारम्भ करता है, क्रमशः आलमे मलकूत (मनोभाव लोक वा आत्माओं का संसार), आलमे जबरूत (आनन्द, संयोग और संतोष का लोक), अन्त में आलमे-लाहूत जिसको आलमे हव्वियात भी कहते हैं (तत्-त्व वा पूर्ण सत्य का लोक) को प्राप्त होता है। अपने रिसालए हक़नुमा में दाराशिकोह इन चारों लोकों का चित्ताकर्षक वर्णन देता है जिसके द्वारा जनसाधारण को उस अनुभव की कुछ सुगन्ध आ जाती है जिससे उसको सहायता प्राप्त हुई थी "और जो उसने स्वयं उपार्जित किया था।" चूँकि आलमे लाहूत ईश्वरत्व का लोक है, वह साधक का स्थायी निवास-स्थान नहीं बन सकता है। उसकी यात्रा सम्पूर्ण हो जाती है जबकि आलमे नसूत में वह फिर उतर आता है जो मनुष्य का उचित निवास-स्थान है।

ऊपर उद्धृत की गई संयोग के गांभीर्य की इस अवस्था की शास्त्रीय परिभाषा को यदि हम स्वीकृत कर लें, तो दारा कभी इसको पूर्णतया प्राप्त न हुआ क्योंकि अपने अन्त समय तक वह विधि-विधान (शरीयत) के प्रति उदासीन रहा और इस स्थिति में कट्टर पन्थियों की सम्मति में वह इसमें सफल न हुआ कि दैवी जीवन को उसकी पूर्णता—मनुष्यता—में वह प्रकट कर सके।

१—"एकत्व" के तीनों अवस्थानों के वर्णन के लिये देखो निकल्सन का 'इस्लामी रहस्यवाद का अध्ययन' पृ० २३०, पाद० टिप्पणी ३२६–३२७।

ऐसा मालूम होता है कि जब उसने अपना अगला पत्र (नं० ५) शाह दिलरुबा को लिखा, राकुजमार ने कुछ अंश में संयोग के इस गाम्भीर्य को प्राप्त कर लिया था। इस पत्र की आरम्भिक पंक्तियों में ईश्वर की स्तुति वह पद्य में न करके कठोर गद्य में करता है और बहुत्व में एकत्व के नियम का प्रतिपादन करता है—"उस के नाम में जो अपने अस्तित्व के एकत्व में अनुपमेय और अद्वितीय है, जिसका सम्पूर्ण एकत्व किसी बहुत्व (कसरत) को गुप्त नहीं रख सकता है; और इस समस्त बहुत्व के होते हुए भी जिसका एकत्व संख्याओं में संख्या एक के समान स्थिर है।" सूफ़ी सम्प्रदाय का शास्त्रीय मत, यद्यपि वह स्वयं गूढ़ार्थक है, किसी भी व्यक्ति को पूर्ण एकत्ववादी मानने से इन्कार कर देगा यदि वह 'संयोग की मादकता' के बाद शरीयत (स्मृति) के मार्ग पर वापस नहीं आ जाता है। परन्तु दाराशिकोह उन भक्त विद्रोहियों में था जो इसको आवश्यक न मानते थे कि सत्य के साक्षात्कार के बाद विधि-निषेध का अक्षरशः पालन कर्तव्य है। जब सत्य (हक़ीक़त) का उदय होता है, तो इन साहसी विधि-भंजकों के अनुसार सूफ़ी सम्पूर्ण मनुष्य (कामिल) हो जाता है, जिसका अस्तित्व आंशिक रूप से बढ़ कर व्यापक रूप में प्रसृत हो जाता है और जिस पर कोई सम्प्रदाय या जाति पूर्णतया अपना स्वत्व नहीं स्थापित कर सकती।[1] उनका धर्म का आधिक्य अधर्म हो जाता है और उनका पूर्व धर्मोन्माद और उत्साह शान्त होकर उदासीनता का रूप धारण कर लेता है। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मुसलमान ईश्वरवादियों ने दारा शिकोह पर अनेकेश्वरवादी होने का सन्देह किया और उसका उत्साही विदेशी पक्षपोषक मनुची भी किसी विशेष धर्मावलम्बी होने का श्रेय उसको न दे सका। यह बात अवश्य है, कि उसके समकालीन सन्त शायद पारस्परिक प्रशंसा में उसको सम्पूर्ण मनुष्य (अल् कामिल) कहते थे। तौहीद अथवा एकत्ववाद के सिद्धान्त को उसने एक धर्म का रूप दे दिया और अपनी जिज्ञासा को अविश्वास (कुफ्र) की सीमा तक पहुँचा दिया।

१—तुलना करो—यह तथ्य तुझको आंशिक से व्यापक बना देगा, बिन्दु से सागर, रेत के एक चमकीले कण से सूर्य और तुझको असत् से सत् बना देगा।" (अज़ जुस्त तुरा कुल सूज़द, अज़ क़तरा दरिया, अज़ ज़र्रा आफ़्ताब, अज़नीस्त इस्त) देखो रिसाला, पाठ्य, पृ० २७।

अध्याय ६
दाराशिकोह का साहित्यिक कर्त्तृत्व

इसमें सन्देह नहीं है कि दाराशिकोह अपने देश और काल का महत्तम विद्वान् था और तैमूर के वंश का सर्वोपरि विद्वान् राजकुमार था। विद्या के क्षेत्र में वह नव-दीक्षित न था; किन्तु ब्रह्मविद्या का वह उत्साही विद्यार्थी था। ईश्वर प्रेरित धर्मों में बहुत्व में एकत्व के सिद्धान्त का अन्वेषण करने का उसको अनुराग था। उसकी साहित्यिक कार्यशीलता का इतिहास उसकी आध्यात्मिकता के विकास का भी इतिहास है। उसके विचारानुसार दार्शनिक अन्वेषण धार्मिक उपासना का अंग था। ईश्वर—मनुष्यता में साकार दैवत्व—के प्रति उसके ग्रन्थ उसकी सर्वोत्तम प्रार्थनायें थीं। उसको विश्वास था कि तौहीद—अर्थात् अद्वैतवाद—ने शुद्ध जल की भाँति विभिन्न पात्रों में विभिन्न रंग धारण कर लिये हैं (अर्थात्-विविध धर्मों में—जो केवल बाहर से भिन्न हैं, परन्तु जो सार रूप से पूर्णतया एक हैं)। शहीद की लगन और उसके साहस से उसने अपनी तेजस्वी और सुसाध्य लेखनी का उपयोग किया। उसका उद्देश्य था कि यह महान् सत्य जन-विख्यात हो जाये। उसको विश्वास था कि इस सिद्धान्त से धार्मिक कलह का घाव जो मनुष्य जाति के मर्म-स्थलों का नाश कर रहा था, भर जायगा। मुहम्मद के धर्म को ठुकरा कर नहीं; परन्तु उसमें मौलिक अर्थ को ग्रहण करके, इस्लाम के विशाल मस्तिष्क से संकीर्णता का कलंक हटाकर, उसने अपना कार्य सम्पादित किया। उसने सिद्ध किया कि इस्लाम का वक्षस्थल मुसलमान के हृदय से कम विस्तृत नहीं है। केवल हृदय ही—स्वयं ईश्वर के शब्दों में—उस परमात्मा को स्थान दे सकता है जिसको स्वर्ग और पृथ्वी स्थान नहीं दे सकते हैं।

दाराशिकोह के साहित्यिक प्रयास के इतिहास में दो पृथक्-पृथक् काल हैं। १६४७ ई० तक अर्थात् रिसालै हक़नुमा के सम्पादन तक सर्वेश्वरवाद के सूफ़ी सिद्धान्त में दारा मुख्यतया व्यस्त रहा। १६४७ से १६५७ तक यहूदी, ईसाई और हिन्दूधर्मों के अध्ययन में वह व्यस्त रहा। इस समय में उसका उद्देश्य यह था कि इन धर्मों के अन्तर्निहत सिद्धान्तों का वह अन्वेषण करे और इस्लाम के विश्वासों से वह उनका सामञ्जस्य करे। सम्भवतया इसी समय में सुप्रसिद्ध यहूदी सन्त सरमद के पास वह उसका शिष्य बनकर गया कि यहूदी धर्म का अध्ययन करे। अपने प्रिय शिष्य अभयचन्द के साथ सरमद इस समय शाहजहाँ की नई दिल्ली में रह रहा था। अभयचन्द ने मूसा की पुस्तक के एक भाग का अनुवाद फ़ारसी में किया

था जिसका संशोधन उसके गुरु सरमद ने किया था।[1] यही ग्रन्थ पेन्टाटियूश के सम्बन्ध में दाराशिकोह के ज्ञान का सामान्य स्रोत था। उसके मित्र और भक्त दबिस्तान के लेखक के लिये भी यही ग्रन्थ यहूदी धर्म के ज्ञान का आधार था। ईसाई धर्म-ग्रन्थों और गीतों के अध्ययन में इतना कष्ट न उठाना पड़ा क्योंकि भारत में लोग पहले से ही उन ग्रन्थों से परिचित थे—विशेष कर आगरा में जो जसुइट पादरियों के प्रचार का प्रसिद्ध केन्द्र-स्थान था। मनुची कहता है कि दारा को हर्ष होता जब वह सुनता कि ईसाई पादरियों ने अपनी युक्तियों द्वारा अन्य धर्मों के वीरों को परास्त कर दिया है। चार जसुइट प्रचारकों को दारा की घनिष्ठता प्राप्त थी—ये थे साधु इस्टेनिलास मलपिका (नेपिल्स निवासी), पेड्रोजुज़ारटे (पुर्त्तगाली) साधु हेन्री बुज़्यो (फ़्लेमिंग) और हेन्रिक रोथा (जर्मन)। मनुची के अनुसार राजकुमार को उनके साथ कभी-कभी मदिरापान करने का शौक़ था।

भारत में इस्लाम के आगमन के पहले ही गूढ़ इस्लामी अध्यात्म में हिन्दू दर्शन-शास्त्र का प्रवेश हो चुका था। ११वीं शताब्दी में अल्बेरूनी ने और १६वीं शताब्दी में अबुलफ़ज़्ल ने हिन्दुओं के षट्दर्शन को मुसलमानों के लिये सुलभ बना दिया था। अकबर के काल के साहित्यिक पुनरुज्जीवन से मुसलमानों को संस्कृत साहित्य में और हिन्दूधर्म में अधिक रुचि होने लगी थी। महाभारत, रामायण तथा अथर्ववेद का फ़ारसी में अनुवाद कराकर अकबर ने साधारण हिन्दूधर्म को मुसलमानों के सम्मुख उपस्थित कर दिया था; परन्तु इन अनुवादों से फ़ारसी से सुपरिचित, अर्ध-मुसलिम, हिन्दु राजकीय सामन्त-वर्ग की भविष्यत् संतति को अपेक्षाकृत अधिक लाभ हुआ क्योंकि उनके स्वदेशोत्पन्न मुसलमान इन पुस्तकों की सहायता से हिन्दुधर्म के विषय में कोई उच्च धारणा न बना सके। इन संस्कृत ग्रन्थों की आख्यायिकाओं और दृष्टान्तों में सुनिहित उच्च दार्शनिक सत्यों और धार्मिक तत्वों को मुसलमान प्राप्त न कर सके। बदायूँनी उस समय का आदर्श मुल्ला था जो मुसलिम जनता की दृष्टि में प्रमाण-पुरुष और उच्चतम भक्त था। उसकी सम्मति में काफ़िरों की धर्म-पुस्तकों के अनुवाद में व्यस्त होना पाप था। उसको हिन्दुओं के सम्बन्ध में तीन बातें मालूम हुईं—अर्थात् प्राचीन समय में वे गोमांस खाते थे और अपनी लाशों को गाड़ते थे तथा अथर्ववेद में एक मन्त्र था जो अर्थ और ध्वनि में मुसलिम कलमा के सदृश था क्योंकि उसमें अनेक 'ल' थे।

दाराशिकोह ने हिन्दु दर्शन-शास्त्र के मूल स्रोत पर अधिकार प्राप्त कर लिया

१—देखो शिआ का दबिस्तान, II २९९-३००।

तथा उसके प्रमाणिक दार्शनिक ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद कर उसने हिन्दु-धर्म के उच्चतम और महत्तम सिद्धान्तों को आकर्षक रूप देकर उनको मुसलमानों के सम्मुख उपस्थित कर दिया। 'अर्जुन और दुर्योधन के बीच युद्ध'—यह भ्रामक नाम देकर उसने (स्पष्टतया पण्डितों की सहायता से) भगवद्गीता[1] का अनुवाद किया। उसने इसको १८ अध्यायों में विभाजित किया जैसा कि हमको इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति से मालूम होता है, जो इण्डिया आफ़िस लायब्रेरी (भारतीय कार्यालय पुस्तकागार) में विद्यमान है और जिसमें इस आशय की एक पाद-टिप्पणी है। प्रसिद्ध दार्शनिक नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का 'गुल्ज़ारेहाल' नाम से फ़ारसी में अनुवाद किया गया[2]। यह दाराशिकोह के उपयोग के लिये तैयार किया गया था और इसका अनुवादक था उसी का मुन्शी बनवालीदास जिसने राजकुमार के कृपा-पात्र ज्योतिषी भवानीदास की सहायता से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया था। स्वामी नन्ददास कृत इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद इस फ़ारसी अनुवाद का मूल था। बोडलेअन पुस्तकालय में "तर्जुमे जोगवासिष्ठ" (योग-वासिष्ठ का अनुवाद)[3] नामक एक फ़ारसी पुस्तक है जो दारा के लिये तैयार की गयी थी।

उपरिवर्णित पुस्तकों को छोड़कर जो दारा के आश्रय में लिखी गईं थीं, दारा स्वयं फ़ारसी में निम्नलिखित पुस्तकों का लेखक था:—

१—सफ़ीनतुल्-औलिया—मुसलमान सन्तों की जीवनियाँ—को दारा ने लिखा जब वह सूफ़ी-वाद के मार्ग में कष्टपूर्ण खोज कर रहा था। १६३९ ई० में यह ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हुआ जब राजकुमार की आयु लगभग २४ वर्ष की थी।

१—इथे कृत इण्डिया आफिस लायब्रेरी की पुस्तक सूची (पृ० ११११), हस्त लिखित-नं० १९४९—"इस ग्रन्थ की ब्रिटिश म्यूज़ियम की प्रति में ग़लती से यह अबुलफ़ज़ल के नाम से लिख दी गई है। वास्तविक अनुवादक था दाराशिकोह जैसा कि वर्तमान् प्रति के पृ० १३ पर एक टिप्पणी से सिद्ध होता है।"

२—इण्डिया आफिस लायब्रेरी की पुस्तक सूची पृ० ११११ हस्तलिखित न० १९९५। मनुची का वर्णन है कि दारा का सर्वोपरि कृपापात्र ज्योतिषी भगवानदास था (कहावतें, I २२३)।

३—इथे और सचाऊ कृत बोडलेअन पुस्तकालय की पुस्तक सूची–जिल्द VIII पृ० ८१८। दबिस्तान के लेखक का वर्णन है कि एक सूफ़ी मुल्ला मुहम्मद ने 'जोग वासिष्ठ' के कुछ भागों का अनुवाद किया था। मिश्रबन्धु विनोद (हिन्दी में हिन्दी साहित्य का इतिहास) से हमको पता चलता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने हिन्दी में इस ग्रन्थ का सार लिखा था और इसका नाम जोगवासिष्ठसार था (म० ब० वि० II ४५३)। शायद यह ग्रन्थ उसके आश्रय-दाता दाराशिकोह के लिये लिखा गया था।

यह समस्त ग्रन्थ उत्तम भावनाओं से भरपूर है जो उसके विस्तृत अध्ययन की—विशेषकर सूफ़ी साहित्य की—साक्षी है। उसकी प्रथम साहित्यिक कृति में दारा के आध्यात्मिक जीवन के विकास की प्रथम स्थिति का अध्ययन बहुत रोचक है।

२—उसकी द्वितीय पुस्तक सूफ़ीनतुल-औलिया—उसके धार्मिक जीवन की अधिक परिपक्व अवस्था को सूचित करती है। वह कहता है—"जब मैं मार्ग की विभिन्न मंजिलों से तथा अनुशासन के नियमों से अधिक सुपरिचित हो गया........ मैंने अपने ही शेखों के (उसका अभिप्राय क़ादिरिया सम्प्रदाय के सन्तों से है) विभिन्न चिह्नों, आचरणों, अवस्थाओं और चमत्कारों पर एक पुस्तक का सम्पादन किया और 'सफ़ीनतुल-अवलिया' इसका नाम रखा।" इसमें मुख्यतया लाहौर के प्रसिद्ध सन्त मियाँ मीर के जीवन का वर्णन है।

३—उसकी तृतीय साहित्यिक कृति "रिसालै हक़नुमा"—अर्थात् सत्यार्थ दर्शन—है जिसका निर्माण सूफ़ीवाद के मार्ग में नवदीक्षितों के शिक्षण के लिये किया गया था। इसमें मुरीद (शिष्य) को पीर (गुरु) की भाँति दारा सम्बोधित करता है, यद्यपि वह इन शब्दों के उपयोग की निन्दा करता है। वह मुरीद को मित्र की भाँति सम्बोधित करता है और वह अपना उल्लेख प्रथम पुरुष में करता है—जुलियस के गर्व से नहीं, परन्तु फ़क़ीर की मूलभूत दीनता से। कहा जाता है कि अगस्त, १६४५ और जनवरी, १६४७ के बीच में दैवी प्रेरणा से इस पुस्तिका का निर्माण हुआ। चूँकि अप्रैल से १५ अगस्त, १६४५ तक दारा काश्मीर में सम्राट् के साथ था, उसको यह प्रेरणा काश्मीर में शुक्रवार १७ रजब (१९ अगस्त, १६४५) को अवश्य प्राप्त हुई होगी।[1] यह १६४६ का वर्ष रिसाला जिसमें लिखा गया दारा के लिये चिन्ताकुल और विपत्ति-जनक था क्योंकि उसकी प्रिय पत्नी नादिरा बेगम दीर्घकालीन रुग्णता से ११ मास तक पीड़ित रही और फ़रवरी, १६४७ में उसको स्वास्थ्य लाभ हुआ।[2] 'परिचय' में दारा कहता है—"यह ध्यान रखो कि इस पुस्तिका में चार अध्याय (चहाय फ़स्ल) हैं और प्रत्येक अध्याय में एक आलम—अर्थात् जीवन लोक का वर्णन है।" (फ़ारसी पाठ्य, पृ० ८)। परन्तु रिसालै हक़नुमा में, जो हस्तलिखित रूप में और छापे में भी विद्यमान है, ६ अध्याय हैं। इससे यह

१—नवलकिशोर प्रेस के लिथो पाठ्य में ८ 'रजब' है, जो शुक्रवार न होकर बुधवार है। स्पष्ट है कि सम्भवतया १७ रजब के स्थान पर यह चूक से छप गया है। देखो पाठ्य, पृ० ४।

२—दारा सम्राट् के साथ काश्मीर जाता है—पाद० II ४१३; लाहौर को वापस आता है—वही, पृ० ४६७–९; शाहजहाँ नादिरा बेगम को उसके स्वास्थ्य-लाभ के बाद देखने जाता है—वही, पृ० ६३४।

अनुमान लगाना युक्तिसंगत है कि रिसाला में पहले चार अध्याय थे और इसके अन्त में चतुर्थ तथा उच्चतम लोक—अर्थात् आलमे लाहूत का वर्णन था। सत्य के स्वभाव पर अन्तिम दो अध्याय निःस्सन्देह दारा के लिखे हुए हैं; परन्तु ऐसा मालूम होता है कि बाद में परिशिष्ट रूप से उनकी अभिवृद्धि कर दी गई है।

प्रत्येक विद्वान् ब्रह्मविद्या-प्रिय मुसलमान की भाँति दारा पर नव प्लेटो-वाद का गहरा प्रभाव पड़ा।[१] वह कहता है कि वह केवल उन बातों का उल्लेख करेगा जिनको उसने अपने आध्यात्मिक गुरुओं से सुना था या जिनको उसने सूफ़ीवाद के प्रामाणिक ग्रन्थों में पढ़ा था। यह अनुचित होगा कि हम विवेचनात्मक और वैज्ञानिक भाव की ऐसे लेखक से अपेक्षा करें जो भक्त हो और गूढ़वाद का वर्णन कर रहा हो। अपने समस्त अवगुणों और शुभगुणों सहित रिसालै हक़नुमा दारा के व्यक्तित्व और चरित्र का सच्चा दर्पण है। उसके प्रति पूर्णरूप से न्यायशील होने पर यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि लेखक के प्रति पूर्ण न्याय केवल वह लोग कर सकते हैं जिनके पास आध्यात्मिक दृष्टि है। इतने अल्प विस्तार में इससे अधिक आकर्षक और सुगम रूप में किसी अन्य लेखक ने किसी समय में सूफ़ीवाद के मूल तत्वों का वर्णन नहीं किया था।

४—मज्मुअ-उल-बहरैन (दो सागरों का सम्मिलन)—दाराशिकोह द्वारा हिन्दु-धर्म और इस्लाम-धर्म के तुलनात्मक अध्ययन का प्रथम फल यह पुस्तिका है। इसकी रचना की तिथि निश्चित नहीं है; परन्तु इसमें बहुत कम सन्देह है कि यह १६५०–१६५६ के बीच में लिखी गई। इसका परिचय राजकुमार विशुद्ध शास्त्रीय शैली में लिखता है। आरम्भ में ईश्वर की स्तुति है जो इस्लाम और हिन्दु-धर्म की सम्मिलन भूमि है। इसके बाद मुस्तफ़ा (पैग़म्बर), उसके परिवार और उसके मुख्य साथियों के कल्याण और शान्ति के निमित्त आशीर्वचन हैं। ये वचन यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि दारा ने ईश्वर और उसके रसूल के प्रति अपनी निष्ठा का त्याग नहीं कर दिया था। राजकुमार कहता है कि हिन्दुओं की निरन्तर संगति से और उनके साथ नित्यप्रति वार्तालाप से उसको पता लगा कि ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के सम्बन्ध में उपायों और साधनों के विषय में हिन्दुओं और मुसलमानों में केवल शब्दमात्र का भेद था। भाषा और अभिव्यक्ति का ही झगड़ा था (इख़्तलाफ़े लफ़्ज़ी—शाब्दिक भेद)। इस ग्रन्थ में सृष्टिवाद के उन मूल सिद्धान्तों का उसने संकलन किया है जो ब्राह्मणधर्म और इस्लाम में समान हैं। रचयिता के गर्व में राजकुमार

१—"जब प्लेटो ने यह सुना, उसको मूसा में विश्वास हो गया और उसने स्वीकार कर लिया कि वह ईश्वर का सन्देशवाहक था (रिसाला—पाठ्य, पृ० १८; रिसालैहक़नुमा, पृ० १८)।

कहता है कि वह दोनों जातियों के चुनीदा लोगों के लिये उस पुस्तक को लिख रहा है, केवल जिनको उसके परिश्रम और अनुसन्धान से लाभ हो सकता है। दोनों धर्मों के जन-साधारण—ज्योतिहीन मूर्खों—(कुन्द फ़हमाँने ग़ैरबीन) के प्रति घृणा के अतिरिक्त और कोई भावना उसके पास नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं है कि राजकुमार ने अनुसन्धान का एक मौलिक मार्ग ढूँढ़ निकाला जिसका अनुसरण यदि इस उपेक्षित जन-साधारण के कल्याण के लिये सच्चाई से किया जावे, तो वर्तमान शताब्दी में उच्च परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। भारत के दोनों आध्यात्मिक तत्वों का पारस्परिक बोध और उनकी दोनों स्पष्टतया विरोधी संस्कृतियों के विवेचनात्मक अध्ययन के निमित्त नवीन प्रयास आवश्यक है क्योंकि भारत का भाग्य इस पर निर्भर है।

दाराशिकोह का यह ग्रन्थ इस दिशा में प्रथम गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण प्रयास है और इस दशा में भारतीय इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इसमें अद्भुत आकर्षण है। अल्बेरूनी की भाँति दारा कोई महान् संस्कृतज्ञ न था और न उस प्रसिद्ध विद्वान् की प्रशान्त निर्णायक शक्ति और विवेचनात्मक योग्यता दारा में थी। अधिकतर उसको पण्डितों का सहारा लेना पड़ता था जो अपने साहित्य और दर्शन का अर्थ करने में कभी-कभी ही एक मत हो सकते हैं। इन कमियों के कारण राजकुमार के निर्णय आधुनिक समय के विशेषज्ञों को सर्वथा स्वीकार्य नहीं हो सकते हैं। इस पुस्तक में राजकुमार का मुख्य मन्तव्य यह सिद्ध करना था कि सृष्टि-रचना के विषय में हिन्दुओं के विचार उन विचारों के सदृश हैं जो कि क़ुरान में पाये जाते हैं। राजकुमार का कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य था। अतः इसमें आश्चर्य न होना चाहिये यदि कभी-कभी उसकी उपमायें तथा समानताएँ असंगत और ऊपरी हों।[1]

विभाग ४—सिर्रे अकबर या सिर्रुल् अकबर

सिर्रे अक़बर (गुह्यतम) या जैसा कि कुछ हस्तलिखित प्रतियों में पाया जाता है सिर्रुल् अकबर (गुह्याद्गुह्यतम) नामक ५२ उपनिषदों का उनकी मूल संस्कृत से सुन्दर सर्वाङ्गपूर्ण फारसी गद्य में अनुवाद दारा की अन्तिम तथा महत्तम साहित्यिक निष्पत्ति है। उपनिषदों के फ़ारसी चोले में इस सिर्रे अकबर या सिर्रुल् अकबर नाम से अधिक उपयुक्त नाम की कल्पना नहीं की जा सकती है क्योंकि दोनों ही उनके अन्तर्गत विषयों के अत्यन्त सूचक हैं जिनको आर्य ऋषियों

१—चूँकि हाल में ए० एस० बी० के मन्त्री ने घोषित किया है कि अनुवाद सहित मजमुअ-अल्-बहरैन के सम्पूर्ण पाठ्यांश का प्रकाशन हो जायेगा, यह अनावश्यक हो जाता है कि इस स्थान पर स्पष्टीकरण के निमित्त इस ग्रन्थ के किसी भाग का अनुवाद दिया जाये।

—लेखक

ने सदैव 'गुह्याद्गुह्यतम' स्वीकार किया। अपने ग्रन्थ-परिचय को दारा समान रूप से उपयुक्त ईश्वर की स्तुति से प्रारम्भ करता है जिसके 'सार' की तुलना वह बिन्दु या शून्य से करता है, जिसका अस्तित्व है, परन्तु जिसमें लम्बाई, चौड़ाई या गहराई नहीं हैं, जो अविभाज्य तथा सर्वव्यापक है। दारा के आध्यात्मिक अनुभव का यह वास्तव में निःश्रेयस है तथा ईश्वर के प्रत्येक खोजी के अनुभव का भी—ईश्वर जिसकी सत्ता लोग मानते हैं, परन्तु जिसकी सत्ता का वर्णन केवल नकारात्मक—नेतिनेति—शब्दों में ही हो सकता है। यद्यपि उसकी विद्यमानता सदैव स्वतः स्पष्ट है। ईश्वर के एकत्व या तौहीद के सिद्धान्त के पूर्णतम स्पष्टीकरण के प्रति उसकी यह अतृप्य पिपासा ही थी जिसने अन्त में उसको अपने इस मूल-भूत स्रोत उपनिषदों तक पहुँचा दिया। राजकुमार को क़ुरान से इसका संकेत प्राप्त हुआ, जो कहती है—"वास्तव में यह सम्मानित क़ुरान एक पुस्तक में है जो गुप्त है। विशुद्ध आत्माओं के अतिरिक्त कोई इसका स्पर्श नहीं कर सकता है। यह स्वयं भूमण्डल के स्वामी की ओर से प्रेरणा है" (सूरा ५६)। और इस उद्धरण पर टीका करते हुए दारा कहता है कि यह (गुप्त पुस्तक) न तो जबूर (गीति-संग्रह) हो सकती है, न तौरीत (मूसा की पुस्तकें), न इञ्जील (धर्मोपदेश), और न इसका अभिप्राय लौहे महफ़ूज़ से है जो ईश्वर के सिंहासन के नीचे सुरक्षित पट्टिका है—क्योंकि शब्द तञ्जील का अर्थ है कोई वस्तु जो प्रेरित की गई हो और 'सुरक्षित पट्टिका' यह वस्तु नहीं है। उसके अनुसार क़ुरान की गुप्त पुस्तक उपनिषद् के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकती है, क्योंकि निरुक्तानुसार उपनिषद् का अर्थ होता है—वह वस्तु जिसका उपदेश गुप्त अवस्था में हो। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार दारा ठीक कहता है, क्योंकि उपर्युक्त तीनों धर्म-ग्रन्थों से उपनिषद् प्राचीन हैं। परन्तु क़ुरान के इस पद के दारा द्वारा किये गये अर्थ से कोई भी सहमत न होगा, और न उसकी इस धारणा से कि रसूल को, जिनके द्वारा क़ुरान प्रकट हुआ, उपनिषदों के अस्तित्व का पता था। कुछ भी हो—शान्ति और सामञ्जस्य के इस महान् प्रचारक के उद्देश्यानुकूल यह अर्थ था जिसका उसके साहित्यिक आध्यात्मिक प्रयासों में अन्तिम उद्देश्य था—भारत के दोनों स्पष्टतया परस्पर विरोधी संस्कृतियों और धर्मों के बीच में स्नेहभाव की स्थापना।[1] अपने ग्रन्थ-परिचय

१—शायद एक स्थानीय जन-श्रुति के प्रमाण पर नेविल यह लिखता है कि दाराशिकोह ने अपने जीवन के कई वर्ष बनारस में व्यतीत किये जहाँ पर उसका नाम अब तक मुहल्ला दारानगर के नाम में सुरक्षित है। वह कहता है कि यहाँ पर ही दारा ने १५० पण्डितों की सहायता से उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद तैयार किया। (बनारस जिला गजेटियर, पृ० १९६)। तदनुसार इस पुस्तक के पृ० १७ पर मैंने लिखा—"दारा यहाँ पर (इलाहाबाद) केवल एक

में दारा कहता है कि उसने कुछ संन्यासियों और पण्डितों को एकत्र किया जो हिन्दु विद्या के केन्द्र वाराणसी के निवासी थे और जो वेदों और उपनिषदों के विद्वान थे और उनकी सहायता से छह मास में उपनिषदों के अनुवाद को पूरा कर दिया। यह कार्य सोमवार, २६ रमज़ान, १०६७ हि० (२८ जून, १६५७ ई०) को दिल्ली में उसके महल मञ्जिले निगमबोध में सम्पादित हुआ। दारा के जीवन में साहित्यिक कार्य के प्रति उसके अनुराग ने केवल एक बार उसकी पितृ-भक्ति को परास्त कर दिया, क्योंकि जब १६५७ की ग्रीष्म ऋतु में उष्णता और रोग राजधानी में जन-संहार कर रहे थे और रुग्ण शाहजहाँ को नगर छोड़कर वायु-परिवर्तन के लिए मुख्लिसपुर जाना पड़ा था, दारा ने इस कार्य को पूरा करने के लिए पीछे ठहर जाना ही पसन्द किया।

फ़ारसी अनुवाद के गुण-दोष के विषय में दारा कहता है कि 'उसने स्वयं फ़ारसी में अनुवाद किया (उपनिषदों का, जो तौहीद के सिद्धान्त का आगार-गञ्ज़ेतौहीद—हैं), उसमें कोई वृद्धि व न्यूनता उसने नहीं की है, उसमें उसका

बार आया (१६५६-१६५७) और अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ, ५० उपनिषदों के अनुवाद को १ जुलाई, १६५७ को बनारस में सम्पूर्ण किया।" अब इस समस्त वाक्य का निराकरण होना चाहिये क्योंकि इलाहाबाद के श्री महेशप्रसाद ने एक हस्तलिखित ग्रन्थ की खोज करली है। इस ग्रन्थ में अनुवाद के पूर्ण होने के स्थान और उसकी तिथि का असंदिग्ध वर्णन है। श्री महेशप्रसाद के हस्तलिखित ग्रन्थ में उद्धरण की यथार्थता की परीक्षा लेने के लिये मैंने पादशाहनामा में दी हुई दारा की गतिविधि का अनुसरण किया है। यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि १६५७ में दारा न तो वाराणसी में, और न इलाहाबाद में हो सकता था। दारा सदैव शाहजहाँ के साथ उसकी यात्राओं में उपस्थित रहता था, परन्तु इस अवसर पर वह अपने रुग्ण पिता के साथ न गया था, जब शाहजहाँ को दिल्ली छोड़कर मुख्लिसपुर में जाना पड़ा था। कोई अत्यावश्यक कार्य ही दारा की इस अनुपस्थिति का कारण हो सकता है और यह कारण शायद उपनिषदों के प्रति उसकी व्यस्तता थी। पंचाग के अनुसार २६ रमज़ान, १०६७ को रविवार था; परन्तु इसका कोई महत्व नहीं है क्योंकि एक दिन का अन्तर हमको सदैव मिलता ही है। श्री महेशप्रसाद के लेख—"राजकुमार दाराशिकोह द्वारा उपनिषदों का अप्रकाशित अनुवाद"—(डा० मोदी स्मारक ग्रन्थ, बम्बई १९३०, पृ० ६२२-६३८ में प्रकाशित)—का मैंने विस्तारपूर्वक उपयोग किया है। अनुवाद के पाठ्य के अधिक निकट अध्ययन से श्री महेशप्रसाद की कुछ अशुद्धियों को शुद्ध करने में मैं सफल हो गया हूँ। इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में इस पर विचार होगा जहाँ पर मैंने ग्रन्थ-परिचय का पूर्ण पाठ्य और शब्द-अर्थ सूची मुद्रित की है और जहाँ पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन और छुटिक उपनिषदों के अनुवादों से उद्धरण भी दिये हुए हैं (फ़ारसी पाठ्य-पृ० १४१-१७६)। उदाहरण के रूप में उनके साथ उनके अंग्रेज़ी अनुवाद भी दिये गये हैं।

कोई स्वार्थी उद्देश्य नहीं है, उस में वाक्य के स्थान पर वाक्य और शब्द के स्थान पर शब्द दिया गया है[१]।

अपने ग्रंथ के गुण-दोष के विषय में जो कुछ दारा कहता है, उसकी सत्यता का विश्वास पाठक को तुरन्त हो जायेगा जब वह प्रकाशित संस्कृत पाठ के किसी स्थल के किसी फ़ारसी वाक्य समूह से तुलना करेगा। दारा पर अधिक-से-अधिक व्यतिक्रम का यह दोष आरोपित किया जा सकता है कि कहीं-कहीं पर उपनिषदों के मूलपाठ के गूढ़ वाक्यों का सीधा अनुवाद देने के स्थान पर उसने उन स्थलों पर शंकर के भाष्य का फ़ारसी में अनुवाद कर दिया है[२]। सन्देह रहित शुद्ध अर्थ के लिए उसने ऐसा किया है। कुछ स्थलों के सुविधाजनक अल्प परिवर्तनों को देखना भी रुचिकर होगा। उसने ऐसा इस कारण से किया है कि मुसलमानों को वे स्थल सुगम हो जायें, जिनके लिये विशेषकर यह अनुवाद किया गया था। उन-साधारण बुद्धि के पुरुषों के लिये, जिनको हिन्दु पुराणों और दर्शनों से कोई परिचय न था, उसने यह विशेष कष्ट किया कि उनको भी सरलता से यह ग्रंथ बोधगम्य हो जाये। हमको यह अवश्य कहना है कि इस प्रयास में दारा को उत्कृष्ट सफलता प्राप्त हुई है। दाराशिकोह के सिर्रे-अकबर में अच्छे अनुवाद के समस्त गुण ही विद्यमान नहीं हैं; इसमें एक मूल ग्रन्थ की मनोरमता और सघनता भी है।

मध्यकालीन भारत में न केवल तुलनात्मक धर्म का, परन्तु तुलनात्मक पुराण का भी, दारा सर्व-प्रथम गम्भीर विद्वान् था। हिन्दु विचारों, हिन्दु देवताओं और हिन्दु पुराणों में आये हुए प्राणियों की चकरा देने वाली अनेकरूपता को मुस्लिम वस्त्रों में सजा कर उपस्थित करने के लिये उनका इस्लामी नामकरण उसके ग्रन्थ का सर्वापेक्षा स्थायी भाग है। उपनिषदों के सर्वोपरि प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद से अपनी जातीय भाषाओं में उनके अनुवाद की अपेक्षा ईरानी ही क्या प्रत्येक देश का मुसलमान, शायद चीनी मुसलमानों को छोड़कर, दारा के सिर्रे-अकबर

१—फारसी पाठ्य, पृ० १४४।

२—उदाहरणार्थ—बृहदारण्यक उपनिषद् में चार प्रकार के घोड़ों का वर्णन है—हय, वाजि, अर्वा तथा अश्व, जो क्रमशः देवों, गन्धर्वों, असुरों और मनुष्यों की सवारी के लिये हैं। दारा इस प्रकार इस स्थल का अनुवाद करता है—"और अरबी घोड़ा, जो अपने तीव्र वेग के कारण हय कहा जाता है, फ़रिश्तों (देवों) को अपने यथेष्ट स्थान पर ले जाता है। वाजि पर जो इराक़ी जाति का घोड़ा है, गन्धर्व सवारी करते हैं; अर्वा पर जो कच्छी जाति का घोड़ा है, असुर सवार होते हैं; और अश्व पर जो तुर्की जाति का घोड़ा है, मनुष्य सवार होते हैं।" वास्तविक अर्थ पर बिना कोई कुप्रभाव डाले दारा ने बहुत उपयुक्तता से घोड़ों की चार जातियों का परिचय दे दिया है। यद्यपि मूल पाठ में या इस पर शंकर के भाष्य में कोई इसका प्रमाण नहीं है।

का उसकी मूल फ़ारसी में या अपनी भाषा में उसके अनुवाद का अधिक उत्साह से स्वागत करेगा। महादेव की कितनी ही व्याख्या क्यों न की जाये, इससे उस का बोध मुसलमान को इतना स्पष्ट न होगा जितना इस देवता का इसराफ़ील से सामञ्जस्य करने पर होगा जो दारा ने किया है[1]। मुस्लिम विश्वास के अनुसार यह फ़रिश्ता (देव) ईश्वर के आसन के नीचे खड़ा रहता है, उसके हाथ में एक शृङ्गाकार तुरही रहती है, और वह इसको क़यामते-कुबरा (महाप्रलय) के आगमन की सूचना देने के लिये बजायेगा जब ऊपर के सातों लोक और नीचे के सातों लोक मिलकर एक हो जायेंगे और आदिभूत कुहरे में लीन हो जायेंगे।

विभाग ५—दाराशिकोह के छोटे ग्रन्थ

दाराशिकोह अश्रान्त प्रचारक था तथा एक प्रकार के धर्मोत्साह की प्रेरणा से अपने १५ वर्ष से कुछ ही अधिक के साहित्यिक जीवन में उसने सूफ़ीवाद के विभिन्न अंगों पर अनेक पुस्तकों और पुस्तिकाओं का निर्माण किया। परन्तु हमको कहीं पर दाराशिकोह के ग्रन्थों की पूर्ण सूची प्राप्त नहीं होती है, यद्यपि विकीर्ण वाक्यों में अपने द्वारा लिखित 'अनेक पुस्तिकाओं' का वर्णन वह स्वयं करता है, परन्तु उसने इन पुस्तकों के नाम कहीं पर नहीं दिये हैं। यह हो सकता है कि भविष्य में दारा की कुछ और पुस्तकें प्रकाश में आजायें।

दाराशिकोह की छोटी पुस्तकों में 'हसनतुल् आरिफ़ीन' (१०६२ हि०—१६५२ ई० में सम्पूर्ण) दारा के धार्मिक विचारों और आध्यात्मिक उन्नति के विकास में एक बहुत ही महत्वशाली अवस्था को सूचित करती है। तौहीद के सिद्धान्त के आदि स्रोत की खोज में इस्लाम के क्षेत्र के बाहर यद्यपि दारा अब तक न गया था, उसके विचार और शरीयत (इस्लामी स्मृति) के प्रति उसकी वृत्ति इस समय मन्सूर बिन हल्लाज की ओर परिवर्तित हो रहे थे। अपने सर्वेश्वरवादी विचारों की सार्वजनिक आलोचना के उत्तर में दारा ने हसनतुलआरिफ़ीन को लिखा था। ये विचार मुस्लिम शास्त्रीय सम्प्रदाय के अनुसार सर्वथा अन-इस्लामी थे।

इस पुस्तक के परिचय में दारा कहता है—"कभी-कभी अति हर्ष और उत्साह की अवस्था में मैं ऐसे शब्द बोल जाता हूँ जिनकी अनुमति केवल उच्चतम सत्य और ज्ञान से मिलती है। कुछ नीच तथा दुष्ट व्यक्ति तथा निस्सार भक्त जन, अपनी संकीर्णता के कारण, मेरी निन्दा करते हैं और मुझ पर अधर्म और नास्तिकता (इन्कार) का दोष आरोपित करते हैं। यह इस कारण कि मुझे विचार हुआ कि एकत्व में परम-विश्वासियों के, सन्तों के, और उन सज्जनों

१—फ़ारसी पाठ्य, पृ० १४७।

के जिन्होंने तत्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, शब्दों में समन्वय स्थापित करं दूं....कि यह उन लोगों के लिये (उनको चुप कर देने के लिये) समाधान-कारक युक्ति बन जायें जो ईसा के वेश में दज्जाल हैं, जो ऊपर से मूसा के गुणों से सम्पन्न फ़रोश्रा हैं, जो अपने को मुहम्मद का शिष्य कहने वाले अबुजहल हैं।[1]

अपने आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ में ही महान् सन्त मियाँ मीर और उसकी मण्डली से संगति के कारण दारा को यह विश्वास हो गया कि इस्लाम की साधारण व्याख्या से उसकी आध्यात्मिक व्याख्या वास्तव में उत्तम है। और इसी प्रकार 'हम उ अस्त' (सब कुछ वह ही है) का सिद्धान्त 'हम अज़ उ अस्त' (सब कुछ उससे ही है) के सिद्धान्त से उत्तम है। दूसरे सूफ़ियों के व्यवहार से भिन्न वह सूफ़ीवाद पर अपने द्वारा लिखित अनेक पुस्तकों और पुस्तिकाओं की सहायता से अपने विचारों का प्रचार करने लगा। प्रथम वह कुछ सावधानता और नियन्त्रण से लिखता और बोलता था—उदाहरणार्थ अपनी प्रथम पुस्तक—सफ़ीनतुल-अवलिया—में दारा कहता है—"२७ रमज़ान, १०४९ हि० की रात्रि में यह पुस्तक सम्पूर्ण हुई जब लेखक की आयु २५ वर्ष की थी....... मैंने महान् और गूढ़ सत्यों का उल्लेख नहीं किया है जो प्राचीन ज्ञानी लोग कह गये हैं और जिनको साधारण जनता नहीं समझ सकती है। जब शेख़ अबुसईदखर्राज मिस्र देश पहुँचा, कुछ लोगों ने उससे कहा—'आप पवित्र आसन से क्यों भाषण नहीं देते हैं। शेख़ ने उत्तर दिया—'अदीक्षित जनता के सम्मुख सत्य पर भाषण लगभग निन्दा होता है।"[2] परन्तु १३ वर्षों में (१६३९-१६५२ ई०) जो उसकी प्रथम पुस्तक के प्रकाशन से अब तक बीत चुके थे, दारा अधिक उन्नत मतावलम्बी कुछ सूफ़ियों से मिल चुका था और उनके अतिवादी विचारों को अपना चुका था—उदाहरणार्थ—मुल्ला शाह, मीर सुलेमान मिस्री, शाह दिलरुबा।[3] वह विश्वास जो उसके हृदय में इस समय व्याप्त हो रहा था इतना प्रबल था कि सावधानता और परिणाम के भय की प्रत्येक बाधा को हटाकर वह बाहर प्रकट हो गया। इसी कारण से शायद शास्त्रीय सम्प्रदाय के एक मुसलमान समालोचक ने कहा है कि दाराशिकोह ने इस पुस्तक को लिखकर अपने आपको धोखा दिया है; और अपनी लेखनी द्वारा आत्म-रक्षा के प्रयत्न में उसका आचरण इतना वीरतामय और सम्मानमय

१—हसनतुल् आरिफ़ीन (मुज्तबई प्रेस, दिल्ली); डा० युसुफ़ हुसैन की पुस्तक ल इन्दे मिस्टीक अ मोयें एज (पृ० १७९-१८०) से उद्धरित।

२—देखो सफ़ीनतुल-अवलिया का ख़ातिमा (अन्त), पृ० २१६; (नवलकिशोर प्रेस)।

३—हसनतुल आरिफ़ीन, पृ० २६-३६ (मुज्तबई प्रेस, दिल्ली)।

नहीं रहा है जितना कि मन्सूर बिन हल्लाज का, शहाबउद्दीन सोहरावर्दी का या सरमद का रहा जिन्होंने अपने विश्वास के कारण मृत्यु का आलिंगन कर लिया, परन्तु आत्मरक्षा में अपने ओष्ठ भी न खोले। एक दूसरे स्थल पर वही समालोचक दारा के 'हसनतुल आरिफ़ीन' पर अपनी समालोचना इस प्रकार संक्षेप में देता है—इस पुस्तक को पढ़ने का प्रबल आग्रह वह उन लोगों से करेगा जो सूफ़ीवाद की विकृति (अक्षरशः विनाश) का अध्ययन करना चाहते हैं।[१]

दारा के सर्वेश्वरवाद की अधिक वाक्य-पटुता से व्यञ्जना उसकी पुस्तक 'तरीक़तुल-हक़ीक़त में हुई है[२]। दारा के जन्म के कई शताब्दी पहले से ईरान के सूफ़ी कवियों का यह चित्ताकर्षक विषय बना हुआ था। ऐसे ही भाव से दारा लिखता है—

"तू काबा में है और तू सोमनाथ के मन्दिर में है।
तू चैत्यालय में है और तू सराय में है।
तूही एक ही समय पर प्रकाश भी है और पतिंगा भी है।
तूही हाला और प्याला, तूही ऋषि और मूर्ख, मित्र और अपरिचित व्यक्ति भी है।"

× × × ×

"तू ही गुलाब और उसकी प्रेम करने वाली बुलबुल है।
तू ही स्वयं अपने सौन्दर्य के प्रकाश के पास का पतिंगा है।"

ऊपर वर्णन किये हुए ग्रन्थों के अतिरिक्त दारा नें योगवासिष्ठ रामायण के एक संक्षिप्त संस्करण के फ़ारसी अनुवाद की एक रोचक भूमिका भी लिखी। १६५६ ई० में 'तर्जुमे (अनुवाद) योगवासिष्ठ' नामक यह ग्रन्थ उसी की देख-रेख में तैयार किया गया था। वह इस प्रकार है—"जब मैंने इस पुस्तक (योगवासिष्ठ) के फ़ारसी अनुवाद को पढ़ा, जिसका श्रेय शेख़ सूफी को दिया जाता है, मैंने शान्त आकृति के दो भव्य पुरुषों को स्वप्न में देखा। उनमें एक दूसरे की अपेक्षा कुछ ऊँचे स्थान पर खड़ा हुआ था। विना अपनी इच्छा के मैं उनके सम्मुख उपस्थित कर दिया गया·······और वसिष्ठ ने बड़े प्रेम और कृपा से अपना हाथ मेरी पीठ पर रखा और कहा—'राम ! यह व्यक्ति ज्ञान का उत्सुक अन्वेषक है और सार की सच्ची खोज में आपका साथी (अर्थात् भाई) है। उसका आलिंगन करो।' उत्साह और प्रेम से राम ने मेरा आलिंगन किया। तब वसिष्ठ

१—सैयद नजीब अश्रफ़ नदवी का रुक़्क़ाते आलमगीर का उर्दू में परिचय; पृ० ३६१-३६३; पाद-टिप्पणी पृ० ३६२ (दार उल् मुसन्नफ़ीन, आज़मगढ़—उ० प्र० द्वारा प्रकाशित)।

२—देखो—'ल इन्दे मिस्टीक ओ मोयें एज'—पृ० १७८।

ने रामचन्द्र को कुछ मिष्टान्न दिया जिसको उन्होंने अपने हाथ से मुझको खिलाया। इस स्वप्न को देखकर इस ग्रन्थ को अनुवाद कराने की मेरी इच्छा पहले से बहुत अधिक हो गई और मेरे अनुचारी वर्ग में से एक व्यक्ति को यह अनुवाद करने के लिये नियुक्त किया गया। हिन्दुस्तान के पण्डितों की देख-रेख में यह अनुवाद तैयार किया गया है।" 'मिन्हाज-उस्-सलीक़ीन' नामक मौल्वी अबुलहसन कृत 'तर्जुमे योगवासिष्ठ' का उर्दू अनुवाद उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध और जन-प्रिय है।

अनुवादार्थ संस्कृत ग्रन्थों के निर्वाचन से यह प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि दारा के दार्शनिक विचार वेग से अद्वैत-वेदान्तवाद की ओर परिवर्तित हो रहे थे। भगवद्गीता, योगवासिष्ठ तथा प्रबोध-चन्द्रोदय इस कार्य के लिये चुने गये थे। १०६५ ई० के लगभग कृष्ण मिश्र नामक एक संन्यासी द्वारा लिखित यह अन्तिम ग्रन्थ प्रबोध-चन्द्रोदय अद्भुत रूप से रोचक नाटक है। ऐसा माना जाता है कि हिन्दुदर्शन की विभिन्न पद्धतियों की आन्तरिक एकता को प्रकट करने के लिये संस्कृत साहित्य में यह सर्वप्रथम प्रयास है। "संसार के प्रलोभन और माया से मानव की आत्मा के मुक्त होने का यह नाटक (प्रबोध-चन्द्रोदय) एक दृष्टान्त है। विश्व-भक्ति विवेक को प्रेरणा देती है तथा उपनिषदों, श्रद्धा, सद्बुद्धि और उनके अनेक मित्रों की सहायता से माया, मोह और लोभ को उनके अनेक अनुचरों सहित पूर्णतया पराजित कर देती है। ज्ञान का उदय स्वभावतः प्रबोध होने पर हो जाता है और मानुषी आत्मा ईश्वर से अपने पूर्ण एकत्व का साक्षात्कार कर लेती है, कर्म का त्याग कर देती है और जीवन के एकमात्र सन्मार्ग के रूप में अनासक्ति प्रधान संन्यास-मार्ग का अवलम्बन ग्रहण कर लेती है।[1]" ईश्वर से मानुषी आत्मा के पूर्ण एकत्व के इस साक्षात्कार का परिणाम दारा की ख़ुद परस्ती (अपनी ही आत्मा की, जो विश्वात्मा है, उपासना) तथा उसके धर्म और धार्मिक जीवन के विकास की अन्तिम अवस्था अनासक्ति-प्रधान संन्यास-मार्ग की भाँति कुछ-कुछ थी। यह मार्ग साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का और धार्मिक कर्मकाण्ड का उनको अनावश्यक समझकर त्याग कर देता है।

१—फ़ाक़ुहर का—'भारत के धार्मिक साहित्य की रूप-रेखा' पृ० २२१

अध्याय ७

विष्कंभक

(१६५४–१६५७)

दो स्पष्ट असफलताओं के बीच में—अर्थात् क़न्धार के असफल अवरोध और विनाशक उत्तराधिकार युद्ध के बीच में तीन घटनापूर्ण वर्ष दाराशिकोह के जीवन में एक सुखद विष्कंभक की भाँति अवश्य हैं। इस समय में उसने अपनी महत्तम सफलतायें प्राप्त कीं—साहित्यिक, राजनैतिक तथा कूटनैतिक; इस समय में राजमुकुट उसके मस्तक पर लगभग विराजमान हो गया था; उसका स्वर्ण का सिंहासन शाहजहाँ के तख़्ते ताऊस (मयूर सिंहासन) के समीप शोभायमान था। ऐसा प्रतीत होता था कि शाहजहाँ के साथ वह हिन्दुस्तान का युक्त शासक है। वरन् ये तीन वर्ष जिनमें औरंगज़ेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार रहा, उद्विग्न और धोखे की शान्ति के वर्ष थे—वे उत्तराधिकार-युद्ध के उपक्रम थे। सुदूर राजनैतिक क्षितिज पर भावी संघर्ष के बादल एकत्र हो रहे थे जिनके कारण प्रत्येक व्यक्ति शाहजहाँ के साम्राज्य के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता करने लगा। यद्यपि इस विपत्ति का ज्ञान दारा को था, उसने कभी अपने आशावाद का त्याग नहीं किया और दुर्दिन का विचार स्थगित करके वह अपने दार्शनिक चिन्तन में कभी तो ऋषि वसिष्ठ के सम्मुख घूम जाता और उनसे वार्तालाप करता; और कभी पवित्र क़ुरान में सूचित गुप्त पुस्तक के उत्साही अन्वेषण में उपनिषदों के जांगल प्रदेश को आर-पार करता। उसके मित्र तथा शुभचिन्तक कभी-कभी उसकी राजनैतिक निद्रा को भंग करके उसको जाग्रत करते, उसके भाइयों के शत्रुवत् उपायों के उसको नम्र संकेत देते जो सतत् रूप से उसके चारों ओर कूटनैतिक जाल बिछा रहे थे। इस समय में दारा शिकोह के उन कार्यों का हम संक्षेपतः पर्यवेक्षण करेंगे जिनका सम्बन्ध उत्तराधिकार-युद्ध से है।

विभाग १—सुलेमानशिकोह के विवाह

१६४६ ई० में ही जब सुलेमानशिकोह ६ वर्ष का बालक था दारा मिर्ज़ा राजा जयसिंह से इस विषय पर पत्र-व्यवहार कर रहा था कि मिर्ज़ा राजा की बहन से उत्पन्न राव अमरसिंह राठौड़ की पुत्री और उसके (दारा के) पुत्र में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाये। इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध का मुख्य उद्देश्य शुद्ध राजनैतिक था जैसा कि मिर्ज़ा राजा को दारा के निम्नाङ्कित पत्र

से हमको मालूम होता है—"चूँकि आपकी बहन से (राव अमरसिंह राठौड़ की) यह कन्या[1] उत्पन्न हुई है, यह अच्छा ही होगा यदि उसकी सगाई वहाँ पर न की जाये। यदि यह कन्या कोई और कन्या (आपकी बहन की कन्या से भिन्न) होती, तो आप जहाँ चाहते उसका विवाह कर देते। मेरी इच्छा है कि आप और आपके नातेदार मेरे पुत्र सुलेमानशिकोह के इस विवाह सम्बन्ध से जुड़ जाएँ। मैंने आपको यह बात प्रकट करदी है क्योंकि मैं आपको अपना सर्वोपरि सच्चा हितैषी और विशिष्ट मित्र मानता हूँ और आपको अपने उच्चतम अनुग्रह का पात्र समझता हूँ।"

यह कहकर कि उसकी दृष्टि में इस कन्या का महत्तम आदर-हेतु यह था कि वह मिर्ज़ा राजा की नातेदार थी, दारा ने सच्चाई से अपने मन की बात प्रकट करदी क्योंकि वह यह नहीं देखना चाहता था कि इस कन्या का वैवाहिक सम्बन्ध किसी अन्य व्यक्ति से—स्पष्टतया शाहजहाँ के किसी और पौत्र से—स्थापित हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रस्ताव का शीघ्र ही यह फल हुआ कि मिर्ज़ा राजा की भांजी और सुलेमानशिकोह की सगाई हो गई। विवाह, जो ८ वर्ष के लिये स्थगित कर दिया गया था, वास्तव में १६५४ ई० में हुआ। ऐसा मालूम होता है कि आवश्यक राजनैतिक विचारों के कारण इस विवाह का अनुष्ठान अकस्मात शीघ्रता से कर दिया गया। शक्तिशाली मिर्ज़ा राजा के साथ यह पुनर्मिलन का प्रयास था जिसके साथ क़न्धार के तृतीय अवरोध में उसका भयंकर मनोमालिन्य हो गया था जो लगभग सम्बन्ध-विच्छेद तक पहुँच गया था। इसके अतिरिक्त यह समाचार प्रकट हो गया कि दिसम्बर १६५२ में आगरा के स्थान पर औरंगज़ेब और शुजा में परस्पर गुप्त पारिवारिक सन्धि हो गई है जब कि शुजा की पुत्री गुलरुखबानू की सगाई औरंगज़ेब के ज्येष्ठ पुत्र सुलतान मुहम्मद से हो गई थी। अपने भाइयों के शत्रुवत् आशय के विरुद्ध चाल के रूप में दारा ने क़न्धार से वापसी के तुरन्त पश्चात् सुलेमान के विवाहानुष्ठान की तैयारी कर दी।

४ अप्रेल (१६५४ ई०) को पूर्णतया शरीयत के आदेशानुसार विवाह

१—शायद यह इन्द्रकुमारी थी जिसका उल्लेख अख़्बारात में पृ० २०-२४ पर सुलेमान-शिकोह की विधवा के रूप में है।

२—दारा का पत्र जयसिंह को औरंगाबाद (?) में २४ सफ़र, १०५६ हि० को प्राप्त हुआ—देखो फ़ारसी पाठ्य पृ० १२२। किसी और स्थान के बदले औरंगाबाद भूल से लिखा हुआ है, क्योंकि उस वर्ष १०५६ हि० (१६४६ ई०) में मिर्ज़ा राजा मुराद के अधीन बलख़ में युद्ध कर रहा था। (डा० बेनीप्रसाद कृत 'शाहजहाँ का इतिहास', पृ० १६५)।

सम्पादित हुआ।[१] १५ दिन बाद (१८ अप्रैल, १६५४) अपने अनुचारी वर्ग के साथ सम्राट् आशीर्वाद देने दारा के महल को गया और यथापूर्व वैभव तथा आमोद-प्रमोद के साथ संस्कार समाप्त हुआ।

राव अमरसिंह की पुत्री से विवाह के दो वर्ष बाद सुलेमान शिकोह का दूसरा विवाह जाफ़रख़ाँ के छोटे भाई की पुत्री से हुआ। मालूम होता है कि इसका आरम्भ स्वयं शाहजहाँ की ओर से हुआ। यह विवाह कुछ अंश में जाकर जाफ़रख़ाँ के परिवार के प्रति अभिनन्दन था (जिसने मुमताज़महल की एक छोटी बहन से विवाह किया था) और कुछ अंश में साधारण मुस्लिम सामन्त वर्ग की भावनाओं के प्रति आदरभाव था। कन्या[२] पटना से लाई गई और २६ अक्तूबर, १६५६ ई० की रात्रि में विवाह हो गया।

विभाग २—दाराशिकोह और महाराणा राजसिंह सिसौदिया

राजसिंह के पिता मेवाड़ के महाराणा जगत्सिंह ने चित्तौड़ के गढ़ की मरम्मत एक बड़े पैमाने पर आरम्भ करदी थी। सम्राट् जहाँगीर और महाराणा अमरसिंह के वर्तमान सन्धिपत्र की एक विशिष्ट प्रतिज्ञा का इससे उल्लंघन होता था। उसके पुत्र राजसिंह ने अधिक उत्साह से उद्धार के कार्य को अग्रसर किया। राजसिंह १० अक्तूबर, १६५२ को मेवाड़ की गद्दी पर बैठा था। साम्राज्य की सीमा तक अपनी सेना सहित प्रयाण द्वारा नवीन महाराणा ने अशोभनीय प्रदर्शन किया था और दबाव पड़ने पर बहुत विलम्ब से भूपत[३] (महाराणा प्रतापसिंह के पुत्र साहस का पुत्र) के अधीन क़न्धार के तृतीत अवरोध में उसने अपना एक सैन्य-दल भेजा था। इतने पर भी सम्राट् ने क़न्धार के विषय की समाप्ति तक मेवाड़ के शासकों के इन राजभक्ति-विरोधी कार्यों को सहन कर लिया था।

२१ मई, १६५४ को सम्राट् ने अपने दण्डभृत् अब्दलबेग को महाराणा के पास भेजा। उसके साथ महाराणा के लिये पुरस्कार रूप में दो घोड़े थे और एक फ़रमान था जिसमें उसको आदेश था कि औरंगज़ेब के अधीन दक्षिण में सेवाकार्य पर वह तुरन्त अपना सेवा-दल भेज दे। शायद अब्दलबेग का वास्तव में यह कार्य था कि वह राणा की सैनिक शक्ति का और चित्तौड़ की मरम्मत के विस्तार

१—सुलेमान का विवाह—वारिस, ८६ अ; आशीर्वादार्थ सम्राट् का अभ्यागमन—वही, ८७ अ०।

२—अख़्बारात में उल्लेख है कि सुलेमानशिकोह के एक और पत्नी थी—सुनव्वरबाई।

३—भूपत सेवा से वापस आता है; खिलअत पाता है और साथ में २१ मई, १६५४ को घर वापस होने की आज्ञा भी उसको मिलती है—वारिस, ८७ अ०।

का गुप्त रूप से पता लगा ले। यह वृत्तान्त भेजा गया कि चित्तौड़ के प्रायः समस्त पुराने फाटकों का उद्धार हो गया है, कुछ नये फाटक भी बना लिये गये हैं और दुर्गम स्थलों पर भी प्राकारों का निर्माण हो रहा है। वज़ीर सादुल्ला ख़ाँ को ३० हज़ार सैनिकों के एक अभियानक दल का नेता नियुक्त किया गया और ४ सितम्बर, १६५४ को उसको आज्ञा मिली कि मेवाड़ पर आक्रमण करे तथा चित्तौड़ की गढ़-पंक्तियों को नष्ट कर दे। २० दिन पीछे दारा को अपने साथ लेकर सम्राट् ने आमेर के मार्ग से अजमेर के लिये प्रस्थान कर दिया। उसका स्पष्ट उद्देश्य था शेख़ मुईनुद्दीन चिश्ती[1] की समाधि का दर्शन। सम्राट् के प्रस्थान के दिन का लिखा हुआ मिर्ज़ा राजा जयसिंह को दारा का एक पत्र महाराणा की अवश्यम्भावी दशा के प्रति राजकुमार की गम्भीर चिन्ता को प्रकट करता है। "आज सम्राट् अजमेर के लिये प्रस्थान कर रहे हैं और मैं आपके घर के पास होकर निकलूँगा और आपका अतिथि हूँगा। चूँकि एक अलग सेना राणा के प्रदेश के विरुद्ध भेज दी गई है और चूँकि मैंने कृपा और उदारता के कारण सदैव राणा के हितों को अपने ध्यान में रखा है, मेरी इच्छा है कि उसकी निष्ठा और भक्ति के विषय में सत्य को सम्राट् के सम्मुख प्रकट कर दूँ कि वह और उसका प्रदेश विजयी सेना के आघात (आसिब) से बच जायें"[2]। महाराणा राजसिंह ने चित्तौड़ में एक सेना एकत्र कर ली थी, परन्तु ठीक समय पर उसकी बुद्धि ने उस पर अपना प्रभाव डाला और यह देखकर कि क्षमा की याचना करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, उसने दारा के पास एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा।

४ अक्तूबर, १६५४ को राव रामचन्द्र चौहान, राघवदास झाला, सांवलदास राठौड़ तथा पुरोहित ग़रीबदास का यह शिष्ट-मण्डल राजकुमार से ख़लीलपुर के पड़ाव पर मिला। दारा ने बहुत परिश्रम किया कि उस पर ऐसा प्रभाव डाले कि वह दयार्द्र हो जाये और अन्त में शाहजहाँ ने दारा के विश्वस्त सेवक चन्द्रभान ब्राह्मण को आज्ञा दी कि इस झगड़े को शान्त करने के लिये वह उदयपुर जाये। चन्द्रभान के आगमन के पूर्व ही महाराणा ने मधुसूदन भट्ट और रायसिंह झाला को शान्ति-प्रस्ताव सहित सादुल्लाख़ाँ के पास भेज दिया था। सादुल्लाख़ाँ राणा को युद्ध के निमित्त विवश करने पर तुला हुआ था, वह राणा के प्रदेश को साम्राज्य के अन्तर्गत करना चाहता था। अतः स्वभावतः उसने दारा के इस हस्त-क्षेप का विरोध किया। शाही दरबार की सख़्त शर्तों को स्वीकार करने के अति-

---

१—चित्तौड़ अभियान—वारिस, ६० ब ; सम्राट का प्रस्थान—वही, ६१ ब०।

२—जयपुर-पत्र, देखो फ़ारसी पाठ्य पृ० १२६।

रिक्त राणा के पास और कोई उपाय न था—अर्थात् पुर, मण्डल[1] आदि परगनों का प्रदान; और वह अपने पुत्र को दारा के दीवान शेख़ अब्दुलकरीम के साथ शाही दरबार को भेजने के प्रति सहमत हो गया। अतः २ नवम्बर को शेख़ अब्दुलकरीम शिशोदिया राजकुमार को लाने के लिये उदयपुर को चल पड़ा। ४ नवम्बर को सम्राट् ने रूपसिंह राठौड़ को माण्डलगढ़ दे दिया और उसी मास की २६ तारीख़ को उसने विट्ठलदास गौड़ के पुत्र अर्जुन को आज्ञा दी कि बेदनोर पर सक्रिय अधिकार करे जो इसके पहले राणा के अधिकार में था[2]। २१ नवम्बर, १६५४ को राणा का ज्येष्ठ पुत्र, जो ७ वा ८ वर्ष का बालक था, शाही शिविर में पहुँच गया और सम्राट् को मुजरा किया। चूँकि राणा ने अभी तक राजकुमार का नामकरण न किया था, सम्राट् ने उसका नाम सोभागसिंह रख दिया जो शुभ और प्राचीन नाम था, परन्तु उसका पिता इस नाम से प्रसन्न न हुआ और उसने इस नाम को बदल कर उसका नाम सुल्तानसिंह रख दिया। वज़ीर को आज्ञा हुई थी कि चित्तौड़ को ख़ाली करदे क्योंकि 'युवराज की मध्यस्थता के कारण राणा का अपराध क्षमा कर दिया गया था[3]।' चित्तौड़ के प्राकारों और रक्षा-पंक्तियों को १५ दिनों में नष्ट करके, और राणा के अधिकृत प्रदेश की जो कुछ हानि वह कर सकता था, उसको करके सादुल्लाख़ाँ २२ नवम्बर को शाही शिविर में वापस आ गया। सिसोदिया राजकुमार को स्वयं उसके लिये और उसके पिता के लिये उपहार देकर और उसको जाने की आज्ञा देकर सम्राट् १७ दिसम्बर १६५४ को आगरा वापस आगया।

इस प्रकार महाराणा राजसिंह का प्रकरण समाप्त हो गया। वास्तव में दाराशिकोह के कष्टसाध्य प्रयासों द्वारा वह महान् विपत्ति से बच गया। मिर्ज़ा राजा जयसिंह को एक पत्र में राजकुमार लिखता है—"विशेष स्नेह और प्रेम जो मुझको राजपूत जाति से है, वह प्रकट हो गया है। राणा का प्रदेश और सम्मान यथा पूर्व सम्पूर्ण हैं। यह सम्पूर्ण राजपूत जाति को ज्ञात हो जाना चाहिये कि मैं उनका कितना हितैषी हूँ"[4]। परन्तु दारा की राजनैतिक कल्पना स्वयं सम्राट् के कार्य से पर्यस्त हो गई जिसने महाराणा को उसके विद्रोह का दण्ड देने के लिये उसके कुछ परगनों पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था। साधारण मनुष्य की भाँति मेवाड़ के शासक ने उसकी ओर कम ध्यान दिया जो सुरक्षित था और

१—अधिक वृत्तान्त के लिये देखो–ओझा कृत, राजपूताना का इतिहास—पृ० ८४५।

२—वारिस, ८८ ब०।

३—वारिस, ८८ ब०।

४—देखो फ़ारसी पाठ्य पृ० १२१-१२२। मुद्रित पाठ्य में वर्ष १०५५ अशुद्ध है। शुद्ध वर्ष है १०६४ हि०।

उसकी ओर अधिक ध्यान दिया जो हाथ से निकल गया था, यद्यपि एक मित्र और हितैषी ने यथाशक्ति अपना प्रयास किया था। अपने को भयंकर विपत्ति से मुक्त करने के निमित्त महाराणा ने दारा की उदार भावना से अपना स्वार्थ सिद्ध किया था और अब वह विना उचित, अनुचित का विचार किए हुए उसके शत्रु औरंगज़ेब का घनिष्ट मित्र बन गया। मेवाड़ से शाही फ़ौज के वापस होने के तुरन्त पश्चात् उसने उदयकरण चौहान तथा शंकर भट्ट को दक्षिण की ओर औरंगज़ेब के पास एक गुप्त कूटनैतिक कार्य पर भेज दिया। बदले में औरंगज़ेब ने अपने दो विश्वस्त प्रतिनिधियों—इन्द्रभट्ट तथा फ़िदाईख़्वाजा को उदयपुर भेजा। वे महाराणा के लिये उपहार में एक ख़िलअत, एक हीरे की अँगूठी और एक हाथी लाये[१]। दारा के प्रति शिशोदिया सामन्त की वृत्ति से संसार को प्रकट हो गया कि भावनाओं पर आशा बाँधना निरर्थक है क्योंकि राजनीति में सर्वोपरि भावुक जाति भी उनको वह महत्त्व नहीं देती है जो अपने स्वार्थ को देती है।

विभाग ३—दाराशिकोह को शाह-बुलन्द-इक्बाल की उपाधि मिलती है (३ फ़रवरी, १६५५ ई०)

राजपूताना से दिल्ली को अपने प्रत्यागमन पर सम्राट् ने अपनी ६६ वीं चान्द्र जन्म-गाँठ पर (शनिवार ३ फ़रवरी, १६५५) युवराज को लगभग राजकीय सम्मान सर्वसाधारण के सम्मुख भेंट कर दिया। दरबार के समय से पहिले राजकीय वस्त्रागार से ढाई लाख रुपये की लागत का हीरों और मोतियों से चमकता हुआ एक सम्मान वस्त्र सम्राट् ने दारा के महल को भेजा। इस वस्त्र को धारण कर युवराज तुलादान के समय पर उपस्थित हुआ। उसके समाप्त होने पर सम्राट् ने अपने सिर से साढ़े चार लाख रु० की लागत का एक सरबन्द (पछेवड़ी-पगड़ी को कसने के लिये) जिसमें गुलाबी रंग का एक माणिक्य जड़ा हुआ था, और दो सच्चे मोतियों की लड़ियाँ उतारीं और अपने ही हाथ से उनको राजकुमार के सिर पर बाँध दिया। इस सम्मान-वस्त्र और सरबन्द (पछेवड़ी) के अतिरिक्त ३० लाख नक़द रुपये का एक पुरस्कार भी उसको दिया गया। सम्राट् ने राजकुमार को एक नवीन उपाधि शाह बुलन्द इक़बाल से सम्बोधन किया और उसको एक स्वर्ण के सिंहासन पर बैठने की आज्ञा दी जो राजकीय सिंहासन के निकट ही लगा हुआ था। पहले तो दारा ने आगा-पीछा किया परन्तु पिता के द्वारा विवश किये जाने पर वह उस पर बैठ गया।

१—राजसिंह को भेजे हुए औरंगज़ेब के ये दो निशान उनमें पारस्परिक दूतों और उपहारों की अदला-बदली को सविस्तार बतलाते हैं। देखो ओझा कृत, राजपूताना का इतिहास, पृ० ८४४-पद टिप्पणी।

अपने धर्म गुरु (पीर) मुल्ला शाह बदख़शी को एक पत्र में दारा लिखता है—
"(ख़िलअतों और पद-वृद्धियों के वितरण के बाद)·······सम्राट् ने कहा—'हे, मेरे पुत्र, मैंने निश्चय कर लिया है कि विना तुम्हारे ज्ञान के और विना तुम से प्रथम विमर्श किये हुए मैं कोई महत्वशाली कार्य न करूँगा और न अब से किसी व्यवसाय का निर्णय ही करूँगा·······मैं ईश्वर को इस कृपा का पर्याप्त रूप से धन्यवाद नहीं दे सकता हूँ कि तुम्हारे ऐसा पुत्र मुझको देकर उसने मुझे महा-भाग बना दिया है···········"[१]। वारिस कहता है—"सम्राट् ने आज्ञा दी कि सामन्तगण और अन्य दरबारी दारा के महल को जायें और उसको मुबारकबाद दें। २३ फरवरी, १६५५ को दारा के महल में सम्राट् का राजकीय अभ्यागमन हुआ कि शाह की उपाधि प्राप्त करने पर वह उसको मुबारकबाद दे। शाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम दो वर्षों के इतिहास से यह सिद्ध होता है कि प्रशासन से सम्बन्धित विषयों में युवराज को अधिकाधिक भाग मिलने लगा और विदेश-नीति को छोड़कर उसके पिता के मन्त्रि-मण्डल में उसका प्रभाव निर्णायक अथवा लगभग निर्णायक था।"

विभाग ४—दाराशिकोह और दरबारी राजनीति

प्रत्येक स्वच्छन्द राजा की भाँति शाहजहाँ अपने राज्य का मूर्तिमान रूप था, और उसका दरबार, चाहे वह राजधानियों में निश्चल हो—चाहे शिविरों में कूच पर हो, साम्राज्य के प्रशासनीय यन्त्र का प्रचालक और प्रेरक था। सम्राट् पर व्यक्तिगत प्रभाव पण्य-वस्तु (बिक्री का सौदा) था। साम्राज्य के प्रत्येक कोने से कृपाकांक्षियों का विशाल दल उत्सुकतापूर्वक इस की खोज में रहता था। कोई भी व्यक्ति चाहे वह सर टामस रो सदृश शक्तिशाली राजदूत हो या कोई दीन विद्वान् हो जो विना लगानी कुछ बीघा ज़मीन की आशा से आया हो, दरबार में अपने कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता था यदि उसके पास कोई दरबारी आश्रयदाता न था और यदि वह उपहारों द्वारा उसकी कृपा प्राप्त न कर लेता था। तब भी महान् सामन्तगण और अधीनस्थ राजा-महाराजा जिनके अपने वकील दरबार में रहते थे, सदैव सहायक की खोज में रहते थे कि उनकी इच्छायें सन्तुष्ट हो सकें। सम्राट् पर सहायक का गौरव तथा प्रभाव उसके कृपा-कांक्षियों की संख्या तथा उनकी पदवी पर निर्भर था। परस्पर शत्रुवत सामन्तगण, अपने पड़ोसियों के साथ कलह-ग्रस्त अधीनस्थ राजा-महाराजा, अपनी सीमाओं के सम्बन्ध में परस्पर झगड़ती हुई निकटवर्ती रियासतें और एक

१—दारा का पत्र मुल्ला शाह को—देखो फ़ारसी पाठ्य, पृ० २१–२३। पादशाहनामा में इस घटना के संक्षिप्त उल्लेख का पूरक यह पत्र है। (वारिस, ६६ अ०) तारीख़ और अन्य विवरणों के विषय में यह पत्र राजकीय इतिहास के वर्णन से सर्वथा सहमत है।

दूसरे को बाहर निकाल फेंकने के प्रयास में व्यस्त विदेशी व्यापारी-संघ भी, अपने को अपने सहायक के नेतृत्व में विरोधी दलों में विभाजित किये हुए थे। ये सहायक स्वयं दरबार में प्रभाव प्राप्त करने के लिये संघर्षशील रहते थे और इस कारण से दलों का निर्माण अवश्यम्भावी था।

दरबार में दो मुख्य दल थे जिनके दो नेता थे, अयोग्य परन्तु महत्वाकांक्षी युवराज तथा सच्चा और योग्य वज़ीर सादुल्लाखाँ; और इन दोनों के बीच में लटकन के सदृश सम्राट् भावुकता या स्वार्थ से प्रभावित होकर न्यून या अधिक बल से परस्पर विरोधी दिशाओं में हिलता रहता था। अपने सर्वाधिक प्रिय पुत्र और अपने सर्वाधिक सम्मानित मन्त्री और मित्र की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण शाहजहाँ उतना ही दुखी हो गया था जितना कि राजकुमार सलीम और शेख़ अबुलफ़ज्ल की शत्रुता ने अकबर के अन्तिम दिनों को कष्टकारक बना दिया था। राजकुमार को सादुल्ला की योग्यता से उतनी ही घृणा थी जितनी कि उसकी सुन्नी कट्टरता से। ईर्ष्या और मद के कारण दारा सादुल्ला और उसके प्रशंसक शिष्य औरंगज़ेब के सम्बन्ध में अपमान से बातचीत करता। जब वज़ीर और युवराज दोनों अपनी मृत्यु के बाद साधारण मिट्टी में लीन हो गये थे—उसके बहुत दिनों पीछे तक उनकी पारस्परिक ईर्ष्या और प्रत्युत्पन्नमति सादुल्ला के क्षिप्रप्रत्युत्तरों के विषय में कथायें प्रचलित रहीं और एक अत्यन्त विद्वेषपूर्ण और असत्य आरोपण भी किया गया कि दारा ने वज़ीर को विष दे दिया था। शायद सादुल्ला के प्रति दारा की शत्रुता के सम्बन्ध में और सम्राट् के रोषान्तर्गत दण्डित अपराधियों और सामन्तों की ओर से उसकी याचनाओं के सम्बन्ध में—(जैसा कि बाद को हम देखेंगे)—कहा जाता है कि एक बार शाहजहाँ ने टिप्पणी की—"इसमें सन्देह नहीं कि युवराज एक राजा के साधनों, प्रताप और वैभव से सम्पन्न है, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वह ईमानदार लोगों का दुश्मन है क्योंकि वह बुरे लोगों के प्रति भला है और भले लोगों के प्रति बुरा है"[१]। औरंगज़ेब एक दूसरी कथा कहता है—"दाराशिकोह सादुल्लाखाँ से प्रसन्न नहीं था; वह उसको कष्ट देता और चिढ़ाता; एक बार उसने कहा—'आप पर सम्राट् की बहुत कृपा है; कितने नीचे स्तर से उठाकर सम्राट् ने आप को कितना ऊँचा चढ़ा दिया है।' खाँ बहुत ही प्रत्युत्पन्नमति था। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया—'वास्तव में ऐसी ही बात है। परन्तु 'क़यामत के दिन' पहले तो मेरा स्थान विद्वानों में होना चाहिये था, परन्तु अब सम्राट् के मन्त्रियों में है। जो समझ सकता है यह उसके समझने की बात है"[२]।

१—औरंगज़ेब के पत्र, ब० ५४; अ० ३७।

२—औरंगज़ेब की कथायें—फ़् २१२; क ३३४।

ख़फ़ीख़ाँ भी सादुल्ला के प्रति दारा की शत्रुता का वर्णन करता है। कहा जाता है कि सम्राट् के सम्मुख राजकुमार ने उस पर इस आशय का आरोप लगाया कि वजीर ने उसको नष्ट प्रायः परगने दिये थे जिनकी आय बहुत कम थी, और उसने स्वयं अच्छे-अच्छे परगने अपने पास रख लिये थे। यह सुनकर सादुल्ला ने युवराज के वकील को बुला भेजा और उन परगनों को, जिनको दारा के आततायी आमिलों (अधिकारियों) ने नष्ट कर दिया था, अपनी जागीर में लेकर बदले में उसको अपनी जागीर से दारा के कर्मचारी के अनुमान अनुसार अच्छे-अच्छे परगने दे दिये। एक या दो वर्षों में यह पता चल गया कि इन्हीं परगनों में खेती कम होने लगी है और लगान से उनकी आय भी घट गई है।[1] एक और कथा है कि सादुल्ला के प्रति युवराज के आचरण पर एक बार उसको शाहजहाँ से कटु भर्त्सना मिली। एक दिन दाराशिकोह के दीवान बहरमल ने सम्राट् के सम्मुख एक लेखा-पट (फ़र्द) उपस्थित किया जिसमें बताया गया था कि राजकोष से १० लाख रुपये का शेष राजकुमार को मिलना चाहिये। सम्राट् ने इसको सादुल्ला को दे दिया कि बड़े दीवान के कार्यालय में इसका निरीक्षण करवा कर उस पर वृत्तान्त भेजे। सादुल्ला ने तुरन्त टीका की कि प्रथम तो इतनी बड़ी धन-राशि राज-कोष से नहीं चुकाई जा सकती थी, और द्वितीय बात—वह दातव्य पत्र (बिल) ठीक नहीं था क्योंकि पूर्व आय और व्यय का और चालूखाते का शेष नहीं दिखाया गया था। जब सम्राट् दरबार से चला गया, दारा ने सादुल्ला को कुछ कटु शब्द कहे और ये सम्राट् को अन्तःपुर में दैनिक घटनाओं के समाचार पत्रक से मालूम हो गये जो दीवान ख़ास (व्यक्तिगत भेंट के कमरे) का निरीक्षक (मुशरिफ़) नित्य भेजता था। उसके आचरण की निन्दा करते हुए, शाहजहाँ ने तुरन्त राजकुमार को एक पत्र लिखा—"बहरमल तुम्हारे गृहस्थ का हित चाहता है तथा सादुल्ला मेरे धन की रक्षार्थ नियुक्त हुआ है। तुम्हारे कार्यालय को निस्सन्देह यह उचित था कि इस काग़ज को वह शुद्ध तैयार करता, और तुमको यह उचित था कि देख लेते कि यह पत्र सादुल्ला के हाथों में जाने वाला है या नहीं............राज्य के कर्मचारियों से दुर्व्यवहार करना निश्चय ही बहुत बुरा है—उनके हृदयों को जीत लेना प्रशंसनीय बात है।" तीसरे पहर सम्राट् ने सादुल्लाख़ाँ को सुनहरी काम के महमूदी कपड़े के कुछ थान भेजे।[2]

१—ख़फ़ीख़ाँ, पृ० ७३८।

२—औरंगजेब की कथायें—व-५३ में यह और है :—

"३,००० दीनार के नक़द पुरस्कार सहित"—अ० ४६।

फ़ १६०—वास्तव में सर्वथा समान।

सादुल्ला भला आदमी था—केवल उन लोगों के साथ जो उसके मार्ग के रोड़े न थे। सादुल्ला के प्रति दारा की शत्रुता शायद सच्ची बात है (यद्यपि उसके शत्रुओं की साक्षी द्वारा ही मुख्यतया यह प्रमाणित हो सकता है)। परन्तु राजकुमार के हृदय में किसी प्रकार की कलुषता इसका कारण न थी। दो महत्वाकांक्षी पुरुषों के बीच में अवश्यम्भावी संघर्ष का यह परिणाम था जो सम्राट् के चित्त पर और दरबार में सर्वोपरि सत्ता पर अधिकार-प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील थे। युवराज यह समझता था कि सादुल्ला जिस प्रकार उसके पिता का सेवक है, उसी प्रकार वह उसका भी सेवक है; और सादुल्ला जो योग्यता में दारा से तुलनातीत बढ़ा-चढ़ा था, जो अपनी ईमानदारी के कारण निर्भीक था, जो अपनी पदवी की अपेक्षा अधिक गर्वशील था, दारा की ऐंठ को सहन न कर सकता था।

यह सब होते हुए अपने पिता पर अपने असीम प्रभाव का उपयोग दारा ने कभी किसी को हानि पहुँचाने के निमित्त नहीं किया, यद्यपि अनेक कुपात्रों को लाभ पहुँचाने के लिये उसने प्रायः इस प्रभाव का दुरुपयोग किया। दारा को उच्चतम आनन्द उस समय प्राप्त होता था जब वह दुखित हृदय के दुःख को दूर करता या किसी प्राणी के प्राण की रक्षा करता चाहे कितने ही न्यायपूर्वक आधार पर उसको प्राण-दण्ड दिया गया हो। वह अश्रुओं के, छद्मअश्रुओं के भी, प्रभाव का प्रतिरोध न कर सकता था, तथा चतुरता से गढ़ी हुई किसी कष्ट की हृदय-विदारक कहानी का वह अविश्वास न कर सकता था। अतः युवराज के कृपाकांक्षियों में हमको चम्पतराय बुन्देला सदृश निराश विद्रोही, फ़क़ीरख़ाँ और शेख फ़रीद सदृश पदच्युत सामन्त,[1] तथा मलिक जीवन

१—कुछ उल्लेखनीय उदाहरणः—

(i) बाक़रखाँ नजुम्सानी के पुत्र फ़क़ीरख़ाँ को २ हज़ार ज़ात और १ हज़ार सवार का उसका पुराना पद पुनः प्राप्त हो गया। किसी दुराचार के कारण दरबार में उसका आना बन्द कर दिया गया था और वह अपने मन्सब (पद) से पदच्युत कर दिया गया था (६ जनवरी, १६५४; वारिस, ६३ ब.)।

(ii) क़ुतुबुद्दीनख़ाँ का पुत्र शेख़ फ़रीद, जो किसी भयंकर अपराध के कारण अपने मन्सब से पदच्युत हो गया था, दारा की मध्यस्थता द्वारा पुनः कृपा-पात्र बन गया और उसको ३ हज़ार ज़ात और २ हज़ार सवार का पद दिया गया (४ जून, १६५४; वारिस, ८७ ब.)।

(iii) एक बहुत प्राचीन वंशोत्पन्न, उच्च पदस्थ मुसलमान सामन्त, जो दरबार में विशेष सम्मान का पात्र था, अपने मन्सब से पदच्युत कर दिया गया था और गत ६ वर्षों तथा २ मास से उसको दरबार में प्रवेश न प्राप्त हुआ था। ११ मार्च, १६५५ को दारा की मध्यस्थता द्वारा इस वृद्ध पुरुष को ५ हज़ार (?) ज़ात और ४ हज़ार सवार का उसका पुराना पद वापस मिल गया; वह मुकर्रमख़ाँ के स्थान पर जवनपुर सरकार का हाकिम नियुक्त हो गया और उपहार

सदृश निकृष्ट खल मिलते हैं। इनमें से शेख़ फ़रीद का, अक्षम्य अपराधों के कारण, दरबार में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया था और मलिक जीवन को दिल्ली की कोतवाली के चबूतरे पर फाँसी के लिये चढ़ा दिया गया था।

विभाग ५—दाराशिकोह और श्रीनगर का राजा पृथ्वीचन्द

हिमालय के अभेद्य आंचल में सुरक्षित गढ़वाल के राज्य, पागल सुल्तान मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में किये गये विनाशक अभियान के समय से प्रायः मुस्लिम आक्रमण से मुक्त रहे थे। १६३६ में सम्राट् शाहजहाँ ने इस उद्योग को पुनः आरम्भ किया। श्रीनगर में तथाकथित स्वर्ण की खानों का आकर्षण उसको उत्पन्न हो गया। वहाँ पर उस समय कुख्यात नक्टी (नाक काटने वाली) रानी का राज्य था। नजाबतख़ाँ (शाहरुख़ मिर्ज़ा का पुत्र मिर्ज़ा शुजा), जो उस समय सहारनपुर का फ़ौजदार था, इस अभियानक दल का नेता नियुक्त हुआ। रानी के युद्ध-कौशल से वह दूर देश के मध्यभाग तक चला गया, जहाँ पर उसके अधिकांश सैनिक ज्वर से नष्ट हो गये। नजाबतख़ाँ अपने थोड़े से बचे हुए सिपाहियों को लेकर, जिनकी दशा दयनीय थी, रानी के प्रदेश से भाग निकला। उनकी नाकें तो सम्पूर्ण थीं; परन्तु उनका सम्मान नष्ट हो गया था। १६५४ में महाराणा राजसिंह पर विजय से प्रफुल्लित होकर शाहजहाँ ने अपनी सेना के एक भाग को श्रीनगर पर नवीन आक्रमण करने के लिये भेज दिया। १४ नवम्बर, १६५४ को अजमेर के निकट से ख़लीलुल्ला ख़ाँ को आज्ञा मिली कि श्रीनगर के राजा पृथ्वीचन्द के विरुद्ध ६ हज़ार की सेना लेकर प्रयाण करे (वारिस, ९२ ब.) सिरमोर पहाड़ियों के राजा सौभाग्यप्रकाश की तथा कुमाऊँ के राजा बहादुरचन्द्र की सहायता से मुसलमान सेना श्रीनगर-प्रदेश में दूर तक घुस गई, और आगामी वर्ष हरद्वार के ऊपर दून पर उसने काम चलाऊ अधिकार कर लिया। यहाँ पर साम्राज्यवादियों का दुर्गाकार आधार-शिविर निर्मित किया गया और उस समय से जनसाधारण

में उसको सोने की ज़ीन सहित एक इराक़ी घोड़ा और एक हाथी मिला। सर य० ना० सरकार के पास वारिस के ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति में, जिसका उपयोग मैंने किया है, इस वृद्ध पुरुष का नाम नहीं है। इस हस्तलिखित प्रति के अन्त में दी हुई मन्सबदारों की सूची से मालूम होता है कि यह व्यक्ति मुतक़िदख़ाँ था जिसका पद ४ हज़ार ज़ात और ४ हज़ार सवार का था। राज्यारोहण के २९ वें वर्ष में १२ ज़िलक़ाद को जवनपुर में इसका देहान्त हुआ (वारिस, ९७ ब; १२४ अ.) अर्थात् पद की पुनः प्राप्ति के लगभग एक वर्ष बाद।

(iv) मलिक जीवन को विद्रोह के कारण शाहजहाँ ने प्राणदण्ड दिया था। उसने बाद को अत्यन्त विश्वासघातपूर्वक, भागे हुए दारा को धोखा दिया, यद्यपि दारा ने उसके निमित्त हस्तक्षेप किया था और उसके लिये क्षमा प्राप्त कर ली थी।

की बोल-चाल में इस स्थान का नाम देहरादून पड़ गया है। ख़लीलुल्लाख़ाँ अपनी अयोग्यता के लिये प्रसिद्ध था; अतः वह नाममात्र का मुख्य सेनापति बना रहा। परन्तु व्यावहारिक रूप से आज्ञापक का पद चतुर्भुज चौहान को दे दिया गया। युद्ध दो वर्ष तक मन्द गति से चालू रहा और २० जनवरी, १६५४ को क़ासिमख़ाँ मीर आतिश ४ हज़ार सवार लेकर दिल्ली से चला कि दून की मुग़ल सेना को सहायता पहुँचाये। अन्तिम सफलता के प्रति निराश होकर राजा पृथ्वीचन्द ने जहाँनारा बेगम के साथ लम्बा पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। अपनी राज-निष्ठा और दोषहीनता का उसने विश्वास दिलाया और अधीनता स्वीकार करने की अपनी इच्छा को प्रकट किया कि राजकुमार दारा उसके हित में अपना हस्तक्षेप करे। उसने अपने पुत्र मेदिनीसिंह को युवराज के पास भेजा। युवराज ने ३० जुलाई को उसको दरबार में उपस्थित किया और उसका परिचय दिया। अपने पिता की ओर से मेदिनीसिंह ने सम्राट् को १ हज़ार अशर्फियों (मौहरों) की नज़र (भेंट) पेश की। सम्राट् ने उदारता-पूर्वक उसके पिता के समस्त अपराधों को क्षमा कर दिया और उसको एक बहुमूल्य खिलअत, रत्नजटित दस्तबन्द और सोने की ज़ीन सहित एक किपचक़ घोड़ा दिया।

विभाग ६—दक्षिण की राजनीति

१६५४ से १६५७ के वर्षों में गोलकुण्डा और बीजापुर के राज्यों के विरुद्ध औरंगजेब के षड्यन्त्रों और आक्रामक योजनाओं में शाही दरबार का समस्त ध्यान लगा रहा। दक्षिण के प्रश्न पर सादुल्ला और औरंगज़ेब का युद्ध-प्रिय दल दारा और जहाँनारा का शान्तिप्रिय दल एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हो गये। दरबार में यह दलीय युद्ध, जिसका अन्तिम परिणाम उत्तरा-धिकार युद्ध हुआ, उस युद्ध के पूर्व प्रवर्त्तक कारणों में से था। शाहजहाँ द्वारा अपने प्रति किए हुए व्यवहार से बहुत दुखित होकर औरंगजेब १६५२ में दक्षिण को चला गया था, क्योंकि शाहजहाँ ने अन्यायपूर्वक उसको दूसरा अवसर देने से इन्कार कर दिया था कि वह क़न्धार जाकर अपना पूर्व गौरव पुनः प्राप्त कर ले। अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति की भाँति दक्षिण में उसकी प्रवृत्तियों की एक अन्तर्निहित प्रेरणा और एक सतत् उद्देश्य था कि अपने ज्येष्ठ भाई से अवश्यम्भावी संघर्ष के दिन के लिये वह सुसज्जित हो जायें और उस युद्ध के निमित्त अपना साधन सञ्चय करलें। यह स्पष्ट था कि गोलकुण्डा और बीजापुर के निर्बल तथा समृद्ध राज्यों को वह युद्ध के लिए विवश कर देना चाहता था क्योंकि युद्ध के द्वारा विशाल सेनाओं का अधिकार उसको प्राप्त हो जायेगा, उसके अधिकारी रणकुशल हो जायँगे, उसके सैनिक उत्साहित

रहेंगे और आगामी उत्तराधिकार-युद्ध के प्रति उसको सामर्थ्य प्राप्त हो जायेगा।

औरंगज़ेब के लोलुप नेत्र सर्वप्रथम गोलकुण्डा के अब्दुल्ला क़ुत्बशाह के समृद्ध प्रदेश पर तथा उसकी नितान्त विवशावस्था पर आ टिके। उसकी पहली माँग यह हुई कि हुन और रुपये में विनिमय-दर की वृद्धि के कारण गत १६ वर्षों में (१६३७-१६५३!) (गोलकुण्डा के कर के कारण) जो २० लाख रुपये का अन्तर हो गया था वह तुरन्त दे दिया जाये, उसने गोलकुण्डा के शासक को मना कर दिया कि कर्णाटक के हिन्दु राजा के विरुद्ध वह अपना युद्ध चालू रखे (जब तक कि उसका हस्तक्षेप, जैसा कि निर्लज्ज होकर राजकुमार ने सुझाव दिया, धन द्वारा मोल न ले लिया जाये), और गोलकुण्डा के वज़ीर मीर जुम्ला से षड्यंत्र किया कि अपने स्वामी के हित को त्याग दे तथा मुग़ल सेवा में सम्मिलित हो जाये। उसके लोभ को प्रेरित कर उसके (औरंगज़ेब के) मित्र सादुल्लाख़ाँ ने सम्राट् को राज़ी कर लिया कि इस अन्यायपूर्ण नीति का समर्थन वह कर दे। गोलकुण्डा का सर्वनाश करने के लिये अन्त में औरंगज़ेब ने धूर्तता तथा अत्यन्त निन्दनीय चातुर्य का आश्रय लिया। उसने अब्दुल्ला क़ुत्बशाह को लिखे गये शाहजहाँ के एक महत्वशाली पुत्र को दबा दिया और अकस्मात् गोलकुण्डा के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। औरंगज़ेब के इतिहासकार के कथनानुसार शाहजहाँ ने 'औरंगज़ेब को प्रसन्न करने के लिये' दल के केवल प्रदर्शन की आज्ञा दी थी कि मीर जुम्ला के परिवार को मुक्ति प्राप्त हो जाये। अद्भुत तर्क द्वारा यह स्वत्व स्थापित किया गया था कि मीर जुम्ला शाही नौकर है। परन्तु औरंगज़ेब का उद्देश्य तो अब्दुल्ला क़ुत्बशाह का प्राण हरण करना तथा समस्त गोलकुण्डा राज्य का मिला लेना था। तदनुसार उसने अपने पुत्र सुल्तान मुहम्मद को आज्ञा दी कि गोलकुण्डा के शासक को अपने जाल में फँसा ले तथा फुर्ती, चतुराई और हाथ की सफ़ाई दिखाकर मित्रवत् सम्मिलन में उसकी हत्या कर दे। मुग़ल सेना ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया और शाह को गोलकुण्डा के गढ़ में बन्द कर दिया। इस संकट-वेला पर दारा और जहाँनारा ने अपने कृपाकांक्षी क़ुत्ब शाह की रक्षार्थ सक्रिय हस्तक्षेप किया।

उस समय से जबकि गोलकुण्डा और बीजापुर के शासक कर्णाटक की लूट के धन पर अपने झगड़े को शाही दरबार में ले गये थे, दारा तथा औरंगज़ेब विरोधी दलों का समर्थन कर रहे थे। स्वभावतः अब्दुल्ला क़ुत्बशाह ने युवराज की मध्यस्थता की शरण ली कि औरंगजेब के षड्यन्त्रों से उसके प्राण और धन की रक्षा हो सके। शाहजहाँ इस समय तक औरंगज़ेब और सादुल्ला के हाथों में कठपुतली बना हुआ था। उन्होंने उसके लोभ, भूमिक्षुधा और सुन्नी पक्ष-पात को

दुष्ट-प्रेरणा देकर दया और न्याय के विरुद्ध उसके हृदय को पत्थर कर दिया था। दारा का कार्य सम्राट् की सद्बुद्धि को केवल जाग्रत करना था और गोल-कुण्डा के शासक की स्थिति को उसके शुद्ध रूप में सम्राट् के सम्मुख उपस्थित करना था। घड़ी का लटकन अब शान्ति-प्रिय दल की ओर झुक गया। इसका कारण कुछ अंश तक सम्राट् की अपनी जन्मजात न्याय-बुद्धि थी और कुछ अंश तक यह बात थी कि उसके महत्वाकांक्षी तथा निःशंक पुत्र की गुप्त योजनायें शायद प्रकाश में आगईं थीं। अब्दुल्ला क़ुत्बशाह को लिखा हुआ दारा का निम्नांकित पत्र इस काण्ड पर बहुत प्रकाश डालता है—"२६ जमादी उल्-अव्वल को (मार्च १५, १६५६) मुल्ला अब्दुस्समद आया और आपके द्वारा लिखित, सम्राट्, मेरी प्रसिद्ध बहेन जहाँनारा, और मेरे नाम के तीन पत्र (अर्ज़दाश्त) लाया। मैंने तीनों पत्र सम्राट् के सम्मुख उपस्थित कर दिये········उसने दयालुतापूर्वक कृपा का एक फ़र्मान आपको लिखा और उसको शाइस्ताखाँ के पास भेज दिया (आपको देने के लिये)। इसका अभिप्राय यह था कि आपको स्पष्ट हो जाये कि सम्राट् ने········गोलकुण्डा के अवरोध की और आपके देश को अधिकृत करने की आज्ञा वास्तव में नहीं दी है। इसके विपरीत इच्छा यह थी कि मीर मुहम्मद सईद के पुत्रों और उसके परिवार के अन्य सदस्यों को अपने साथ लेकर वे वापस आजायें[1]।

यह कोई नीच षड्यन्त्र न था और न विद्वेषी दारा की ओर से पीठ पर यह आघात था जैसा कि औरंगज़ेब और उसके अन्ध समर्थक बिना कोई कारण बताये कहते हैं। फ़रवरी के आरम्भ में क्षमा का एक शाही पत्र, अब्दुल्ला क़ुत्बशाह के लिये एक सम्मान-वस्त्र के साथ औरंगज़ेब के माध्यम द्वारा भेजा गया था। औरंगज़ेब ने स्वच्छन्दतापूर्वक इस को रोक लिया। इसका दिखावटी सच्चा कारण उसने यह दिया कि उसके कारण शान्ति की शर्तों को निश्चित करने में कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी। परन्तु वास्तव में औरंगज़ेब ने ही शान्ति वार्तालाप को जानबूझ कर बढ़ा दिया कि चतुर मच्छीमार की भाँति वह अन्त तक अपने शिकार में व्यस्त रह सके। औरंगज़ेब सम्राट् को धोखा दे रहा था। वह अपने ही शब्दों द्वारा अपराधी घोषित हो जाता है। औरंगज़ेब मीर ज़ुम्ला को (मार्च के आरंभ में) लिखता है—"क़ुत्ब उल्मुल्क अब क्षमा की याचना कर रहा है। उसका प्रस्ताव है कि उसकी माता मेरी सेवा में उपस्थित हो जायेगी और उसकी पुत्री

१—२ जमादी उस्सानी, १०६६ हि० (१८ मार्च, १६५६) का पत्र; देखो फ़ारसी पाठ्य पृ० १३३। प्रत्यक्ष है कि पत्र में दी हुई जमादी-उस्सानी पत्र-लिपिकार की चूक से जमादी-उल्-अव्वल के स्थान पर लिख गया है। अब्दुल्ला क़ुत्बशाह के दारा को पत्र—फ़ारसी पाठ्य पूववत्—पृ० ३४–५२।

मेरे पुत्र को विवाह दी जायेगी। परन्तु मेरी इच्छा है कि मैं उसको सर्वनाश के मुख में दे दूँ[१]। संक्षेपतः, अपने ही मुख से औरंगज़ेब अपने पर यह दोष आरोपित कर देता है कि गोलकुण्डा का नाश करने के लिये उसने नीच चातुर्य और निर्दयी अन्याय का व्यवहार किया। राजनीति में हानिकारक प्रभाव का प्रतिकार करने के लिये, घूस के रूप में भी (जैसा कि उसके शत्रु अकारण ही कहते हैं), यदि दारा ने हस्तक्षेप किया, उस पर यह अपराध आरोपित नहीं किया जा सकता कि साम्राज्य के उत्तम हितों का उसने विश्वासघात किया। ये हित औरंगज़ेब के हितों से प्रायः भिन्न थे। औरंगज़ेब के राजद्रोही आचरण का दूसरा प्रमाण यह तथ्य है कि उसने अब्दुल्ला क़ुत्बशाह को इस आशय का अहदनामा (प्रतिज्ञा-पत्र) लिखने पर विवश कर दिया कि उसकी मृत्यु के बाद औरंगज़ेब के ज्येष्ठ पुत्र को ब्याही हुई, उसकी कन्या की सन्तान को, गोलकुण्डा का समस्त राज्य मिलेगा जिस पर उसके किसी अन्य वारिस को कोई अधिकार न होगा। यह समस्त कार्यवाही विना सम्राट् के ज्ञान के की गई[२]। उसने इसको मंज़ूर करने से इन्कार कर दिया जब यह सम्पुष्टि के लिये उसके सामने पेश किया गया। आगे चलकर गोलकुण्डा की लूट के धन के अधिकांश भाग से औरंगज़ेब ने राज्य को वञ्चित कर दिया जिस पर पिता और पुत्र में अशोभनीय तर्क-वितर्क प्रारम्भ हो गया। ऐसा मालूम होता है कि औरंगज़ेब के महान् इतिहासकार को भी एक बार और केवल एक बार औरंगज़ेब के सुलिखित पत्रों से धोखा हो गया। इसका कारण यह भी हुआ कि औरंगज़ेब ने अपनी ईमानदारी और आर्थिक लाभ के प्रति अपने तिरस्कार का सरोष प्रदर्शन किया और उसने बहाना किया कि प्रत्येक वस्तु को, जो उसको तथा उसके पुत्र को गोलकुण्डा से उपहारों के रूप में प्राप्त हुई थी, अपने पिता को वापस कर देगा।

गोलकुण्डा में अपने शिकार से वञ्चित हो जाने पर औरंगज़ेब की दृष्टि बीजापुर पर पड़ी। यहाँ के धार्मिक और योग्य शासक मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु ३० वर्ष के सफल शासन काल के बाद (१६२६-१६५६) इस समय पर हुई थी। इस सुजन शासक की मृत्यु पर औरंगज़ेब का हर्ष उसके पत्रों में प्रवाहित है जो उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह सदृश अपने मित्रों को लिखे थे। यद्यपि बीजापुर स्वतन्त्र राज्य था और मुग़ल साम्राज्य से शान्ति की शर्तों का उसने पूर्ण

१—अदब, ८१ अ०। सरकार कृत—'औरंगज़ेब के इतिहास में उद्धरित–खण्ड I तथा II पृ० २१३, ५२।

२—दरबार के इतिहास में इस अहदनामा का लेशमात्र भी अनुषंग नहीं है। इस तथ्य से औरंगज़ेब के आचरण पर स्पष्ट सन्देह होता है। औरंगज़ेब के पुत्र के विवाह के लिये देखो वारिस, ११० अ०।

रूप से पालन किया था, औरंगज़ेब ने इसके विनाश के निमित्त षड्यन्त्र की रचना की। निःशंक और स्पष्ट साम्राज्यवाद हमारी नैतिक भावनाओं को इतना राक्षसी प्रतीत नहीं होता है जितना कि वाक्छल और दंभ का चोग़ा जिससे मनुष्यमात्र को धोखा देने के लिये राजनैतिक पुरुष उसको सुसज्जित कर देते हैं। औरंगज़ेब ने भी यही वस्त्र धारण कर लिया कि इसके द्वारा वह अपने पिता को इस पर राजी करले कि बीजापुर को मिला लेने के लिए युद्ध की आज्ञा वह दे दें। उसने अली आदिलशाह द्वितीय की अनौरसता का सुखद मत उपस्थित किया और सम्राट् से प्रार्थना की कि ऐसे राज्य को एक जारज के अधिकार में न छोड़ दिया जाये, परन्तु जनता के हित के कारण उसको साम्राज्य में मिला लिया जाये। बीजापुर पर आक्रमण की आज्ञा सम्राट् द्वारा प्राप्त होने की पूर्वाशा से औरंगज़ेब ने अपनी सेना को उसकी सीमा पर एकत्र कर दिया, बीजापुर के वज़ीर को मिला लेने के लिये उसने षड्यन्त्र आरम्भ कर दिया और अपने कोष को खोल दिया कि बीजापुर के सरदारों को अपनी तरफ़ फोड़ सके। अस्थिर सम्राट् कुछ समय तक डाँवाडोल रहा, परन्तु अन्त में वह युद्धप्रिय दल की ओर झुक गया। इस दल का नेता इस समय मीर जुम्ला था। वह नया प्रधानमन्त्री था और दक्षिण की राजनीति में वह सर्वसम्मत प्रमाण था और सम्राट् की सेवा में उसने जो अद्वितीय हीरे, माणिक्य और पन्ने उपहार रूप में उपस्थित किये, उन्होंने दारा के शान्ति-प्रिय दल को परास्त कर दिया।[1]

२६ नवम्बर, १६५६ को बीजापुर के विरुद्ध शाहजहाँ ने सर्वथा अन्यायपूर्ण युद्ध की आज्ञा दे दी और औरंगज़ेब को स्वतन्त्र अधिकार दे दिया 'कि बीजापुर के काण्ड का जैसा वह उचित समझे वैसा निपटारा कर दे।' केवल २३ दिन घेरने के बाद (२६ मार्च, १६५७ को) उसने बीदर के सबल गढ़ पर अधिकार कर लिया और इसके बाद कल्याणी पर घेरा डाल दिया जिसने भी १ अगस्त, १६५७ को आत्मसमर्पण कर दिया।[2] मुग़ल सूबेदार को शाही सेना के विशाल दलों की सहायता प्राप्त हो गई और ऐसा मालूम होने लगा कि कुछ महीनों में स्वयं बीजापुर का पतन हो जायगा। युद्ध आरम्भ होने के ६ महीनों बाद जब औरंगज़ेब पूर्ण सफलता प्राप्त कर रहा था सम्राट् ने अकस्मात् उसको रोक दिया और बिना औरंगज़ेब से परामर्श किये हुए उसने बीजापुर से शान्ति स्थापित करली और महावतख़ाँ तथा राव छत्रसाल हाड़ा को उसने आज्ञायें भेज दीं कि अविलम्ब उसकी सेवा में उपस्थित हो जायें, औरंगज़ेब से विधिपूर्वक आज्ञा प्राप्त करने की प्रतीक्षा न करें और अपने साथ समस्त मुग़ल और राजपूत

१—औरंगज़ेब का इतिहास, II २३३।

२—वही, पृ० २३६, २३७, २५०।

सैनिकों को लेते आयें जो दक्षिण में युद्ध-सेवा पर उपस्थित थे। सम्पूर्ण का-न- अशुभ रूप से रहस्यमय प्रतीत होता था और सदा की भाँति इसका कारण दारा का षड्यन्त्र बताया गया। दुर्भाग्यवश वारिस का अधिकृत इतिहास यहीं पर समाप्त हो जाता है तथा युवराज और बीजापुर का कोई मौलिक पत्र-व्यवहार अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। मुहम्मद सलिह कम्बू, जिसने औरंगज़ेब के शासन-काल में अपना ग्रन्थ अमले-सलिह लिखा, कहता है कि अली आदिल शाह ने औरंज़ेब का सामना करने में अपने को असमर्थ देखकर अपने वकील इब्राहीम बिचित्तरखाँ को राजकुमार दाराशिकोह के पास भेजा और उसके द्वारा शान्ति की प्रार्थना की। औरंगज़ेब का एक आश्रित व्यक्ति आक़िलखाँ रज़ी कहता है कि दाराशिकोह की प्रार्थना पर महावतखाँ और राव छत्रसाल हाड़ा को दो आज्ञा पत्र (फ़र्मान) लिखे गये[१]। परन्तु शाहजहाँ की ओर से नीति का यह परिवर्तन इतना निर्णायक और स्थिर है और इसका अर्थ इतना गम्भीर है कि चाहे जितना दारा का प्रभाव क्यों न हो वह इसका पूर्ण कारण नहीं हो सकता है। ऐसा मालूम होता है कि दारा के प्रति उसके प्रेम की अपेक्षा औरंगज़ेब की ओर से उसके भय ने उस पर अधिक प्रभाव डाला। औरंगज़ेब की ओर से शाहजहाँ परेशान था। उसमें उसको अपनी ही पापी आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता—नवयुवक, साहसी, कार्यदक्ष, निःशंक ख़ुर्रम का जो अपने पिता के प्रति विद्रोही था और अपने ज्येष्ठ भ्राता का हत्यारा था। औरंगज़ेब के प्रति उसको स्वाभाविक अविश्वास था और यही कारण था कि औरंगजेब के प्रति उसकी वृत्ति अस्थिर और कभी-कभी अकारण ही चिन्ताकुल रहती थी। उसके हृदय में यह भ्रांति थी कि दक्षिण में अपने सूबेदारी पद को औरंगज़ेब दिल्ली के राजसिंहासन पर अधिकार प्राप्त करने का साधन बनाले जैसा कि स्वयं उसने जहाँगीर के शासन-काल में किया था। राजकुमार शुजा को लिखा हुआ शाहजहाँ का एक पत्र प्रकट करता है कि दक्षिण से औरंगजेब को स्थानान्तर करने पर सम्राट् इस समय गम्भीरता-पूर्वक विचार कर रहा था। पहले इसके कि औरंगजेब के विरुद्ध अपनी योजना को शाहजहाँ परिपक्व कर सके वह ६ सितम्बर, १६५७ को रोग-ग्रस्त हो गया। उसकी रुग्णता का यह समाचार, जो प्रवाद द्वारा मृत्यु के समाचार में परिवर्तित हो गया था, उत्तराधिकार-युद्ध के प्रारम्भ का संकेत बन गया।

१—कम्बू ५ ब; आक़िल १६।

रूप

अध्याय ८

उत्तराधिकार-युद्ध के कारण

विभाग १—दारा की नास्तिकता और गृह-युद्ध

इस्लाम ने अपनी राज-व्यवस्था के अन्तर्गत वंशानुगत राजत्व के उदय पर कभी विचार न किया था। अतः मुसलमानी राज्य में उत्तराधिकार का कोई विशेष नियम न था। इसके विपरीत, ज्येष्ठत्व के सर्वव्यापी नियम को अस्वीकृत करके, तलवार के निर्णय के विरुद्ध एक मात्र रक्षा-साधन को, चाहे जितना अपर्याप्त वह क्यों न हो, उसने निर्बल बना दिया। इसके अतिरिक्त तैमूर के वंश में विद्रोह की निन्दनीयता और उसकी अपमानजनकता नष्ट हो गयी थी। इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने को मिर्ज़ा मानता था—अर्थात् ऐसा राजकुमार जिसको शासन करने का तथा प्रत्येक अन्य सदस्य की पैतृक सम्पत्ति के अपहरण करने का अधिकार था। मुग़ल साम्राज्य में प्रत्येक अन्य मुस्लिम राज्य की भाँति राजकुमारों और अपहरणकारियों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था।

कुछ लोगों का विचार है कि गृह-युद्ध टल सकता था यदि शाहजहाँ ने अपने पुत्रों की शिक्षा के सम्बन्ध में शिथिल नीति का अनुसरण न किया होता। इसके कारण उसके प्रत्येक पुत्र का ऐसा चरित्र बन गया और उसमें ऐसी प्रवृत्तियों का विकास हो गया जो सर्वथा एक दूसरे के विरोधी थीं। इस प्रकार दारा का प्रवेश अविश्वास के क्षेत्र में हो गया, शुजा ने शिया सम्प्रदाय की ओर अपनी प्रवृत्ति प्रकट की, औरंगजेब क्रूर होकर कट्टर सुन्नी बन गया और मुराद धर्म के प्रत्येक रूप की हँसी उड़ाता और केवल मदिरा और माँस में आनन्द प्राप्त करता। परन्तु राजकुमारों के व्यक्तिगत चरित्र और उनके धार्मिक विचार उनके पारस्परिक गृह-युद्ध के बिल्कुल ही उत्तरदायी न थे। यह मानना अनर्थक है कि यदि शाहजहाँ के चारों पुत्र समान रूप से इस्लाम पर निष्ठा रखते तो सर्वसाधारण मुसलमानी जनता उसके भाइयों के स्वत्व-प्रतिपादन के विरुद्ध दारा के स्वत्व का साथ देती। यदि दारा अली की भाँति भी सज्जन और भक्तात्मा होता, तब भी उसके भाइयों को निश्चय था कि रसूल के दामाद के विरुद्ध लड़ने के लिये मुवैय्या को जितने सैनिक प्राप्त हो सके थे उनसे कहीं अधिक सिपाही उनको भारतीय मुसलमानों में से मिल जायँगे। दारा और औरंगजेब का संघर्ष वास्तव में हिन्दु और मुसल्मानों की पारस्परिक बल परीक्षा न थी यद्यपि दारा की ओर से अधिक हिन्दुओं ने तथा औरंगजेब की ओर से अधिक

मुसलमानों ने इस संघर्ष में भाग लिया। यदि इस संघर्ष का परिणाम हिन्दु-धर्म या इस्लाम की विजय होता, तो बारहा के सैयद दारा के अत्यन्त श्रद्धालु अनुचर न हो सकते थे और न महाराणा राजसिंह औरंगजेब के पक्ष का समर्थन करता। अन्यत्र हम यह विवाद उपस्थित करेंगे कि दारा धर्म-भ्रष्ट विधर्मी था जैसा कि उसके शत्रु कहते हैं या वह ऐसा न था। यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि रसूल के सम्प्रदाय की वास्तविक आत्मा की व्याख्या करने में मुल्लाओं से चाहे जितना ज्यादा उसका मत भेद क्यों न हो, वह इस्लाम के अनेक प्रसिद्ध पुत्रों की भाँति जीवनपर्यन्त मुसलमान रहा और मुसलमान ही मरा।[१] दारा के विधर्म के कारण नहीं, परन्तु उसकी लौकिक बुद्धि और चातुर्य के अभाव के कारण उसके अधिकांश कृपाकांक्षी—हिन्दु और मुसलमान दोनों—उसका पक्ष त्याग कर उसके प्रतिद्वन्द्वी के समर्थक बन गये।

विभाग २—शाहजहाँ का दाराशिकोह के प्रति पक्षपात

दारा के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल देशी तथा विदेशी लेखकों का सामान्य विषय है शाहजहाँ का उसके प्रति पक्षपात। और प्रायः यह कहा जाता है कि अपने पिता के विरुद्ध छोटे राजकुमारों के विद्रोह का यह एक सहायक कारण है। उसके छोटे भाई युवराज को परिवार पर भारस्वरूप समझते थे जिसका अनायास ही पालन-पोषण होता, जो सम्मान वस्त्रों में लदा रहता और जो सम्राट् के परिजनों में राजसी ठाठ से भ्रमण करता रहता था। शाहजहाँ के तीस वर्षों के शासनकाल में दारा को कभी भी १५ महीनों तक दरबार से दूर ठहरने की आज्ञा न मिली थी। यद्यपि रण-कौशल में किसी कर्त्तव्य का भी श्रेय उसको प्राप्त न था, उसका सैनिक पद अन्त में ६० हज़ार ज़ात का हो गया था; और यह पद समस्त छोटे भाइयों के पद से अधिक था। दारा के पुत्रों के प्रति भी वह पक्षपात प्रकट था। सुलेमानशिकोह काबुल का अनुपस्थित सूबेदार था और उसका पद १२ हज़ारी का था। सिपिहरशिकोह ठट्टा का अनुपस्थित राज्यपाल था और उसका पद ९ हज़ारी का था[२] जो शुजा तथा औरंगजेब के ज्येष्ठ पुत्रों के पदों से ऊँचा था। शाहजहाँ ने राजकीय रत्न, घोड़े

१—दारा का एक प्रतिकूल समालोचक बर्नियर कहता है—"चूँकि जन्म से वह मुसलमान था, वह उस धर्म के व्यावहारिक आचरण में सतत भाग लेता रहा, परन्तु यद्यपि वह जन-साधारण के समक्ष इस प्रकार अपने को उस धर्म का अवलम्बी प्रकट करता, दारा व्यक्तिगत रूप से हिन्दुओं में हिन्दु और ईसाइयों में ईसाई था (कांस्टेबल कृत—'बर्नियर और उसकी यात्रायें, पृ० ६)।

२—शुजा और औरंगजेब दोनों २० हज़ारी थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान जैनउद्दीन तथा सुल्तान मुहम्मद दोनों ७ हज़ारी थे। राजकुमारों के मन्सब के लिये देखो वारिस, १२३ ब.।

और हाथी दारा को दे दिये थे। उसने दारा के सेवकों में से अपेक्षाकृत अधिक सामन्त बना दिये थे, और दारा के धर्म-गुरुओं, साहित्यिक पार्श्वचरों तथा संगीतकारों को उदारतापूर्वक आर्थिक तथा अन्य सहायताएँ दीं।[1]

दारा के प्रति शाहजहाँ के पक्षपात के विषय में इस प्रकार बहुत कुछ कहा गया है। परन्तु क्या शाहजहाँ का निष्पक्षपात रक्तपात को रोक सकता था? क्या यह सम्भव था कि पिता के प्रेम में और पैतृक सम्पत्ति में समान भाग राजकुमारों को राजगद्दी के निमित्त संघर्ष से रोक सकता था? शाहजहाँ ने उस मार्ग का अनुसरण किया जो विधाता द्वारा उसके लिये सुनिश्चित प्रतीत होता था—अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र को उसका उचित भाग देना और शुभ दैव-योग से उसके समस्त बच्चों में युवराज सर्वाधिक उत्तम प्रेम का पात्र था। अतः अपने समस्त जीवन में सम्राट् ने दारा के सर्वाधिक प्रिय और उत्साही मित्र तथा शिक्षक का कार्य किया। ऐसा प्रतीत होता था कि दारा के हित में हिन्दुस्तान के साम्राज्य की, पवित्र तथा अभेद्य निक्षेप के रूप में, वह रक्षा कर रहा है। यदि दारा की यह स्थिति अच्छी तरह समझ ली जाये—तो यह आरोप कि शाहजहाँ ने दारा के प्रति पक्षपात किया—तुरन्त ही भूमिसात् हो जाता है। अपने विधिविहित उत्तराधिकारी के प्रति न्यायार्थ प्रत्येक कार्य उसने

१—कवीन्द्राचार्य को लाहौर में १५००) रु० मिले। (७ अक्तूबर, १६५१—वारिस)। दारा तथा जहाँनारा के पीर मुल्ला शाह बदख़शी को रमज़ान के उपवास की समाप्ति पर ५ हज़ार रु० मिले (१२ जुलाई, १६५६—वारिस, ११४ अ)। चन्द्रभान ब्राह्मण को राय की उपाधि से सम्मानित किया गया (६ अप्रैल, १६५६—वारिस, १०८ ब) दारा के कवि को, जो उसके दीवान मुल्ला सलिह का भाई था, १ हज़ार रु० मिले 'क्योंकि उसने परिश्रमपूर्वक हिन्दवी (हिन्दी) में ईश्वर के नामों का एक संग्रह तैयार किया था' (२ मई, १६५५—वारिस ९८ ब.) दारा के संगीतकारों को २ हज़ार रु० मिले (३१ मार्च, १६५५—वारिस, ९८ अ) दारा के सेवकों की पद-वृद्धि के विषय में वारिस कहता है—"शाह बुलन्द इक़बाल मुहम्मद दाराशिकोह के अनुचरों में से ५ व्यक्ति पहिले ही ख़ाँ बनाये जा चुके थे—वे ये थे—काबुल के सूबे का नायक नाज़िमबहादुरख़ाँ (यह व्यक्ति इज़्ज़तख़ाँ था जिसको ११ मार्च, १६५५ को बहादुर ख़ाँ का उच्च पद (?) मिला था। इलाहाबाद के सूबे का नायब नाज़िम (सैयद हाशिम बारहा का पुत्र) सैयद सलाबतख़ाँ। युवराज का दीवान मुतमिदख़ाँ। ठट्टा (सिन्ध) का नायब नाज़िम मुहम्मद अलीख़ाँ। तथा राजकुमार के तोपखाने का नेता बर्कन्दाज़ख़ाँ (बदनाम जाफ़र)। उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त ५ अन्य सज्जन इस दिन (१४ जुलाई, १६५६) सामन्त बना दिये गये—अब्दुल्ला बेग नजुम्सानी को अस्करख़ाँ की उपाधि मिली; लाहौर के नगर कोतवाल ख़्वाजा मुईन को मुईनख़ाँ की उपाधि दी गई; मुल्तान का नायब नाज़िम सैयद अब्दुर्रज़्ज़ाक़ इज़्ज़तख़ाँ हो गया; आगरा तथा दिल्ली के बीच के प्रदेश का (दारा की ओर से) फ़ौजदार शेख़दाऊद—दाऊदख़ाँ बनाया गया; और एक अन्य अधिकारी नाहर तम्बूरी नामक नाहरख़ाँ बनाया गया।" (वारिस, १६६ अ०)।

सत्प्रयास से किया। अपने छोटे पुत्रों और शेष जगत् पर यह भावना अंकित करने का उसने प्रयास किया कि दारा से ईर्ष्या करना और उसकी स्पर्धा करना उसी प्रकार निरर्थक है जैसे कि विधि के विरुद्ध संघर्ष करना। परन्तु कष्ट इस कारण उपस्थित हुआ कि छोटे राजकुमारों ने, अपने भाग्य से सामञ्जस्य स्थापित करने में असमर्थ होकर षड्यन्त्र किया कि वे उस विद्वेष का प्रतिशोध प्राप्त कर लें जो उनको अपने पिता तथा ज्येष्ठ भ्राता से था। उसके निर्बल हाथों से राजदण्ड को छीनने के प्रत्येक प्रयास को दारा की अक्षमता से भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

विभाग ३—दारा और औरंगज़ेब के सम्बन्ध

उनके जीवन के आरम्भ से ही दारा तथा औरंगजेब में पारस्परिक शत्रुता निस्सन्देह उत्तराधिकार-युद्ध का एक कारण है। औरंगजेब को उसके धर्मान्ध समर्थक क्षमा तथा सहिष्णुता की मूर्ति बताते हैं, जो दारा के द्वेषभाव-प्रेरित षड्यन्त्रों का दयनीय शिकार था। कहा जाता है, कि अपने छोटे भाइयों के प्रति दारा की ईर्ष्या और घृणा उनकी योग्यता के समानुपात में थी। परन्तु लिखित इतिहास से यह स्पष्ट मालूम होता है कि दारा के विरुद्ध घृणा और विष के प्रत्यक्ष प्रदर्शन द्वारा औरंगजेब ने ही सर्वप्रथम अपने हृदय के कालुष्य को व्यक्त कर दिया। यहाँ पर हम संक्षेप से उन मुख्य घटनाओं पर दृष्टि डालेंगे जो उत्तराधिकार-युद्ध के प्रारम्भ के पूर्व दोनों भाइयों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालती हैं।

१—२८ मई, १६३३ को आगरा के गढ़ के नीचे यमुना के रेतीले मैदान पर दो हाथी सुधाकर और सूरत-सुन्दर लड़ाये गये। घोड़ों पर सवार दारा, शुजा तथा औरंगज़ेब सुधाकर के समीप आ गये। क्रोधोन्मत्त हाथी ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को भगा देने के बाद औरंगज़ेब के घोड़े पर वार किया और उसको उठा कर फेंक दिया। १५ वर्ष के बालक अल्पवयस्क औरंगज़ेब ने आश्चर्यकारी वीरता और साधनशीलता का परिचय दिया तथा शुजा और मिर्ज़ा राजा जयसिंह द्वारा सहायता प्राप्त होने पर संघर्ष से सकुशल तथा विजयी होकर निकल आया। इस अवसर पर औरंगज़ेब ने न केवल "अपने उच्च साहस तथा मृत्यु के प्रति अपनी राजोचित उपेक्षा" का पूर्ण परिचय दिया, किन्तु साथ ही दारा के प्रति एक द्वेष-पूर्ण आक्षेप द्वारा उसने अपनी अभ्रातृ भावनाओं का भी परिचय दे दिया। उसने अपने पिता को कहा—"यदि इस युद्ध में मैं मारा जाता, यह कोई लज्जा की बात न होती........लज्जा की बात तो मेरे भाइयों के आचरण में थी।" ये अक्षरशः वही शब्द हैं जो औरंगज़ेब के निष्ठावान पक्षपाती हमीदउद्दीनखाँ ने उपयुक्त ढंग से अपने स्वामी के कथन के रूप में प्रस्तुत किये हैं। इस कटाक्ष में

विनय और चातुर्य्य प्रशंसनीय हैं, क्योंकि बहुवचन का उपयोग किया गया है जबकि स्पष्ट अभिप्राय केवल एक व्यक्ति—अर्थात् दारा से था। दारा हाथी की दूसरी ओर कुछ दूरी पर था तथा "इच्छा होते हुए भी औरंगज़ेब की सहायता न कर सकता था, क्योंकि समस्त प्रकरण कुछ मिनटों में ही समाप्त हो गया[1]।"

२—दारा के विरुद्ध सन्देह और ईर्ष्या का स्वर प्रकट करने में जिस प्रकार औरंगज़ेब प्रथम था, उसी प्रकार अपने पिता को रुष्ट करने में और सार्वजनिक निन्दा का अधिकारी बनने में भी वह प्रथम था—"क्योंकि अपने मूर्ख साथियों के दुष्ट परामर्श से कुप्रेरित होकर वह साधु के सर्व-त्यागी जीवन में प्रवेश करना चाहता था और उसने कुछ ऐसे भी कर्म किये थे जिनका समर्थन सम्राट् न कर सका।"[2] (१६४४ ई०)। इस अस्पष्ट वर्णन को एक आख्यायिका द्वारा हमीदउद्दीन स्पष्ट करता है जिसका अभिप्राय है कि राजकुमार का अपमान दाराशिकोह के प्रति उसकी खुली ईर्ष्या का परिणाम था। "कहा जाता है कि दारा ने अपने पिता और तीनों छोटे भाइयों को आगरा में अपना नव-निर्मित भवन देखने के लिये बुलाया। ग्रीष्म ऋतु थी और मण्डली एक ठंडे कमरे में पहुँची जो ज़मीन के अंदर नदी के पास बना हुआ था और जिसमें केवल एक दरवाज़ा था। दूसरे लोग अंदर चले गये, परन्तु औरंगज़ेब दरवाज़े पर बैठ गया। उसके इस विचित्र आचरण के कारण शाहजहाँ ने उससे बहुत कुछ पूछ-ताछ की, परन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया। आज्ञा-भंग के इस कार्य पर दरबार में उसका आना बन्द कर दिया गया। अपमान के ७ मास बिताकर उसने जहाँनारा को कहा कि चूँकि कमरे में एक ही द्वार था उसको भय हुआ कि दारा कहीं उसको बन्द न करदे और अपने पिता और भाइयों की हत्या करदे कि राजगद्दी को उसका मार्ग साफ़ हो जाये। ऐसे किसी प्रयास को रोकने के लिये औरंगज़ेब (उसने कहा) दरवाज़े पर सन्तरी बन कर बैठ गया था[3]।" इस आख्यायिका में चाहे जितना सत्य हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता है कि इस आख्यायिका से यह प्रकट हो जाता है कि भविष्य में औरंगज़ेब अपने भाइयों की हत्या करेगा और अपने पिता को बन्दी बनायेगा। और यह भी प्रकट होता है कि यदि औरंगज़ेब अपने पिता को और भाइयों को ऐसे जाल में फँसा पाता तो शायद उसने वही कर्म किया होता जो दारा के दिमाग़ में भी न आ सका था।

१—औरंगज़ेब का इतिहास, I तथा II पृ० १०।

२—पाद० II ३७३।

३—औरंगज़ेब का इतिहास, I तथा II पृ० ६६।

३—जब औरंगज़ेब मुल्तान और सिन्ध का राज्यपाल (सूबेदार) था (१६४८-१६५२), तब इस्माईल हुत के प्रकरण पर कुछ अप्रिय घटनायें घटित हो गईं। यह इस्माईल हुत एक लुटेरा बलोच सरदार था जिसका प्रदेश मुल्तान और उत्तरी पंजाब की सीमा पर स्थित था। वह दारा का आश्रित था और अपने को लाहौर के राज्यपाल की प्रजा मानता था। मुल्तान के नवनियुक्त राज्यपाल औरंगज़ेब की सेवा में उपस्थित होने से उसने इन्कार कर दिया और कारण बताने के लिये दारा का एक पत्र उपस्थित किया (नविश्ते दादा भाईरा दस्तावीज़ साख़्ता)। सन्निकट प्रान्तों के दो राज्यपालों के बीच में उनके शासन-क्षेत्र से सम्बन्धित यह विवाद था—और औरंगज़ेब के पक्ष में सम्राट् ने इसका न्यायोचित निर्णय किया। १६५२ में मुल्तान का प्रान्त दारा के शासन-क्षेत्र में मिला दिया गया। उस प्रान्त का कार्य-भार संभाल कर दारा ने सम्राट् को लिखा कि औरंगज़ेब के अनुचरों ने मुल्तान नगर के बहुत से भवनों को गिरा दिया था और उनकी लकड़ी और दरवाज़े बेच डाले थे। वरन् औरंगज़ेब ने इस आरोप का सफल उत्तर दिया; अपने रक्षण के समर्थन में मुल्तान के एक समाचार लेखक के वृत्तान्त का उसने उल्लेख किया जिससे यह स्पष्ट था कि औरंगज़ेब के अनुचरों के चले जाने के बाद ही नगरनिवासियों को ऐसे विनाशक कार्य करने का साहस हुआ। औरंगज़ेब का चाहे जो कुछ अपराध रहा हो, वह अवश्य ही ऐसे तुच्छ विनाशकार्यों से परे था और वह इतना कठोर अनुशासक था कि अपने अधिकारियों की ओर से ऐसे कार्यों को सहन न कर सकता था। एक अधिक शोचनीय घटना उस समय घटी जब दक्षिण को जाता हुआ औरंगज़ेब लाहौर के निकट ठहर गया। दारा का जो अधिकारी लाहौर का कार्य-भार संभाले हुए था, वह नगर से बाहर आया जैसे कि वह औरंगज़ेब का स्वागत करना चाहता हो। परन्तु उसका ऐसा अद्भुत आचरण रहा कि वह राजकुमार के शिविर के पास से होकर निकल गया और विना उससे मिले शहर को वापस आ गया। यह निष्कारण का अपमान था कि जनसाधारण की निगाह में राजकुमार गिर जाये। परन्तु औरंगज़ेब ने निश्चय ही दारा के प्रति अन्याय किया जब उसने यह सन्देह किया कि दारा के अनुचर ने अपने स्वामी के आदेश पर उसका अपमान किया था, क्योंकि दारा इस समय सम्राट् के साथ काबुल में था। दारा के अनुचर का यह भद्दा आचरण स्पष्टतया उसके अनिर्णय के कारण हुआ कि अपने स्वामी के सन्देह को विना जाग्रत किये हुए अधिकृत शिष्टाचार के अनुसार वह राजकुमार का स्वागत करने जाये या नहीं। तब भी अपकार तो हो ही गया और अनुचर के दुर्व्यवहार के कारण उसका स्वामी निश्चय ही कलंक का भागी हो गया।

४—व्यक्तिगत चरित्र, रुचियों और धार्मिक दृष्टिकोण में शायद ही किन्हीं दो व्यक्तियों में इतना अन्तर रहा हो जितना दाराशिकोह तथा औरंगजेब में था। अपने चरित्र में और एक दूसरे के प्रति अपनी घृणा की तीव्रता में वे कुछ-कुछ अपने समकालीन अँग्रेज राजभक्तों और राजद्रोहियों के सदृश हैं। दारा के धर्म का आदर्शवाक्य वही था जो अकबर का था—अर्थात्—'सर्वशान्ति' (सुलेह-कुल), और इस दशा में हम यह कह सकते हैं कि उसका धर्म "कलाओं का, विद्याओं का, स्वस्थ ज्ञान का तथा निष्पाप आनन्द का प्रवर्धक था।" संक्षेपतः, वह शिष्टजन का धर्म था; तथा औरंगजेब के धर्म में ईश्वरी सैनिकों के रक्षा-गृह की घोर उदासी व्याप्त थी, असभ्य सैनिक की विचार-दृष्टि से किसी निरर्थक वस्तु को वह सहन न कर सकता था, प्रत्येक कोमल तथा आकर्षक आनन्द का वह तिरस्कार करता था, वह ईश्वर के निमित्त युद्ध में न अपने को क्षमा कर सकता था, न किसी और को। यद्यपि अध्ययन और आध्यात्मिक मनन का अभ्यास दारा को था तथापि बाह्य जगत् को वह उतना ही आनन्दमग्न, मुक्तहस्त, प्रसन्न-चित्त, आभा-युक्त प्रतीत होता था। सर्वोपरि उसका हृदय कोमल था और थोड़ी-सी चाटुकारिता पर वह किसी की उदारता-पूर्वक सेवा कर सकता था। औरंगजेब वास्तव में 'विना संगीत का मनुष्य' था—सदैव शान्त, निश्चल, गम्भीर तथा विनीत। उसके पीत तथा रुग्ण मुख पर सदैव धर्म का तिमिर रहता था और मकाले के इटली-वासी उत्पीड़क के अनुरूप वह "मितभोजी, पुरोहित की भाँति सतत प्रार्थनाशील तथा नास्तिक की भाँति शपथों तथा प्रतिज्ञाओं के प्रति सदैव चिन्तारहित था।"

दारा अपने छोटे भाई को चिढ़ाने के लिए प्रार्थनाशील मुल्ला (नमाज़ी) कहता और उसको दाम्भिक कहकर उसकी अवहेलना करता और इन प्रशंसा-वचनों के उत्तर में औरंगजेब उसको काफिर (अविश्वासी) और मुल्हिद (अनेकेश्वर वादी) कहता। औरंगज़ेब के कुछ कट्टरपन्थी समर्थक कहते हैं कि इन विशेषणों के उपयोग द्वारा औरंगज़ेब ने १७वीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय मुसलमानों की भावनाओं की केवल प्रतिध्वनि की। अपने सार्वजनिक जीवन में दारा हिन्दुओं का आश्रयदाता माना जाता था और औरंगज़ेब इस्लाम का रक्षक समझा जाता था। दारा का महान् प्रथम सार्वजनिक कार्य यह मालूम होता है कि अपने प्रभाव के उपयोग द्वारा उसने प्रयाग और वाराणसी में यात्री-कर की छूट प्राप्त कर ली। कहा जाता है कि प्रसिद्ध मराठा विद्वान् कवीन्द्राचार्य सरस्वती[1] के नेतृत्व में एक हिन्दु प्रतिनिधि मण्डल सम्राट् की सेवा में उपस्थित

१—इस अवसर पर सम्राट् ने वाग्मी गम्भीर विद्वान् को 'सर्वविद्यानिधान' की उपाधि दी। गायकवाड़-ओरियन्टल सीरीज़, नं० १७–पृ० ४–५।

हुआ और उसने अपने पक्ष को इतने प्रभावशाली ढंग से उपस्थित किया कि दारा और शाहजहाँ की आँखों से आँसू टपक पड़े। हिन्दु दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में उन्नति से और हिन्दु संन्यासियों और योगियों की संगत से हिन्दुओं के प्रति उसकी मानसिक सहानुभूति उनके हितार्थ सक्रिय रुचि के रूप में विकसित हुई।

औरंगज़ेब ने अपने को इस्लाम का युद्ध-शील प्रचारक प्रकट किया जो वास्तव में अन्य धर्मों का तिरस्कार करता हो। उसकी आयु के साथ-साथ इस तिरस्कार की तीव्रता भी बढ़ती गयी। जब वह गुजरात का राज्यपाल था, उसने चिन्तामणि के प्राचीन मन्दिर को भ्रष्ट कर दिया और वहाँ पर गायों का वध करके उसने अपने धर्मान्ध क्रोध का परिचय दिया। उसने गुजरात से योरुप को शोरे का निकास बन्द कर दिया क्योंकि इस अल्पव्यस्क कल्पनाशील सर्वइस्लामवादी को भय था कि ईसाई लोग इससे उस्मानी तुर्कों के समान भक्त सुन्नियों को मारने के लिये युद्ध-सामग्री तैयार करेंगे। परन्तु शाहजहाँ ने इन कार्यों के लिए अपनी अनुमति न दी; मन्दिर, कहा जाता है, पुनः हिन्दुओं को वापस दे दिया गया। जब वह द्वितीय बार दक्षिण का महाराज्यपाल हुआ उसने सतारा की पहाड़ी पर (औरंगाबाद के समीप) स्थित खाण्डेराव के मन्दिर को नष्ट कर दिया।

अपने मित्रों को सहायता पहुँचाने की इच्छा के कारण औरंगज़ेब दरबार में अपने प्रभाव का उपयोग करने में संकोच न करता; और उसका अभिप्राय यह होता कि उन हिन्दुओं के प्रति जो अपने दुःखों का प्रतिकार चाहते थे, न्याय का द्वार बन्द कर दिया जाये। उसके आरम्भिक हिन्दु-विरोधी भाव का एक अनुरूप उदाहरण निम्नांकित है। यह एक पत्र में प्रकट है जो उसने अपने मित्र सादुल्लाखाँ को लिखा था—"बिहार नगर के सम्पत्ति-कर के क़ानूनगो छबीला नामक ब्राह्मण ने रसूल के विषय में कुछ अनुचित शब्द कहे थे। सम्राट् की आज्ञा से आरोप की जाँच करके प्रमाणित करने के बाद ज़ुल्फ़िक़ारखाँ और अन्य स्थानीय अधिकारियों ने उसको प्राण-दण्ड देकर नरक को भेज दिया जैसा कि न्याय की माँग थी तथा अपने अशुद्ध जीवन से जिस स्थान को वह बहुत समय से अपवित्र बनाये हुए था उस स्थान को उन्होंने शुद्ध कर दिया। मुझे आशा है कि इन तथ्यों से आप परिचित हैं।"

"अभी मुल्ला मोहन[१] ने जिसके साथ मेरे सम्बन्ध को आप नहीं जानते हैं,

---

१—वास्तविक नाम मुहिउद्दीन है; उसका जन्म बिहार में हुआ था; ९ वर्ष की आयु में उसने क़ुरान को कण्ठस्थ कर लिया था... सम्राट् शाहजहाँ की सेवा में भरती हो गया तथा राजकुमार औरंगज़ेब का शिक्षक नियुक्त हुआ... शेख़ वाजउद्दीन गुजराती के पौत्र शाह हैदर

मुझको लिखा है कि उस पापी नास्तिक के भाइयों ने दुराग्रह और पक्षपात के कारण शाही दरबार में उसके (मुल्ला मोहन के) भतीजे, मीर आदिल (न्यायाधीश) शेख़ मुहम्मद मोला (मश्राली ?) तथा बिहार प्रान्त के मुफ़्ती (धर्माध्यक्ष) अब्दुलमानी की शिकायत की है। अतः इस काण्ड की याद दिलाने के लिये मैं यह पत्र आपको लिख रहा हूँ। चूँकि यह सब मुसलमानों के लिए उचित और अनिवार्य है कि रसूल के धर्म को सर्वोपरि रखने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करें, और चूँकि पवित्र धर्म के आदेशों को प्रवर्तित करने में इस्लाम के उलमा (विद्वानों) की रक्षा करना शासकों और सामन्तों का धर्म है, आप अपने अन्य सामन्तों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करें कि सम्राट् के चरणों में इस दुष्ट जाति की शिकायत न पहुँचने पाये तथा धर्म के संरक्षकों के पत्रों (व्याख्याओं) को सँभाल कर रखें।" (अदब, १०१ अ)। यह सारा काण्ड सन्देह-ग्रस्त प्रतीत होता है क्योंकि यदि कोई अनियमता न हुई होती, यदि कोई वास्तविक दुःख न हुआ होता, तो हिन्दु लोग शक्तिशाली स्थानीय मुसलमान कर्मचारियों के विरुद्ध एक कट्टर मुसलमान सम्राट के पास अपना प्रार्थना-पत्र पहुँचाकर विपत्ति को आमन्त्रण न देते—विशेष कर जब वे कर्मचारी दया और सहिष्णुता के गुणों के कारण प्रसिद्ध न थे। औरंगज़ेब ने इस कारण से हस्तक्षेप न किया कि मुसलमानों के प्रति न्याय हो, परन्तु इस कारण से कि हिन्दुओं के लिये न्याय का द्वार ही बन्द कर दिया जाये। उलमा लोग अपने निर्णय की सूक्ष्म जाँच से क्यों घबड़ाये और वह भी शाहजहाँ द्वारा जिसको कई बड़े मन्दिरों के विनाश का और कुछ हिन्दुओं के बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन का श्रेय प्राप्त था ? तथापि हिन्दुओं में औरंगज़ेब के इतने शत्रु न थे जितने दारा के कट्टर मुसलमानों में थे। इसका कारण यह था कि दारा के प्रतिकूल औरंगज़ेब कभी भी अपने हृदय को वाणी द्वारा व्यक्त न करता था और बहुत ही कम अपनी लेखनी द्वारा।

विभाग ४—शुजा, औरंगज़ेब तथा मुराद की सन्धि

दारा के प्रति अपनी सामान्य शत्रुता के कारण परस्पर आकृष्ट होकर तीनों छोटे राजकुमारों ने एक अविधिपूर्वक रक्षात्मक मैत्री स्थापित करली थी। जैसे-जैसे शाहजहाँ का अपने ज्येष्ठ पुत्र के प्रति पक्षपात बढ़ता गया, वैसे-वैसे यह मैत्री भी सबल होती गई। इस संघ का आत्मा औरंगज़ेब था तथा शुजा

का शिष्य होगया···अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और बिहार को वापस आगया। १०६८ हि० (१६५८ ई०) में ८४ वर्ष की आयु पर उसका देहान्त हो गया (ग़ुलामअली आजाद कृत 'मासीरुल किरम' पृ० ४३)।

और मुराद के बीच में वह जोड़ने वाली कड़ी था। दिसम्बर, १६५२ में शुजा और औरंगज़ेब अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध आगरा में आकर परस्पर मिले और तीन दिनों तक उन्होंने एक दूसरे का आदर-सत्कार किया और उनकी मैत्री शुजा की कन्या गुलुखबानू की औरंगज़ेब के ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान मुहम्मद के साथ सगाई से और भी पुष्ट हो गई। जब औरंगज़ेब मालवा के प्रान्त से होकर जा रहा था, दोराहा के स्थान पर मुरादबख़्श आकर उससे मिला (२३ दिसम्बर, १६५२)। उस समय से औरंगज़ेब के प्रान्त से होकर संघातियों में अविलम्बित पत्र-व्यवहार होता रहा और औरंगज़ेब इस संघ का एक प्रकार का सचिव हो गया। शाहजहाँ ने अपने कनिष्ठ पुत्र मुरादबख़्श[1] की ओर कभी अधिक ध्यान न दिया था, परन्तु शुजा और औरंगज़ेब में इस वैवाहिक सम्बन्ध को वह सन्देह की दृष्टि से देखता था। सुल्तान मुहम्मद की सगाई पर शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब में कटु पत्र-व्यवहार से हमारे मन में कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को इस बात का शीलपूर्वक स्पष्ट और सबल संकेत दिया कि इस सगाई को छोड़ देने पर वह प्रसन्न होगा। औरंगज़ेब के विरुद्ध अपनी कृपा और विश्वास में शुजा को लेकर शाहजहाँ ने यह भी प्रयत्न किया कि वह उसको अपने पक्ष में मिला ले। उसने शुजा से शिकायत की कि दक्षिण में औरंगज़ेब का प्रशासन असफल हो गया है और उसको दक्षिण के पाँच सूबों की सूबेदारी का पद देने को कहा यदि राजकुमार बंगाल और उड़ीसा के बदले में उनको लेना चाहे।

दिसम्बर, १६५७ के मध्य में मुराद ने औरंगज़ेब को एक पत्र लिखा जिसकी सम्पूर्ति अधिक गुप्त प्रकृति के एक मौखिक सन्देश द्वारा की गई, और यह सन्देश उसके एक विश्वासपात्र प्रतिनिधि द्वारा भेजा गया। विचित्र संयोग-वश उसी समय पर उसी आशय का एक पत्र औरंगज़ेब ने मुराद को लिखा था और उसकी सम्पूर्ति भी उसी आशय के एक मौखिक सन्देश द्वारा की गई थी और यह भी एक विश्वासपात्र सन्देशवाहक द्वारा भेजा गया था। क़रीब एक मास पहले (१९ अक्तूबर, १६५७) मुराद ने औरंगज़ेब के प्रान्त से होकर

१—कहा जाता है कि शाहजहाँ ने एक बार टिप्पणी की थी कि मुरादबख़्श को केवल 'अपने शरीर को पुष्ट करने की' (तनपरवरी) चिन्ता थी। यह बात मुरादबख़्श के सम्बन्ध में पूरी तरह सत्य न थी। अपने चरित्र में वह मध्य एशिया का अनुरूप तुर्क था—निर्णायक बुद्धि और शिष्टाचार में अकुशल, परन्तु पाशविक साहस तथा शारीरिक बल में सम्पन्न। और वह सदैव यह डींग हाँकता था 'अजमन कसे बहादुर निस्त'—अर्थात मुझसे अधिक साहसी और कोई नहीं है। मुरादबख़्श राजकीय परिवार का 'कपटी पुरुष' समझा जाता था। प्रत्येक कार्य में जो उसको दिया गया वह असफल रहा।

एक पत्र शुजा को भेजा था। इस गुप्त पत्र-व्यवहार का उद्देश्य यह था कि उनके समस्त उद्योग केन्द्रीभूत कर दिये जायें कि वे उस संकटपूर्ण परिस्थिति का सामना कर सकें जो उनके पिता की रुग्णता के कारण तथा दारा के द्वारा तथाकथित अधिकार अपहरण के कारण उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार अधीर मुराद के उपक्रम से रक्षात्मक मैत्री आक्रमणात्मक सन्धि में परिवर्तित हो गई। यह स्पष्ट था कि यह सन्धि उनके राज्यापहारक ज्येष्ठ भ्राता के विरोध में की गई थी। संघातियों का पहला कार्य सहायक सेवकों द्वारा डाक की एक शृङ्खला स्थापित करना था जो अहमदाबाद, औरंगाबाद तथा राजमहल को सम्बन्धित कर दे जिससे समाचार शीघ्र ही पहुँच जाया करें। जैसे ही शाहजहाँ की रुग्णता का समाचार औरंगज़ेब को प्राप्त हुआ, उसने अत्यन्त प्रबल उद्योग किया कि नर्मदा के दक्षिण में उसके मित्रों और पक्षपातियों से दारा का सम्बन्ध विच्छेद हो जाये। औरंगज़ेब ने अपनी योजनाओं तथा प्रगतियों के विषय में शाही दरबार को सफलता पूर्वक अज्ञान में रखा; उसको अपनी बहन रोशनआरा बेगम से राजधानी में राजकीय रहस्यों के और दारा के उपायों के वृत्तान्त प्राप्त होते रहते थे। शाहजहाँ की अन्तिम सन्तान गौहर-आरा की भी अपनी महत्वाकांक्षायें थीं तथा दरबार की गति-विधि से वह मुराद को नियत रूप से सूचित कर देती थी। इसके अतिरिक्त औरंगज़ेब ने उत्तरी भारत के प्रत्येक भाग में अपने विश्वस्त गुप्तचर छोड़ रखे थे जो आवश्यक समाचार को नर्मदा पार उसको किसी न किसी प्रकार भेज देते थे।

तीनों छोटे भाइयों में सामान्य सहमति के अतिरिक्त मुराद और औरंगजेब के बीच में एक और निकट की सन्धि थी। वे दोनों शुजा को अपना भावी शत्रु समझते थे। इसके पहिले ही २३ अक्तूबर, १६५७ को औरंगजेब ने मुराद को एक गुप्त लिपि की कुंजी भेजी जिसका उपयोग उनके भावी पत्र-व्यवहार में होने को था। दारा को विधर्मी और मूर्तिपूजक कहकर औरंगजेब उसकी खुले रूप से निन्दा करता था, वह गुप्त रूप से अपने मूर्ख सहकारी मुराद को यह कह कर शुजा की निन्दा करता कि वह 'फ़ीज़ी' अर्थात् विधर्मी शिया है। मुराद की यह कहकर वह चाटुकारी करता कि वह शासन के लिये अत्यन्त योग्य है। वह कहता कि उसी के निमित्त वह प्रयत्नशील था। परन्तु राजगद्दी का पात्र समझा जाने के लिये मुराद को, जो अपने अधर्म के लिये कुख्यात था, उसने यह उपदेश दिया कि जनता के समक्ष वह अपने को कट्टर सुन्नी और इस्लाम का रक्षक प्रकट करे। "वास्तव में अपने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के युद्ध को धार्मिक रूप देने की औरंगजेब की नीति में मुराद इतना फँस गया कि उसके पत्रों में धार्मिक दंभ का स्वर प्रवेश कर गया. जिस पर हँसी आ सकती है।.......औरंगजेब से संकेत

लेकर अहमदाबाद का प्रसन्नचित्त विलासी अपने को इस्लाम का रक्षक प्रकट करता है; वह दारा को धमकी देता है कि पवित्र धर्म का शत्रु होने के कारण वह उसका उन्मूलन कर देगा; वह अपने ज्येष्ठ भ्राता को मुल्हिद (अनेकेश्वर-वादी) कहता है—यह वही शब्द हैं जिनका उपयोग औरंगजेब और उसके दरबारी इतिहासकार दारा के सम्बन्ध में करते थे।" (औरंगजेब का इतिहास, I पृ० ३०२) तो भी मुराद को कुछ सन्देह हो गया कि राजनीति में उसका पीर (मार्ग-दर्शक) कहीं ईश्वर और मनुष्य के प्रति अपने "छल" के सिद्धान्त के अनुसार उससे भी छल का आचरण न कर रहा हो। उसने औरंगजेब को विवश किया कि सहमति का पवित्र व्यवहार-पत्र लिख कर उसको भेजे, जिसमें वह पारस्परिक सहकारिता की शर्तों का स्पष्ट उल्लेख करदे। उत्तर-भारत को अपने प्रयाण के ठीक पहले औरंगजेब ने मुराद की बढ़ती हुई शंका को शान्त करने के लिये उसके पास एक अहदनामा (प्रतिज्ञा-पत्र) भेजा जिसका आशय था कि काफ़िर (अविश्वासी) दारा के परास्त हो जाने पर मुराद को पंजाब, सिन्ध, कशमीर तथा अफ़ग़ानिस्तान के प्रान्त मिलेंगे। यह प्रतिज्ञा-पत्र इन पवित्र शब्दों में समाप्त हुआ—"........बिना लेशमात्र के विलम्ब के मैं आपको इस प्रदेश में जाने की आज्ञा दे दूँगा। इस इच्छा के सत्य के प्रमाण में मैं ईश्वर और रसूल की साक्षी देता हूँ।"

विभाग ५—शाहजहाँ की रुग्णता (सितम्बर, १६५७)

शाहजहाँ के स्वास्थ्य में १६५७ की ग्रीष्म ऋतु में ह्रास के चिह्न प्रकट हो गये। वह ६ सितम्बर को सख़्त बीमार हो गया और सात दिनों तक दारा और थोड़े से उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त, जो उसके विश्वासपात्र थे, कोई अन्य व्यक्ति उससे मिलने न पाया। दारा के कुछ हितैषियों को छोड़कर सबने उसके जीवन की आशा छोड़ दी। बहुत लोगों ने तो यह विश्वास करने से इन्कार कर दिया कि वह अब भी जीवित है और यह उस समय की बात है कि जब १४ सितम्बर को उसने अपने शयनागार के नीचे एकत्र आशामय जन-समूह को अपना दर्शन दिया। जनता को पुनः विश्वास दिलाने के लिये एक दरबार किया गया और दारा को, जिसने शक्यता की चरम सीमा तक अपने पिता की सेवा की थी (जो ईश्वर की उपासना का उत्तम प्रकार है) १० हज़ार ज़ात, १० हज़ार सवार, दो अस्पाह, सेह (तीन) अस्पाह, कुल मिलाकर ५० हज़ार ज़ात की अपने मन्सब में वृद्धि पुरस्कार रूप में दी गई तथा ढाई लाख रुपये का और भी इनाम उसको प्राप्त हुआ। अपनी उपस्थिति में कुछ विश्वासपात्र दरबारियों और राज्य के मुख्य अधिकारियों को बुलाकर उनके समक्ष उसने अपना अन्तिम इच्छा-पत्र लिखा और उनको आज्ञा दी कि उस समय से दारा के आज्ञा-वश रहें—"प्रत्येक

व्यवहार में सर्वदा और सर्वत्र वह उनका राजा था''— (कामब्रुह ८ ब०) ।

१८ अक्तूबर को अपने स्वास्थ्य का पुनः लाभ करने के लिये सम्राट् आगरा से चल दिया । इस बीच में दुष्टता अपना कार्य पूरा कर चुकी थी । अपने पिता के स्वास्थ्य-लाभ के समाचार पर छोटे राजकुमार अपने हृदय में हताश हो गये, जनसाधारण के समक्ष उन्होंने इस प्रतिकूल सत्य का विश्वास करने से इन्कार कर दिया कि वास्तव में शाहजहाँ जीवित है । दरबार से आये हुए प्रत्येक पत्र पर उनको सन्देह होता कि या तो वह कपट-पत्र है या दारा के दबाव से लिखा गया है । उन्होंने छद्मरूप से कहा कि उस द्वेषपूर्ण जन-प्रवाद में उनको विश्वास है कि वह निर्बलकाय व्यक्ति, जो प्रतिदिन राजमहल के झरोखे में जनता का प्रणाम ग्रहण करने उपस्थित होता था, कोई बूढ़ा खोजा था जो राजसी वस्त्र धारण कर लेता था और जिसको राज्यापहारक दारा मृत्यु-प्राप्त शाहजहाँ बनाये हुए था । उन्होंने दारा[1] के विरुद्ध असत्य तथा अत्यन्त हानिकारक प्रचार प्रारंभ कर दिया । वे कहते कि दारा ने सर्वोपरि सत्ता का अपहरण कर लिया है तथा उनके पिता को परवश बन्दी बना लिया है । जहाँनारा के पत्र भी उनका निवारण न कर सके, जिसने यह प्रयत्न किया था कि अपने भाइयों में शान्ति स्थापित कर दे । चूँकि वे युद्ध के लिये तैयार थे और दारा तैयार न था, वे इस अवसर को छोड़ना न चाहते थे कि अपने घृणा-पात्र प्रतिद्वन्द्वी को सदा-सर्वदा के लिये पद-दलित कर दें । दुखी सम्राट् ने इस भयावह जल-प्लावन को आश्चर्य-सहित आते देखा—अपनी मृत्यु के बाद नहीं, परन्तु अपनी आँखों के मूँदने के पहले ही ।

१—दारा के विरुद्ध निकृष्ट तथा अत्यन्त निरर्थक मिथ्या वचन बर्नियर के पन्नों में देखे जा सकते हैं (कॉन्स्टेबल कृत 'बर्नियर और उसकी यात्रायें'—पृ० २५-२६) । उसको अपनी जानकारी अपने आगा—दानिश्मन्दखाँ—से प्राप्त हुई थी जो औरंगज़ेब का बदनाम पक्षपाती था । उसके द्वारा उपस्थित किया हुआ वृत्तान्त मिथ्या वचनों तथा द्वेष-पूर्ण निन्दाओं से भरा पड़ा है जो खण्डन के भी योग्य नहीं है ।

अध्याय ६

राजगद्दी के निमित्त संघर्ष

विभाग १—शाहशुजा के विरुद्ध सुलेमानशिकोह का अभियान
(दिसम्बर, १६५७—मई, १६५८)

राजकुमार मुहम्मद शुजा, दारा से केवल १३ मास छोटा था। वह अपने प्रिय पितामह जहाँगीर का पूरा प्रतिरूप था। वह उसके साथ १२ वर्ष की आयु तक रहा था। बुद्धि से तीक्ष्ण, प्रकृति से आलसी तथा स्वभाव से भोगी-विलासी शुजा बाह्य और आन्तरिक गुणों में पूरा राजकुमार था और अपनी समस्त त्रुटियों के होते हुए भी अपने पितामह की भाँति वह विशिष्ट रूप से प्रेम का पात्र था। शाहजहाँ के पुत्रों में मानसिक और नैतिक गुणों तथा रुचियों और अनुरागों के सम्बन्ध में दारा तथा औरंगजेब के बीच में उसकी स्थिति मध्य की थी, क्योंकि वह चतुर सैनिक तथा सन्तुलित राजनीतिज्ञ था और उसमें सुन्दर मानुषी सहानुभूति का पुट भी था जिसका इतना शोचनीय अभाव औरंगजेब के चरित्र में था। परन्तु उसकी योग्यता और क्षमता कभी-कभी ही थोड़े समय के लिये प्रकट होती जब कि उसकी निर्बलता प्रायः सदैव उसको घेरे रहती। विश्राम के प्रति शुजा के प्रेम ने तथा जीवन के सुसंस्कृत आनन्दों के उपभोग ने निस्सन्देह कुछ अंश तक उसकी सुन्दर क्षमता को नष्ट कर दिया था। परन्तु औरंगजेब के प्रमाण पर कोई भी व्यक्ति शाहजहाँ की तथाकथित टिप्पणी पर विश्वास नहीं कर सकता है कि शुजा में जीवन के उपभोग के अतिरिक्त और कोई गुण नहीं था (जुज़ सयारचश्मी सिफ़्ते न-दारद)[१]। शुजा की महत्वाकांक्षा की जन्मदात्री बंगाल की भूमि उसकी शक्ति की समाधि भी बन गई। वहाँ पर अपने १७ वर्ष के निर्विघ्न शासन-काल में शुजा और उसके साथी बंगाल के नरम साँचे में ढलकर अपने शरीर तथा मस्तिष्क में बदल गये थे। शान्ति, समृद्धि तथा रोग की उस भूमि में उद्योग तथा कर्म के अभाव के कारण उनकी तलवारें अपनी मियानों में पड़ी-पड़ी मोरचा खा गई थीं। वहाँ पर राजकुमार ने मन खोलकर और जी भर कर आनन्द का उपभोग किया और परिणाम स्वरूप ४१ वर्ष की ही आयु में 'चमेली के फूल ऐसी छोटी-छोटी चीजें उसको न दिखाई पड़तीं थीं।'[२]

१—औरंगजेब का पत्र—क़—३८ अ०।

२—शुजा के चरित्र के विषय में बर्नियर का अनुमान सार रूप से यथार्थ है—"सुल्तान शुजा...अपने चरित्र के अनेक स्वाभाविक गुणों में अपने भाई दारा के सदृश था। परन्तु वह अधिक चतुर था, अपने कार्य में अधिक सुदृढ़ और आचरण तथा व्यवहार में अधिक निपुण।

शुजा अपनी प्रान्तीय राजधानी राजमहल में था जब कि प्रवाद द्वारा वास्तविक मृत्यु में परिवर्धित होकर शाहजहाँ की बीमारी का समाचार उसको प्राप्त हुआ। उसने तुरन्त ताज धारण कर लिया और चूँकि उसकी तैयारी पहले से ही प्रायः पूरी हो चुकी थी, बंगाल की सेना शीघ्र ही बिहार के प्रान्त में प्रवेश कर गई। गंगा नदी पर तैरती हुई युद्ध-नौकायें उनकी युद्ध-यात्रा का साथ दे रही थीं। दारा के द्वारा बहुत दबाव डालने पर वृद्ध सम्राट् बहुत अनिच्छा से इस पर सहमत हो गया कि शुजा के विरुद्ध एक सेना भेजी जाये। वह इस भ्रम में था कि विद्रोही राजकुमारों को भयभीत करने के लिये उसके फ़रमान (आज्ञायें) ही पर्याप्त हैं। दिसम्बर, १६५७ के अन्तिम सप्ताह में राजकुमार सुलेमानशिकोह को २२ हज़ार सेना का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और मिर्ज़ा राजा जयसिंह को उसका संरक्षक और मुख्य परामर्शक नियुक्त किया गया। सम्राट् को आशा थी कि यह अभियान सुलेमान के लिये केवल एक आनन्दमय प्रदर्शन होगा, परन्तु दारा के हृदय में उसकी अपनी शंकाएँ थीं। अतः इस सुदूर अभियान पर अपने पुत्र के अधीन सेवा करने के लिये उसने सर्वोपरि निष्ठावान् तथा योग्य निजी सैनिकों को भेजा; परन्तु यह अदूरदर्शी, आवेशपूर्ण तथा अविचार पूर्ण कार्य सिद्ध हुआ।

बहुत हर्ष तथा उत्साह से सुलेमानशिकोह सतत् प्रयाणों द्वारा वाराणसी की ओर बढ़ा और अपने वृद्ध संरक्षक को प्रेरित करता रहा कि अविलम्ब आकर उसके साथ हो जाये।[1] परन्तु राजकीय दल के अधिकारियों का उत्साह इतना तीक्ष्ण न था क्योंकि उनके प्रस्थान समय सम्राट् ने उनसे प्रार्थना की थी कि रक्त-पात से विमुख रहें, यदि शुजा बिहार से शान्तिपूर्वक वापस होने पर तैयार किया जा सके। दारा तो तीव्र तथा निर्णायक युद्ध का उत्सुक था; परन्तु सम्राट् की इच्छा से यह दूर की बात थी, क्योंकि सम्राट् को अपने विद्रोही पुत्र के प्राण नष्ट होने का भय था। इस प्रकार उन सैनिकों को जो लड़ने गये यह पता न था कि किस को प्रसन्न करें। अतः उनमें उद्देश्य का ऐक्य न था। मिर्ज़ा राजा सावधान राजनीतिज्ञ था। उसको सन्देह था कि सम्राट् के नाम

षड्यन्त्र के प्रबन्ध में वह पर्याप्त रूप से सिद्ध-हस्त था तथा बारम्बार के गुप्त दानों द्वारा उसको पता था कि बड़े-बड़े सामन्तों की मित्रता कैसे प्राप्त की जाती है......जैसे जसूमसिंग (अशुद्ध-जसवन्तसिंह नहीं, परन्तु मिर्ज़ा राजा जयसिंह)। तब भी वह भोग-विलास का दास था और यदि उसकी स्त्रियाँ एक बार उस के पास आ जायें, तो वह अनेक दिन और रातें नृत्य, संगीत तथा मदिरापान में व्यतीत कर देता। इन स्त्रियों की संख्या भी विशाल थी।" (कान्सटेबल कृत 'बर्नियर की यात्रायें'—पृ० ८)

१—जयपुर के पत्र—देखो फ़ारसी पाठ्य, पृ० ५३।

पर, बिना उसके अनुमोदन के और उसके पीठ पीछे, कहीं दारा, शुजा के विरुद्ध सेवा-कार्य पर नियुक्त अधिकारियों को ऐसी कार्यप्रणाली की आज्ञा न दे दे जो उसके स्वामी की निगाह में उसकी स्थिति को संशयस्थ कर दे। अतः उसने अपने पुत्र रामसिंह को अपना वकील बनाकर दरबार में छोड़ दिया। उसका कर्तव्य था कि सम्राट् के आदेशों की सूचना वह सीधे उसके पास भेजे। शाही सेना के प्रयाण के ठीक बाद शुजा ने अपने पिता तथा ज्येष्ठ भ्राता को पत्र लिखा जिसमें उसने अपने कार्य के समर्थन के लिए निःसार कारण बताये और मुँगेर के अनुदान की प्रार्थना की जो दारा के बिहार के प्रान्त का भाग था। दारा तैयार था कि अपने भाई शुजा को मुँगेर का गढ़ दे दे। परन्तु इस शर्त पर कि मुँगेर के गढ़ को तोड़ देने पर वह सहमत हो जाये और इस बात पर कि वह तथा उसके पुत्र वहाँ पर न रहेंगे।[1] युवराज के इस उचित प्रस्ताव पर भी और सम्राट् द्वारा उसके अपराधों की प्रेमपूर्ण क्षमा पर भी शुजा ने अपनी शत्रुतुल्य प्रगति जारी रखी तथा इलाहाबाद के प्रान्त पर आक्रमण कर दिया। अपने छोटे पुत्रों के वास्तविक उद्देश्यों के प्रति अब बहुत दुखपूर्वक शाहजहाँ का भ्रम दूर हुआ। अब उसको पता चला कि दारा को पद-दलित करने के लिये वे परस्पर मिल गये थे तथा उसके जीवनकाल ही में राजसिंहासन के निमित्त वे युद्ध पर कटिबद्ध थे। वृद्ध सम्राट् का क्रोध भभक उठा और उसकी कटु भावनाओं की सूचना मिर्ज़ा राजा को एक पत्र में दे दी गई। दारा उसमें लिखता है—"सम्राट् की बहुत इच्छा है कि उस धृष्ट (बे अदब) दुष्ट का सिर काट कर उसके पास लाया जाये····"। दारा द्वारा रचित असन्दिग्ध असत्य समझकर हम इस पर कुछ भी विश्वास न करते यदि जन-साधारण के समक्ष रामसिंह को ये शब्द न कहे गये होते, जैसा कि हमको एक बाद के पत्र से मालूम हुआ है, कि—"अपनी ही पवित्र जिह्वा से सम्राट ने कुँवर रामसिंह को कहा—'अपने पिता को लिख दो कि मैं उस असभ्य तथा अयोग्य दुष्ट का सिर चाहता हूँ·······मुझको आशा है कि ये शब्द कुँवर ने आप को अवश्य लिख भेजे हैं।"[2]

मिर्ज़ा राजा जयसिंह को प्रसन्न करने में दारा ने अपने प्रशंसा-वाक्यों तथा प्रबोधक शक्तियों के कोष को निःशेष कर दिया जिनकी पूर्ति स्वप्नों के शुभ शकुनों, आकाशवाणियों तथा ज्योतिष की भविष्यवाणियों द्वारा की गई थी। राजकुमार लिखता है—"दैवी प्रेरणा की भाषा में सम्राट् ने कहा जिस प्रकार राजा मानसिंह ने मिर्ज़ा हकीम को विजित तथा पद-दलित किया

१—जयपुर के पत्र—देखो फ़ारसी पाठ्य, पृ० ५४।

२—जयपुर के पत्र—देखो फ़ारसी पाठ्य, पृ० ६६, ७१।

था, ईश्वर की इच्छा से मिर्ज़ा राजा इस असभ्य तथा मन्द भाग्य दुष्ट को पद-दलित कर देगा।[1] अगले ही दिन दारा ने उसको उसकी सफलता के सम्बन्ध में अधिक शुभ भविष्यवाणियाँ भेजीं। "दृष्टि से (सूफी की) तथा ज्योतिष की पुस्तकों से मुझे पता चलता है और इसकी सत्यता में मुझे दैवी मार्ग-प्रदर्शन द्वारा दृढ़ विश्वास है कि यह महान् विजय वह व्यक्ति निष्पादित करेगा जो योग्य व्यक्तियों में योग्यतम है।[2] तब भी मिर्ज़ा राजा यथा पूर्व स्तब्ध तथा विरक्ति पूर्वक केवल नियमानुसारी बना रहा और उसके आचरण से सन्देह भी उत्पन्न हुआ जिसकी सूचना सुलेमानशिकोह ने दरबार को भेज दी। परन्तु सम्राट् तथा युवराज ने सुलेमान को डाँट लगाई और राजा के प्रति अपने विश्वास के प्रमाण में दारा ने उसको लिखा—"सम्राट् को सन्देह है कि यह बात शत्रुता के कारण लिखी गई होगी। अतः मेरें पुत्र को आदेश हुआ है कि भविष्य में उधर से जो समाचार-पत्र आये वे स्वयं महान् राजा के हाथ के लिखे हों कि सम्राट् उनकी यथार्थता और प्रामाणिकता स्वीकार कर सकें।"[3]

राजकुमार सुलेमानशिकोह २२ वर्ष का शक्तिशाली तेजस्वी नवयुवक था। वह अपने संरक्षक के प्रति ध्यानपूर्वक विनय-भाव से आचरण करता था, परन्तु यह आशा न की जा सकती थी कि वह जयसिंह की इच्छा-वश उसका दास बन कर रहेगा। अभियानक सेना के मुख्य आज्ञापक के अपने पद को उसने व्यवहार में प्रकट कर दिया तथा अपनी स्फूर्ति और आशावाद से अपने सहकारियों में उत्साह और विमलता के अभाव की उसने पूर्ति करदी। दो सप्ताह के प्रोत्साहित प्रयाण से वह अपना दल लेकर वाराणसी पहुँच गया और तीन दिन तक उस नगर में ठहरा रहा। २४ घण्टों में गंगा के ऊपर नावों का पुल बाँध दिया गया और तुरन्त पश्चात् राजकुमार नदी पार कर उसके दूसरी ओर पहुँच गया। चाचा और भतीजे में बनारस के लिये दौड़ हो रही थी क्योंकि शाही सेना की प्रगति अनिश्चित काल के लिये बनारस पर रोकी जा सकती थी यदि शुजा नदी के दूसरे तट पर जम जाता जिसके साथ-साथ बड़ी जंगी सड़क चुनार होकर पटना तथा राजमहल को जाती थी। सुलेमान ने एक सप्ताह तक बहादुरपुर में अपना पड़ाव डाला। बनारस में रेल के पुल के उस सिरे से, जो नदी के दाहिने तट पर है, दो मील पर यह एक गाँव है। यहाँ पर कन्नौज का फ़ौजदार, वीर और निष्ठावान् रुहेला सरदार दिलेरख़ाँ शाही सेना में सम्मिलित हो गया और

१—देखो–जयपुर के पत्र-फ़ारसी पाठ्य, पृ० ६४।

२—देखो–जयपुर के पत्र-फ़ारसी पाठ्य, पृ० १३७।

३—देखो–जयपुर के पत्र-फ़ारसी पाठ्य, पृ० ६१।

अधिकारियों और साधारण सैनिकों में उसने एक नई शक्ति और विश्वास का संचार कर दिया।

इस बीच में अपनी सेना और बेड़ा लेकर शुजा उनके पड़ोस में पहुँच गया (२५ जनवरी, १६५८) और एक सुगृहीत स्थान पर उसने अपना शिविर स्थापित किया। यह स्थान दुर्गम था क्योंकि उसके सामने बहुत से नाले और घने जंगल थे, और पीछे की ओर गंगा नदी थी जिस पर उसके युद्ध-पोतों का अधिकार था। साम्राज्यवादियों के सम्मुख अब यह समस्या उपस्थित थी कि विद्रोही सेना को किस प्रकार जम कर लड़ने पर विवश किया जाये जिसको उसके सुदृढ़ स्थान से भूखा मार कर भगाया न जा सकता था क्योंकि उसको अपनी अन्न-सामग्री नदी के मार्ग से मिल जाती थी। जब दरबार से आवश्यक पत्र आये कि उस क्षेत्र में युद्ध समाप्त कर दिया जाये, सुलेमान अधीर हो गया। मिर्ज़ा राजा युद्ध की कोई विशेष योजना परिपक्व न कर सका था तथा अपनी रक्षा के निमित्त प्रस्तुत रहने के अतिरिक्त और कोई अन्य उपाय उसको न दीख पड़ता था। गोकलत (गोकुल ?) उज्जनिया नामक एक स्थानीय राजपूत (अर्थात् डुमराओं के ज़मीदार परिवार का) को एक मन्सब देने का प्रलोभन दिया गया कि वह अपने आदमियों को जंगल काटने और शत्रु की सामग्री को रोकने में जुटा दे— परन्तु यह कार्य कष्ट-साध्य तथा निरर्थक था और इसका अर्थ था शुजा की प्रतीक्षा-मूलक चाल के प्रति आत्म-समर्पण करना। फिर भी यह पढ़ना मनोरंजक है कि विनाशक क़न्धार-अभियान के बाद भी युवराज सैनिक के रूप से अपनी योग्यता के आँकने में अभी तक विनम्र न हुआ था तथा उसने इस संकट-वेला पर मिर्ज़ा राजा को उसी का व्यापार उसको सिखाने का प्रस्ताव किया। उसने मिर्ज़ा राजा को लिखा[1]—"यदि आपने कोई निश्चय नहीं किया है, तो आप मुझे स्पष्ट लिखें कि मैं यहाँ से किसी योजना का सुझाव दूँ और आपको निर्देश भेजूँ कि क्या करना चाहिये। इस समय वहाँ के ज़मींदार गोकुल उज्जनिया को आप प्रोत्साहन दें कि वह अपने पैदलों और सैनिकों को प्रत्येक दिशा में भेजे और शत्रु के विपरीत सामग्री और अन्न के सब मार्गों को रोक दे, तथा एक ऐसा ही दल बनारस की ओर भेजा जाये कि वह अनियमित रूप से युद्ध करता रहे और अन्न-सामग्री प्राप्त करने के शत्रु के मार्गों को बन्द कर दे····"। दारा के अगले पत्र में स्पष्ट आज्ञायें हैं कि तुरन्त कार्य किया जाये तथा तोपख़ाने को आगे रख कर शत्रु के वनाच्छादित शिविर पर आक्रमण किया जाये।

अपनी नावों द्वारा प्रचुर खाद्य-सामग्री से युक्त तथा आक्रमण के भय से

१—जयपुर के पत्र—फ़ारसी पाठ्य, पृ० ६६।

मुक्त शुजा के सैनिक कुछ दिनों की सावधानता और सतर्कता के बाद अपने शिविर में निश्चिन्त विश्राम में मग्न हो गये थे। मनुष्य तथा मच्छर दोनों को समान रूप से अप्राप्य शाह शुजा दोपहर तक सोता रहता था। उसके अधिकारी भी, जो शायद अपनी मच्छरदानियाँ (पश्शखाना) लाना न भूले थे, उतने ही आराम से सोया करते जैसे उनका स्वामी, वे इतनी देर तक चाहे न सोते हों। सदा की भाँति सेना-रक्षक और रात्रिप्रहरी तो थे, परन्तु कोई अधिकारी न थे जो रात्रि में सन्तरियों को सावधान रखने के लिये चक्कर लगायें। शुजा की रक्षा-टोलियाँ ख़तरे की सूचनाओं से अनभिज्ञ थीं, उत्तर भारत की हेमन्तकालीन ठण्डी रात्रियों के शीत को सहन का उनको अभ्यास न था। अतः उनसे यह आशा न की जा सकती थी कि वे कर्तव्योन्मुख तथा सतर्क रहेंगे। यह बात सुलेमानशिकोह के गुप्तचरों से बहुत दिनों तक छिपाई न जा सकती थी।

१४ फरवरी, १६५८ के पहले की रात्रि में शाही सेना को आज्ञा मिली कि अपने डेरों को उखाड़ने के लिये और एक नये स्थान को कूच कर देने के लिये तैयार रहे जो उनके शिविर के लिये चुना गया था। प्रभात में जल्दी ही कवचाच्छादित सवारों की एक चुनी हुई टोली अपने साथ लेकर सुलेमान निकल पड़ा और यकायक शुजा के सोते हुए सिपाहियों पर टूट पड़ा। अर्धजाग्रत बंगाली सिपाही अपनी प्राण-रक्षा के निमित्त प्रत्येक दिशा में भाग निकले। शुजा जल्दी से हाथी पर सवार हो गया और अपने सरदारों और सिपाहियों को आवाजें देने लगा, परन्तु उनमें से अधिकांश पहले ही भाग गये थे। विपत्ति के सामने शुजा कायर न था, परन्तु यहाँ पर उसके सम्मुख अनेक शत्रु थे। राजकुमार सुलेमान तथा दिलेरखाँ रुहेला से सर्व प्रथम उसकी भिड़न्त हुई और जल्दी ही बाद को मिर्ज़ा राजा जयसिंह तथा अनिरुद्ध गौड़ शुजा के हाथी के पास पहुँच गये। एक वीर राजकीय सैनिक ने हाथी की टाँग में गहरा घाव कर दिया। चुस्त महावत बहुत ज़ोर लगाकर हाथी को बेड़े की दिशा में ले गया और इस प्रकार तुरन्त पकड़े जाने से शुजा को बचा लिया। साम्राज्यवादियों को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। शेष कार्य तो वध और लूट का था। अपने ही भगोड़ों की चीत्कारों के प्रति ध्यान न देकर बेड़ा बंगाल की ओर चल दिया और अपने असहाय भाइयों को सुलेमान की तलवार और गंगा के पानी के बीच में छोड़ गया। दो करोड़ रुपयों का लूट का माल साम्राज्यवादियों के हाथों लगा।

दो सामन्त फ़ाज़िलखाँ तथा फ़ाख़िरखाँ इस शुभ समाचार को सम्राट् के पास २० मार्च, १६५८ को लाये और अगले ही दिन बहादुरपुर के विजेताओं के

लिये पद-वृद्धियों और पुरस्कारों का राजपत्र प्रकाशित हुआ। यद्यपि विजय का श्रेय सुलेमानशिकोह के साहसी उपक्रम को मिलना चाहिये था, परन्तु सम्राट् और युवराज ने बुद्धिपूर्वक समस्त श्रेय मिर्ज़ा राजा को दिया। अब वह ७ हज़ारी बना दिया गया। वेदान्ती सूत्र "सच्चिदानन्द" से प्रारम्भ कर अपनी अतिशयोक्ति-पूर्ण स्वाभाविक भाषा में दारा एक पत्र में लिखता है—"आपने वह काम कर दिखाया है जो राजा मानसिंह भी नहीं कर सकता था............गत सौ वर्षों में ऐसा विजय आप ही के लिये सुरक्षित रखा गया था।[1] परन्तु राजा के हृदय में गम्भीर सन्देह अब तक विद्यमान थे। एक पत्र में उसने शिकायत की कि सम्राट् ने किसी व्यक्ति के द्वेषपूर्ण आरोप पर ध्यान दिया था। आरोप यह था कि राजा ने स्वेच्छा से शाह शुजा को रणक्षेत्र से भाग जाने दिया था। सम्राट लिखता है—"............किसी व्यक्ति ने मुझको ऐसी सूचना न दी। राजा की निष्ठा में मेरा विश्वास इतना गम्भीर है कि कोई व्यक्ति भी यह दुःसाहस नहीं कर सकता है कि ऐसी कोई चीज़ मुझ से कहे........"।[2]

शुजा के बाल-बाल बच निकलने के कारण इस सन्देह को समर्थन प्राप्त होता है कि मिर्ज़ा राजा जयसिंह की ओर से कपट हुआ। बाद को यह पता चल गया कि राजा ने इस प्रसिद्ध नियम के अनुसार आचरण किया था कि लड़ते हुओं के पीछे और भागते हुओं के आगे रहना चाहिये। यह निश्चित बात है कि सुलेमानशिकोह के परिश्रम तथा साहसी उपक्रम के द्वारा निष्पादित विजय के फल जयसिंह की विचित्र विलम्बकारिता के कारण नष्ट हो गये। शुजा पटना ५ दिनों में पहुँच गया जब कि मिर्ज़ा राजा को वहाँ पहुँचने में २० दिन लग गये। सुलेमान अकेले आगे न बढ़ सकता था क्योंकि वह उस प्रदेश से परिचित न था और वह प्रदेश बहुत दिनों तक शत्रु के अधिकार में रहा था। राजा के आचरण पर शाहजहाँ ने एक फ़रमान में उचित ही आक्षेप किया है

१—जयपुर के पत्र—पत्र नं० १७ फ़ारसी पाठ्य, पृ० ७७।

२—फ़रमान ता० ४ फ़खरदिन, देखो फ़ारसी पाठ्य, पृ० ८५-८६। जयसिंह द्वारा विश्वास-घात की बहुप्रचलित कहानी थी—एक प्रमाण बर्नें के निम्नाङ्कित शब्द हैं—"परन्तु जयसिंह के समस्त प्रयास कि रण (बहादुरपुर का) न हो निष्फल रह गये.........यह निश्चय है कि यदि जयसिंह और उसका परम मित्र दलेलखाँ (दिलेरखाँ ,, जो पठान और श्रेष्ठ सैनिक था, जानबूझ कर पीछे न रह जाते, शत्रु का पूर्ण पराजय होता और उनका मुख्य सेनापति सम्भवतया बन्दी बना लिया जाता। परन्तु राजा बहुत दूरदर्शी था—वह राजवंश के कुमार को पकड़ न सकता था.........उसका कार्य मुग़ल के आदेशानुसार ही रहा जब उसने सुल्तान शुजा के लिये पलायन के साधन उपस्थित कर दिये।" (कॉंस्टेबलकृत-'बर्नें० पृ० ३५-३६)। यह सम्भव नहीं था कि बर्नें को इस बात का पता होता कि शाहजहाँ ने अपना विचार बदल दिया था तथा राजा की ओर से यह सकाम उपेक्षा विश्वासघात थी।

कि शाही सेना को १० दिनों में पटना पहुँच जाना चाहिये था तथा यदि राजा ने ऐसा किया होता तो शुजा उस नगर से अपना धन न लेजा सकता था और न वह मुँगेर में अपने को सुरक्षित कर सकता था।[1] मुँगेर के दक्षिण-पश्चिम १५ मील पर सूरजगढ़ के स्थान पर मार्च, १६५८ के अन्त तक शुजा डटा रहा। जितपुर के मार्ग से जंगलाच्छादित भग्न भूमि में होकर मन्द गति से शाही सेना ने अपना प्रयाण किया, उसके पार्श्व को उलट दिया, और शत्रु द्वारा रिक्त सूरजगढ़ के नगर पर अधिकार कर लिया। पूर्व दिशा में आगे बढ़ने पर गंगा नदी और खड़गपुर की पहाड़ियों के बीच में तंग मैदान पर नव-निर्मित दीवार के कारण उनकी अग्र गति रुक गई। यदि शुजा का पीछा करने में जयसिंह ने उसका आधा भी उत्साह और रण-चातुर्य्य प्रकट किया होता जो उसने बाद को पलायक दारा का कच्छ के रन्न में पीछा करते हुए प्रकट किया, तो उत्तराधिकार-युद्ध का परिणाम सर्वथा उलट जाता। शुजा के विरुद्ध युद्ध समाप्त किया जाये—इस आशय की अति आवश्यक प्रेरणायें प्राप्त होते हुए भी मिर्ज़ा राजा मुँगेर की रक्षा-पंक्तियों के सम्मुख अकर्मण्य बैठा रहा और इस बीच में औरंगज़ेब और मुराद ने अपने दलों को संयुक्त कर लिया तथा धर्मट के स्थान पर महाराजा जसवन्तसिंह को विनाशक रूप से परास्त कर दिया (१५ अप्रैल, १६५८)। जब इस पराजय का समाचार शाही सेना को सूरजगढ़ में प्राप्त हुआ, मिर्ज़ा राजा अपने घृणित प्रतिद्वन्द्वी जसवन्त की पराजय पर बहुत प्रसन्न हुआ और शायद उसने अपने को बधाई दी कि उसको जसवन्त पर तथा उसके मित्र और आश्रय-दाता दाराशिकोह पर पूर्ण प्रतिशोध प्राप्त हो गया था। सम्राट् ने उसको लिखा कि तुरन्त शुजा से शान्ति कर ले और समस्त राजपूतों को लेकर आगरा वापस आ जाये तथा सुलेमानशिकोह को दारा की निजी सेना के साथ बिहार में छोड़ दे। शुजा के वकील मिर्ज़ा जानबेग का राजसी ठाठ से आदर सत्कार करने में तथा उसके साथ धीरे-धीरे शान्ति-वार्तालाप करने में राजा ने कई दिन नष्ट कर दिये। 'पूर्ववत् स्थिति' की शान्ति-सन्धि स्थापित की गई तथा ७ मई, १६५८ को इस पर विधिपूर्वक हस्ताक्षर हो गये।

अन्त में सुलेमानशिकोह की सेना ने अपना पश्चिम का प्रयाण प्रारम्भ किया। यदि मिर्ज़ा राजा और सुलेमानशिकोह हल्का सामान लेकर सपरिश्रम प्रयाण करते—जैसा कि बारम्बार उनको कहा गया था—वे ठीक समय पर आगरा पहुँच सकते थे तथा सामूगढ़ के रण में भाग ले सकते थे जो २९ मई, १६५८ को हुआ था। परन्तु जयसिंह जो वास्तव में विश्वासघाती था, दारा की

१—वही, कॉंस्टेबल कृत-बर्ने० पृ० ८६।

रक्षा के निमित्त कोई कष्ट उठाना न चाहता था, और सुलेमान अपने शिविर में गड़बड़ी तथा अभक्ति के कारण बाधा पड़ने से मिर्ज़ा राजा को पीछे न छोड़ सकता था क्योंकि इसमें उसकी समस्त सेना के नष्ट हो जाने का भय था। सुलेमान कई मंजिल आगे था। जब वह इलाहाबाद के पश्चिम १०५ मील स्थित कोड़ा के स्थान पर पहुँचा, सामूगढ़ का विनाशक समाचार स्पष्ट कपट-रूपधारी विश्वासघातियों को प्राप्त हुआ जिससे वे प्रसन्न हो गये। मिर्ज़ा राजा ने अब अपना कपटवेष उतार फेंका तथा विवश सुलेमान को उसके भाग्याधीन छोड़कर आगरा को प्रयाण करने के लिये तैयार हो गया। कछवाहा सामन्त द्वारा यह पक्ष-त्याग क्षमा किया जा सकता था, यह समझ कर कि वह आत्म-रक्षा की सहज प्रवृत्ति से प्रेरित था, परन्तु उसने निर्लज्ज होकर परिश्रमपूर्वक यह प्रयत्न किया कि मन्द भाग्य दारा की भक्ति से अन्य अधिकारियों को विमुख कर दे। दिलेरखाँ रुहेला सुलेमानशिकोह के साथ रहने को तैयार था यदि राजकुमार शाहजहाँपुर जाना चाहता तथा रुहेलों की निष्ठा पर विश्वास करता। तदनुसार ४ जून, १६५८ को इलाहाबाद वापस चलने की आज्ञा सुलेमान ने दे दी। इसी बीच में मिर्ज़ा राजा जो औरंगज़ेब का प्रयत्नशील पक्षपाती था, रुहेला सरदार को यह समझाने में सफल हो गया था कि केवल भावुकता के कारण अपने समस्त भविष्य को दाँव पर लगा देना मूर्खता का काम है। उसने उसको प्रोत्साहित किया कि डूबती हुई नाव को छोड़ दे। राजा जयसिंह के इस कार्य से विश्वासघात की वह कहानी प्रारम्भ होती है जिसका अन्त मलिक जीवन द्वारा दारा के प्रति विश्वासघात से हुआ। सुलेमान का क्या भाग्य हुआ यह हम आगे लिखेंगे।

विभाग २—धर्मट तथा सामूगढ़ की लड़ाइयाँ

दारा को महाराज जसवन्तसिंह से बहुत आशायें थीं। दिसम्बर, १६५७ के अन्तिम सप्ताह में उसने उसको क़ासिमख़ाँ के साथ मालवा को भेजा था और उसको आदेश दिया था कि औरंगज़ेब के विरुद्ध नर्मदा की पंक्ति की वह रक्षा करे तथा मुराद की सेना से उसको सम्मिलित न होने दे। परन्तु औरंगज़ेब की अपेक्षा राठौड़ सामन्त युद्ध-कला में केवल नौसिखिया था। उज्जैन से केवल १४ मील पर स्थित धर्मट के पड़ोस में १४ अप्रैल को वह मुराद की सेना से अपनी सेना को मिला देने में सफल हो गया। इससे साम्राज्यवादियों को नितान्त विस्मय उत्पन्न हो गया। अगले दिन प्रभात में ४ घण्टे तक धर्मट में लड़ाई हुई (१५ अप्रैल, १६५८)। जसवन्त की अनुभवहीनता, सिसौदिया तथा बुन्देला दलों की उदासीनता तथा कासिमख़ाँ के अधीन शाही सेना के

मुस्लिम भाग द्वारा विश्वासघात के कारण इस रण में औरंगजेब तथा मुराद को निर्णायिक विजय प्राप्त हुई। अपने राठौड़ भाइयों के थोड़े से शेष भाग को साथ लेकर जसवन्त जोधपुर को भाग गया। कहा जाता है कि यहाँ पर उसकी गर्व-शीला तथा चेतनाशीला सिसौदिया रानी ने भग्नदर्प वीर का स्वागत करने से इन्कार कर दिया। धर्मट की हार का अर्थ था दारा के लिये दो घातक परिणाम। वह मालवा के एक रण में परास्त हो गया था। इसके अतिरिक्त शुजा पर प्राप्त सुलेमानशिकोह की विजय के समस्त फलों से अब वह वञ्चित हो गया था। उसके शत्रुओं ने प्रत्येक दिशा में विद्रोह प्रारम्भ कर दिया, विश्वासघातियों ने अपना कपट रूप उतार फेंका तथा उसके मित्र भी उसके पक्ष से विचलित होने लगे।

सामूगढ़ की लड़ाई २९ मई, १६५८

धर्मट की लड़ाई का विनाशक समाचार दारा को २५ अप्रैल को बलोचपुरा में प्राप्त हुआ जब वह सम्राट् के साथ दिल्ली को आ रहा था। दरबार तुरन्त आगरा की ओर वापस हुआ तथा संकट वेला का सामना करने के लिये शीघ्र ही तैयारियाँ की गईं। सम्राट ने राजकोष तथा शस्त्रास्त्रागार को दारा के लिये खोल दिया कि अपनी पूर्व-स्थिति को पुनः प्राप्त करने के लिये वह एक दूसरी सेना को सुसज्जित कर सके। अपने योग्यतम तथा विश्वस्ततम निजी अधिकारियों की अनुपस्थिति पर अब दारा को बहुत दुःख हुआ। उसने इनको अपने पुत्र सुलेमान के अधीन रण-सेवा पर भेज रखा था। परन्तु शाहजहाँ भ्रान्त-चित्त की स्थिति में था—कभी वह दारा को सैनिक-व्यापार पर परामर्श देता और जयसिंह को लिखता कि शीघ्र आ जाये, और कभी वह शान्ति के उस कपटपूर्ण उपदेश को ध्यान में लाता जिसका औरंगज़ेब के हित में विश्वासघाती सामन्त प्रस्ताव करते। सम्राट को अब भी आशा थी कि वह औरङ्गज़ेब और मुराद को कूटनैतिक सन्देशों द्वारा वापस करने में सफल हो जायेगा। अतः उसने दारा को प्रेरणा दी कि युद्ध को टाल दे। दारा का यह विश्वास पूर्णतया सत्य था कि युद्ध के सशक्त अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न था। परन्तु उसके विवेक पर प्रायः उसकी भावना विजयी हो जाती थी। कहा जाता है कि उसने उन लोगों को यह उपालम्भ दिया जो शान्ति का विमर्श देते थे कि वे राजनिष्ठाहीन कायर थे और यह कह कर उसने काटे पर नमक छिड़क दिया कि राव सत्रसाल हाड़ा तथा बर्कन्दाज़खाँ (विश्वासघाती जाफ़र) विद्रोहियों को खरगोशों की तरह नर्मदा के दक्षिण में भगा देंगे।

अभियान की योजना जिसकी रूपरेखा दारा ने तैयार की यह थी कि चम्बल की पंक्ति की सबल रक्षा की जाये, औरंगज़ेब इस नदी को किसी घाट पर पार न करने पाये, तथा कोई भी निर्णायक रण न किया जाये जब तक कि सुलेमानशिकोह की सेना विहार से वापस न आ जाये। तदनुसार उसने अपनी सेना के अग्र भाग को धौलपुर भेजा और उसको आदेश दिया कि चम्बल के पुलों की रक्षा करे तथा रणयोग्य स्थलों पर तोपखानों तथा दीवारों का निर्माण करे। यदि उसने रुस्तमखाँ बहादुर या राव सत्रसाल हाड़ा सदृश किसी वीर साहसी, क्रियाशील अधिकारी के अधीन एक भी शीघ्रगामी दल का संगठन किया होता कि समस्त चम्बल की पंक्ति पर शत्रु की गति-विधि पर ध्यान रखे, तो औरंगज़ेब की प्रगति को रोकने में इससे अधिक प्रभावोत्पादक और कोई योजना न होती।

युवराज ने सम्राट् से १९ मई को आज्ञा प्राप्त की कि वह मुख्य सेना लेकर धौलपुर को प्रस्थान करे। वृद्ध सम्राट् को अपने काँपते हुए हाथों से अपने प्रेम-पात्र पुत्र को अन्तिम बार पुरस्कार तथा आशीर्वाद देते हुए देखना अत्यन्त हृदय-विदारक दृश्य था। सम्राट् बहुत देर तक अन्तिम आलिंगन में उसको छाती से चिपटाये रहा। अन्त में शाहजहाँ ने अपनी भुजाओं को उठाया और मक्का की ओर मुख करके दारा की विजय के लिये प्रार्थना की और फ़ातिहा (विजय-प्रार्थना के लिये विहित क़ुरान के पद) पढ़ा। शास्त्र विहित हिन्दु प्रथा का भी पालन किया गया। दारा को आज्ञा हुई कि दीवाने आम की पंक्तियों पर ही वह रथ में आसन ग्रहण करे जो इस अवसर पर उसके लिये प्रस्तुत किया जाये। झण्डे फहरा रहे थे तथा नगाड़े बज रहे थे जब युवराज ने देदीप्यमान अनुचरदल सहित राजभवन के प्राङ्गण से युद्धानुकूल गर्व तथा शोभा धारण किये हुए प्रस्थान किया। एकाकी सम्राट अपनी गदा (असा) के सहारे खड़ा हुआ था, तथा अपने मन्दप्रभ नेत्रों को सकष्ट खोल कर इस जुलूस को टकटकी बाँध कर देख रहा था कि अपने अत्यन्त प्रेम-पात्र पुत्र का अन्तिम अवलोकन कर सके।

२२ मई को दारा धौलपुर पहुँचा और चम्बल के घाटों की रक्षा-पंक्तियों को सुदृढ़ करने में व्यस्त हो गया। परन्तु २३ मई को धौलपुर के पूर्व में ४० मील पर नदी को पार करके औरंगज़ेब ने दारा के पृष्ठ भाग को उलट दिया। परिणामतः दारा पुनः आगरा की ओर मुड़ गया और उस नगर के ९ मील पूर्व में सामूगढ़ के स्थान पर उसने अपनी छावनी डाली। २९ मई को जब औरंगज़ेब की सेना की श्रान्त तथा बिखरी हुई अग्रिम टुकड़ियाँ सामूगढ़ से कुछ

दूर पर दिखाई पड़ीं, दारा अपनी धैर्य-हीन शीघ्रता के कारण रण की पूर्ण सुसज्जा में अपने दल को लेकर बाहर निकल आया, परन्तु शत्रु की श्रान्त सेना पर बिना तुरन्त आक्रमण किये वह अकारण ही ठिठक गया तथा प्रतीक्षा करने लगा कि औरंगज़ेब आक्रमण करे। सायंकाल को पराजित की दशा में वह शिविर को वापस आ गया। तेज़ धूप में कई घण्टों तक उसने निरर्थक सैन्य संचालन किया था जिसके कारण उसके ताज़े और साहसी सैनिक पूर्णतया श्रान्त हो गये थे।

दारा की सेना की कार्यसाधिका-शक्ति सब प्रकार के सैनिकों को मिला कर लगभग ६० हज़ार थी और दोनों विद्रोही राजकुमारों की सैन्य शक्ति ५० हज़ार से कम न थी। परन्तु निष्ठा तथा श्रद्धापूर्ण सेवा के निमित्त अपनी सेना के अर्ध भाग पर भी दारा विश्वास न कर सकता था क्योंकि शाही सेना के विदेशी-दल के सामन्त—अर्थात् ईरान तथा तूरानी—हिन्दुस्तानी दल के सामन्तों—अर्थात् राजपूतों, बारहा के सैयदों तथा हिन्दुस्तान में जन्मजात अन्य मुसलमानों—के प्रति अत्यन्त ईर्ष्यालु थे। ये हिन्दुस्तानी दारा के कृपा-पात्र थे। सामूगढ़ पर दारा के शिविर में वस्तु-स्थिति उस स्थिति से भिन्न न थी जो उसके अवरोध शिविर में क़न्धार की दीवारों के नीचे थी। सर्वोपरि सैनिक के रूप में दारा का चरित्र तथा उसका पुराना लेखा इस प्रकार के न थे जिससे उसके अनुचरों में विश्वास की प्रेरणा हो सके। औरंगज़ेब के विपरीत उसका व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक न था। औरंगज़ेब युद्ध में ही वृद्ध हो गया था और उसके जीवन में युद्ध तथा षड्यन्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्तु का कोई स्थान न था। दारा को वास्तविक युद्ध का बहुत ही कम अनुभव था और उसने कभी भी शत्रु के सम्मुख विशाल सेनाओं का संचालन न किया था। दरबार के कोमल वायुमण्डल में उसका पालन-पोषण हुआ था, रहस्यवाद तथा दर्शन शास्त्र के अध्ययन में वह युवा अवस्था को प्राप्त हुआ था, वह धारणा-ध्यान तथा साहित्यिक व्यसनों का अभ्यस्त था। सैनिक तथा कार्यकुशल व्यक्ति के रूप में दारा औरंगज़ेब के सर्वथा विरुद्ध था।

२६ मई शनिवार की प्रभात वेला में सामूगढ़ के मृदुल रेतीले मैदान में रूढ़ मुग़लप्रथा अनुसार दाराशिकोह ने अपनी सेना को सुसज्जित कर दिया। उसका तोपखाना बर्क़न्दाज़खाँ, मनुची तथा अन्य योरुपीय अधिकारियों के अधीन था। यह समस्त सेना के आगे एक पंक्ति में था और इस तोपखाने के पीछे पैदल सैनिकों का एक प्रबल दल था जिनके पास तोड़ेदार बन्दूकें थीं। इनके पीछे ५०० ऊँट थे जिनकी पीठों पर चक्करदार छोटी तोपें थीं। इनके पीछे कई सौ उग्र

युद्ध-हस्ती थे जो इतने ही दुर्जेय थे जितने कि कवच-धारी वीर सामन्तगण। सुरक्षा की इस अभेद्य पंक्ति की छाया में ५ भागों में विभाजित शेष सेना रण के निमित्त सुसज्जित थी। अग्र भाग में लगभग १० हज़ार व्यक्ति थे। सुव्यवस्थित घुड़सवार राजपूत तथा पठान थे और ये राव सत्रसाल हाड़ा तथा दाऊदखाँ के अधीन थे। अग्रदल और केन्द्र के मध्य के कुँवर रामसिंह कछवाहा तथा सैयद बाहिरखाँ के नेतृत्व में १० हज़ार सैनिकों का अग्रिम सुरक्षित दल था। केन्द्र में एक विशाल हाथी पर सवार स्वयं युवराज था। उसके चारों ओर अपने निजी श्रद्धावान ३ हज़ार सैनिक तथा उसके कम-से-कम दुगुने शाही मन्सबदारों के सैनिक थे। सेना के दक्षिण पक्ष में १५ हज़ार योधा थे और वे सर्वथा अविश्वसनीय मध्यएशिया के वेतनार्थी व्यक्ति थे। वे चपल तथा विश्वासघाती ख़लीलउल्लाखाँ के अधीनस्थ थे। वाम-पक्ष के आज्ञापक राजकुमार सिपिहरशिकोह तथा वीर और निष्ठावान् सामन्त रुस्तमख़ाँ बहादुर फ़ीरोज़ जंग थे। क़रीब दो पहर के दोनों सेनाओं का सम्पर्क हुआ और एक घण्टे तक बहुत दूर से तोपख़ानों की मार होती रही जिसका परिणाम केवल कोलाहल तथा धुआँ और धूल का गहरा आवरण हुआ। औरंगज़ेब की तोपों का उत्तर निर्बल रहा और धीरे-धीरे वे बिलकुल बन्द हो गईं। अपनी त्रुटियों के होते हुए भी दारा का रण-विन्यास रक्षात्मक रण लड़ने के लिये उपयुक्त था तथा औरंगज़ेब का भी ऐसा ही था। यह स्पष्ट था कि लाभ उस पक्ष को होगा जो रक्षात्मक चाल चल सके और दूसरे को आक्रमण का सफल लोभ दे सके। अपनी ही अनुभवहीनता के कारण या उन चाटुकारों तथा विश्वासघातियों की कुप्रेरणा के कारण जो उसको घेरे हुए थे, दारा ने यह ग़लत परिणाम निकाला कि बर्क़न्दाजख़ाँ की तोपों ने औरंगज़ेब के तोपख़ानों को बेकार कर दिया था और शायद शत्रु उसकी पंक्तियों पर आक्रमण करने से डरता था। अतः उसने निर्णय किया कि एक सर्वव्यापी आक्रमण द्वारा वह उनको तितर-बितर कर दे। रुस्तमख़ाँ ने वामपक्ष को लेकर तथा ख़लीलउल्लाख़ाँ ने दक्षिण पक्ष को लेकर क्रमशः औरंगज़ेब के तोपख़ाने के एक भाग पर, जो सफ़शिकनख़ाँ के अधीन था, और मुराद की सेना पर जो शत्रु के दोनों पक्षों पर थी, आक्रमण कर दिया। सफ़शिकनख़ाँ के तोपख़ाने द्वारा बहुत निकट से आशा विरुद्ध तथा विनाशक अग्नि-वर्षा से स्वागत किये जाने पर रुस्तमख़ाँ नंगी तलवारों सहित अपने १० हज़ार अनुचरों को लेकर दक्षिण को मुड़ गया कि औरंगज़ेब के अग्रिम दल पर आक्रमण करे। उसके मार्ग को बहादुर ख़ाँ ने तथा औरंगज़ेब की सेना के अन्य विभागों ने रोक दिया। वे इस आक्रमण को रोकने के लिये अग्रसर किये गये थे। कुछ समय तक तो रुस्तमख़ाँ अपने सम्मुख सबको परास्त करता रहा और उसने बहादुरख़ाँ के सैनिकों को तितर-

बितर कर दिया। सहसा दारा के नगाड़ों ने विजय का घोषवाद्य बजा दिया और राजकुमार स्वयं केन्द्र को अपने साथ लेकर वेग से आगे बढ़ा कि अपने विजयी वामपक्ष का समर्थन करे। रुस्तमखाँ के मार्ग का अनुसरण करता हुआ वह औरंगज़ेब के सुरक्षित अग्र दल पर टूट पड़ा। यह शेख़मीर के अधीन था और रुस्तमखाँ के थके हुए सैनिकों पर दबाव डाल रहा था। उसने शेख़मीर के भाग को भगा दिया तथा रण में 'अदम्य साहस का स्पष्ट प्रमाण' उपस्थित कर दिया जिसको उसके निन्दकों ने भी स्वीकृत किया। परन्तु वह अपने वामपक्ष की रक्षा करने में असफल रहा जिसका शेष भाग रुस्तमखाँ को वीरगति प्राप्त होने के बाद उसके पुत्र सिपिहरशिकोह के नेतृत्व में भाग निकला। तो भी किसी सफलता या किसी लाभ से इस बुद्धिरहित कार्य का निराकरण न हो सकता था कि केन्द्र में अपने स्थान को रिक्त कर दिया जाये। 'समस्त अन्य सम्मिलित कारणों की अपेक्षा अधिक इसने दारा का सर्वनाश कर दिया[1]।' अब उसकी समस्त सेना पतवार टूटे जहाज़ की दुरवस्था में थी। उसकी शक्तिशाली रचना का लोप हो गया, उसके तोपख़ाने पर कोई व्यक्ति न रह गया, उसके बन्दूक़ची तितर-बितर हो गये, तथा उसके हाथियों और ऊँटों के दल बहुत पीछे पड़कर अकर्मण्य हो गये और उसको कोई सहायता न पहुँचा सके। संक्षेपतः सर्वत्र अव्यवस्था व्याप्त हो गई तथा दारा ने परिस्थिति का नियन्त्रण सर्वथा नष्ट कर दिया।

अब उसने निश्चय किया कि औरंगज़ेब के दुर्बल केन्द्र पर आक्रमण करके अपने भाग्य की परीक्षा ले, परन्तु जब वह अपने घातक शत्रु पर आक्रमण करने वाला था उसको समाचार मिला कि राव सत्रसाल हाड़ा की मृत्यु हो गई है और उसके दक्षिण पक्ष में अव्यवस्था फैल गई है। अतः उसको अपनी योजना छोड़नी पड़ी तथा अपनी पंक्ति के सुदूर वामपक्ष से राजकुमार ने मोरचे की सारी लम्बाई पार करना प्रारम्भ किया और उसका पार्श्व शत्रु के बन्दूक़चियों तथा तोपख़ाने की अग्निवर्षा की विनाशक मार में आगया।

रुस्तमखाँ के आक्रमण के साथ-साथ ख़लीलउल्लाख़ाँ ने दारा की सेना के दक्षिण पक्ष को लेकर मुराद के दल पर आक्रमण किया जो शत्रु की सेना का वामपक्ष था। चूँकि वह हृदय से विश्वासघाती था, उसने आक्रमण करने का केवल बहाना किया। जैसे ही उसने यह देखा कि राव सत्रसाल हाड़ा तथा दाऊद ख़ाँ की अधीनता में दारा का अग्रदल मुरादबख़्श से कठोर युद्ध कर रहा था शत्रु पर कुछ बाण वर्षा करके वह पंक्ति के पीछे वापस चला गया। इस दल ने, जो दारा की सेना का फ़ौलादी अंग समझा जाता था, अपना कार्य अति शोभनीय

१—सरकार २ ३९५

प्रकार से किया। मुराद के दल पर ख़लीलउल्लाख़ाँ के आक्रमण के कोलाहल में यह एक पच्चड़ की भाँति औरंगज़ेब तथा मुराद के दलों के बीच में घुस गया। राजपूतों ने मुराद को अपने आक्रमण का निश्चित लक्ष्य बना लिया और उसके हाथी के चारों ओर घमासान युद्ध होने लगा। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि सामूगढ़ पर राव सत्रसाल तथा उसके साथी उसी निष्ठा से लड़े जिससे कि वाटरलू पर नैपोलियन का रक्षा-दल लड़ा था। सामूगढ़ में राव सत्रसाल की उस वीरता का कोई इतिहासकार पूर्ण वर्णन कर सकने का दावा नहीं कर सकता जिसको बूँदी के गुण सम्पन्न कवि[1] ने अपनी सरस्वती का उत्कृष्ट विषय स्वीकृत किया। केवल राव सत्रसाल ही नहीं, परन्तु उसका प्रत्येक अनुचारी राजपूत योधा 'अपने तन को तलवार की धार को अर्पित कर, मन को परमेश्वर में लगा कर, प्राण को स्वामि-कार्य पर न्यौछावर कर तथा अपने सिर को शिवजी की माला (मुण्डमाल) की मणियों में जोड़कर' लड़ा[2]। सामन्तों के इस वीर दल में सर्व प्रथम राजा रामसिंह ने अपने प्राण न्यौछावर किये।

अपने पुत्र, भाई, तीन भतीजों तथा हाड़ावंश के उत्कृष्ट वीरों सहित राव सत्रसाल ने वीर गति प्राप्त की। वे मुराद के विरुद्ध लड़े थे और अन्त में उन्होंने मुराद को पीछे हटने पर विवश कर दिया था। शेष राजपूतों ने अपने अन्तिम जीवित नेता राजा रूपसिंह राठौर की अधीनता में अन्यून क्रोध से औरंगज़ेब पर आक्रमण किया। वह अपने केन्द्रीय दल को लेकर मुराद को सहायता पहुँचाने आ रहा था। इस संकट वेला पर दारा अपने सुन्दर वामपक्ष से अपने सैनिकों की सहायतार्थ शीघ्रता से बढ़ा। घोर रण आरम्भ हुआ। चूँकि विश्वासघाती ख़लीलुल्ला ने अपना मुँह छिपा लिया था, दारा का अग्रदल अब उसका दक्षिण पक्ष बन गया तथा उस का वाम पक्ष सर्वथा नष्ट हो गया था। औरंगज़ेब दारा के अग्रदल से भिड़ गया तथा अपने पुत्र सुल्तान मुहम्मद को आज्ञा दी कि उसके अग्रदल के १० हज़ार ताज़ा सैनिकों को लेकर दारा के श्रान्त तथा व्यवस्था-रहित केन्द्र पर आक्रमण करे। इस समय पर युद्ध इतना असमान हो गया था कि अपनी व्यक्तिगत वीरता तथा अपने अनुचरों

१—बूँदी के १९ वीं शताब्दी के कवि तथा 'वंश भास्कार' के लेखक सूरजमल मिश्र ने इस कांड को सुरक्षित कर रखा था कि वह इस पर एक अलग काव्य लिखेगा, परन्तु यह प्रयास करने के लिये वह जीवित न रहा। इस वंश भास्कर को राजस्थान का महाभारत कह सकते हैं।

२—तन तरवारिन में मन परमेश्वर में।
प्राण स्वामि कारण में, माथो हर-माल में ॥

(देखो भूषण कृत 'सत्रसाल दशक,' लाला भगवानदीन की टीका सहित, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय)

की तत्परता द्वारा भी दारा उसका उद्धार न कर सकता था। अग्रदल के राजपूत न केवल संख्या ही में थोड़े से रह गये थे, परन्तु अपने अस्त्र-शस्त्रों में भी वे शत्रु के समान न रह गये थे, उनके पास केवल भाले, तलवारें तथा कटारें रह गई थीं जिनसे उनको अपने शत्रुओं के गोलों तथा गोलियों का सामना करना था। राजा रूपसिंह राठौड़ को औरंगज़ेब के प्राण-हरण करने के प्रयास में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे तथा संख्यातीत शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसके समस्त राजपूत मारे गये थे। विश्वासघाती ख़लीलुल्लाख़ाँ को १५ हज़ार सैनिकों सहित एक घाव भी न लगा था, वह सर्वथा ओझल हो गया था। केवल दाऊदख़ाँ के पठानों का थोड़ा-सा भाग जीवित था जो अत्यन्त प्रयास द्वारा पीछे हटते हुए दारा की रक्षा कर सकते थे। अपने विशालकाय हाथी पर सवार दारा अब औरंगज़ेब के तोपख़ाने का लक्ष्य बन गया था और निपुण योरुपीय लक्ष्य भेदी इस समय इसको चला रहे थे। अपने मित्रों के अपरिहार्य अति आग्रह पर दारा हाथी से उतर पड़ा तथा घोड़े पर सवार हो गया। पर आध घण्टा बाद ही मन्द भाग्य दारा को अपनी भूल का बोध हो गया। परन्तु अब भी वह वीरतापूर्वक डटा रहा; परन्तु वे सैनिक जो अभी तक शत्रु की तलवार से बचे हुए थे इस समय विनाशक लू का शिकार हो गये जो सहसा उनके सामने चलने लगी। दारा व्यथित हो गया और जब उसने अपने विश्वास-पात्र सैनिकों को 'पानी-पानी' चिल्लाते हुए विवश होकर मरते हुए देखा, तथा अपने अल्पवयस्क पुत्र सिपिहरशिकोह को फूट-फूट कर रोते हुए सुना, तब दारा का धैर्य छूट गया। जो अपने स्वामी के प्राणों का अपने जीवन की अपेक्षा अधिक मूल्य करते थे, उन्होंने अब उसके घोड़े की लगाम पकड़ ली और उसको विवश कर आगरा की सड़क पर लगा दिया।

इन तथ्यों के विद्यमान होने पर यह निर्विवाद है कि औरंगज़ेब विजय का उतना ही पात्र था जितना कि दारा पराजय का। तो भी ख़लीलुल्ला द्वारा विश्वासघात शायद बाद की बात नहीं है जिसकी चर्चा साम्राज्यवादियों ने अपने पराजय की लज्जा को ढकने के लिये चलायी, जैसा कि औरंगज़ेब के यशः प्राप्त इतिहासकार का विश्वास है। कौन कह सकता है कि युद्ध का क्या परिणाम होता यदि ख़लीलुल्लाख़ाँ अपने १५ हज़ार वेतनार्थी मुग़ल सैनिकों-सहित उस दिन सर्वथा अलग न खड़ा रहता ? यदि विजय असम्भव थी, तथापि दारा की सेना का पराजय इतना पूर्ण न हो सकता था जितना कि अपनी सेना में विश्वासघात द्वारा वह हो गया था।

राजनैतिक, नैतिक तथा सैनिक विचार-दृष्टि से सामूगढ़ का रण भारतीय इतिहास में अत्यन्त निर्णायक युद्धों में से है। शाहजहाँ के एक पुत्र से दूसरे की

और हिन्दुस्तान के राजमुकुट के संक्रमण से कहीं अधिक इसका अर्थ था। भारत के मध्य-कालीन इतिहास के सर्वोपरि तेजस्वी युग की असंदिग्ध समाप्ति सामूगढ़ के रण से हो गई। इस युग को उचित ही अकबर का युग कहा जाता है—जो राजनीति तथा संस्कृति में राष्ट्रीयता का, साहित्य तथा कला में पुनरुज्जीवन का युग है। सामूगढ़ पर दारा की विशाल सेना का ही नाश न हुआ, परन्तु उसका आशावाद तथा आत्म-विश्वास भी जाता रहा जो कभी-कभी उदार चेता मनुष्यों को अनुद्धार्य विपत्तियों पर भी विजय प्राप्त करने में समर्थ बना देते हैं। दारा की नाव अपने लंगड़ से दूर हो चुकी थी और राजकुमार ने, जो संक्षोभित समुद्र में कुशल नाविक न था, इसको भाग्यानुसार बहने दिया।

अध्याय १०

भाग्य के उलट-फेर

विभाग १—सामूगढ़ से दाराशिकोह का पलायन

अब राजकुमार दयनीय पलायक की दशा को प्राप्त हो गया था। रणक्षेत्र से दो या तीन कोस भागने के बाद वह एक छायादार वृक्ष के नीचे पहुँचा जहाँ वह अपना शिरस्त्राण उतारने के लिये उतर पड़ा तथा शरीर और मन की अत्यन्त विषण्ण अवस्था में वह पेड़ के नीचे बैठ गया। जब विजयी शत्रु के नगाड़ों का घोर शब्द भी सुनाई पड़ने लगा, उसने उस स्थान से हटना अस्वीकृत कर दिया। यह घोर शब्द प्रतिक्षण समीप आता गया और स्पष्ट होता गया। "वह चिल्लाया—क्या होने वाला है? जो कुछ होना है—अभी हो जाये।" अन्त में अपने त्रसित अनुचरों के आग्रह पर वह फिर घोड़े पर सवार हो गया और राजधानी में लगभग ९ बजे रात्रि में पहुँच कर उसने अपने को अपने महल में बन्द कर लिया। आगरा का समस्त नगर मृतक गृह की भाँति विलापमय दृष्टिगत होता था। शाहजहाँ के अन्तःपुर की उच्च चीत्कारें दीनतम नागरिक की झोंपड़ी में पहुँचकर और भी उग्र रूप से प्रतिध्वनित हो जाती थीं। शाहजहाँ ने दारा को यह प्रार्थना भेजी कि वह आकर अन्तिम बार उससे भेंट कर ले। यह हृदय-विदारक प्रार्थना थी जिसको दारा ने समान हृदय-विदारक रूप से अस्वीकृत कर दिया। भग्नमुकुट राजकुमार ने उत्तर में लिखा—'मेरा लज्जित मुख देखने की इच्छा का आप त्याग कर दें। हुज़ूर से मेरी केवल यह प्रार्थना है कि इस विक्षिप्त तथा अर्धमृत मनुष्य को उसके सम्मुख उपस्थित लम्बी यात्रा के निमित्त आप विदाई का शुभ आशीर्वाद दें'। लगभग ३ बजे रात को अपनी

वधू नादिरा बानू, अपने बच्चों तथा नाती-पोतों को साथ लेकर दारा ने एक दर्जन क्लांत सवारों के संरक्षण में दिल्ली के लिये प्रस्थान कर दिया।

विजयी औरंगज़ेब द्वारा ३ जून को नगर के घेरने के पूर्व छोटी-छोटी टुकड़ियों में आगरा से निकल कर क़रीब ५ हज़ार सिपाही पुनः दाराशिकोह के झण्डे के नीचे एकत्र हो गये। वे ५ जून को दिल्ली के समीप जा पहुँचे। दारा इस समय भी विशाल-साधन-सम्पन्न था क्योंकि शाहजहाँ ने आगरा से विपुल कोष उसको दे दिया था, दिल्ली के गढ़ की युद्ध-सामग्री उसकी इच्छा पर छोड़ रखी थी, तथा उन लोगों को जिनको उसके प्रति अब भी कुछ प्रेम था, प्रेरणा दी थी कि वे युवराज का साथ दें। दिल्ली में दारा एक दूसरी सेना एकत्र करने में व्यस्त हो गया। उसने अपने पुत्र सुलेमानशिकोह को आदेश भेजा कि वह अविलम्ब दिल्ली पहुँचकर उसके साथ हो जाये। परन्तु घटना चक्र उसके लिये अति वेग से बढ़ चला। औरंगज़ेब द्वारा अवरोध के ५ दिनों के भीतर ही आगरा के गढ़ के आशा विरुद्ध पतन से (८ जून, १६५६) उसकी योजनायें छिन्न-भिन्न हो गईं।

अब फिर दाराशिकोह के लिये केवल पलायन का मार्ग खुला हुआ था। परन्तु वह कहाँ भाग कर जाये? इलाहाबाद को या लाहौर को? दारा ने पञ्जाब को जाना पसन्द किया जहाँ उस समय उसके प्रतिनिधि इज़्ज़तख़ाँ का शासन था और वह उसके इनेगिने भक्त अनुचरों में था। इस विषय में परिपक्व विचार की अपेक्षा उसने प्रथम प्रोत्साहन के अनुसार कार्य किया। नवीन परिस्थिति से लाभ उठाने में वह असफल रहा जो औरङ्गज़ेब की सफलता के कारण उपस्थित हो गई थी। इस सफलता से उसकी अपेक्षा कम सफल उसका सहकारी भ्राता शुजा उसका शत्रु हो गया था। इसमें सन्देह नहीं है कि शुजा से सन्धि के महत्व को वह जानता था और उसने सुलेमान को आदेश दे दिया था कि शुजा के अधिकारियों को इलाहाबाद का प्रान्त सौंप दे। परन्तु कूटनीति तथा राजनीति की दूरदर्शिता का साहस दारा में न था और इस कारण से वह पर्याप्त साहस एकत्र न कर सका कि शुजा पर विश्वास कर सके और उसके साथ मिलकर पूर्व से औरङ्गज़ेब पर आक्रमण करे तथा उसको गतिहीन कर दे और इस बीच में वह पंजाब में सेना एकत्र कर शुजा की सहायता पर आ जाये। दारा तथा शुजा की पूर्वीय प्रान्तों में एक सूत्रता से, असन्तुष्ट मुराद के उसी के पक्ष पर होने से, विद्रोही जसवन्त की राजस्थान में उपस्थिति से, अपराजित पंजाब तथा काबुल के उत्तर-पश्चिम में अस्तित्व से, और शत्रुवत् गोलकुण्डा तथा बीजापुर की दक्षिण में विद्यमानता से औरङ्गज़ेब की स्थिति बहुत ही संकटग्रस्त हो जाती यद्यपि उस योग्य सैनिक तथा साधन-सम्पन्न कूटनीतिज्ञ के

विरुद्ध किसी संघ की सफलता अन्त में संदिग्ध ही रहती । परन्तु दारा ने लाहौर को वापस होने का निश्चय किया जिससे औरङ्गज़ेब को अवसर मिल गया कि वह अपने शत्रुओं को एक-एक करके पद-दलित करदे । शायद सर्वोपरि ग़लती जो दारा ने कभी भी की वह यह थी कि उसने अपने विवश पुत्र सुलेमानशिकोह को अशक्य कार्य करने की आज्ञा दी—अर्थात् अपने चाचा शुजा के संरक्षण में पूर्व की ओर भाग जाने का आदेश देने के स्थान पर उसने सुलेमान को यह आदेश दिया कि हिमालय के नीचे-नीचे प्रयाण करता हुआ वह लाहौर आकर उसके साथ हो जाये ।

विभाग ३—लाहौर में दारा की आशाएँ

दारा बहुत-सा कोष तथा १० हज़ार की सेना लेकर १२ जून को दिल्ली से चल दिया था । सरहिन्द के मार्ग से यात्रा करता हुआ वह ३ जुलाई, १६५८ को लाहौर पहुँच गया । मार्ग में अपने सर्वोत्तम सेनापति दाऊदख़ाँ को उसने तलवन के घाट पर यह आदेश देकर नियुक्त कर दिया कि शत्रु के विरुद्ध वह सतलज की पंक्ति की रक्षा करे । लाहौर से सैयद इज्ज़तख़ाँ की अधीनता में उसने लगभग ५ हज़ार का दूसरा दल भेजा कि दाऊदख़ाँ को सहायता मिल जाये तथा सतलज पर स्थित रूपड के घाट की रक्षा हो सके । कुछ समय के लिये उसको आशाओं में कुछ जान आ गई । थोड़े से समय में २० हज़ार सैनिक उसके झण्डे के नीचे एकत्र हो गये । कुछ शाही अधिकारी भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर उसके साथ हो गये । उनमें से एक जम्मू की पहाड़ियों का राजा राजरूप था जिसने प्रस्ताव किया कि वह पहाड़ी राजपूतों की एक सेना खड़ी कर देगा यदि राजकमार उसको पर्याप्त धन की सहायता दे । दारा तो अपनी समस्त आयु भर हिन्दुओं का शरणदाता तथा उनका समर्थक रहा था । उसको राजपूतों की निष्ठा तथा वीरता पर अब भी पूरी श्रद्धा थी । दुखी राजकुमार ने तुरन्त राजरूप के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया और उसको बहुत महत्व दिया । अपने पति के पक्ष में अत्यन्त अभेद्य ग्रन्थि द्वारा इस हिन्दु सरदार को सम्बद्ध करने के लिये नादिरा बानू ने अपना दूध उसको पीने के लिये भेजा । उस समय की धारणा के अनुसार इस कर्म से उन दोनों में माता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो गया । राजरूप को दारा से कई लाख रुपये मिले[१], वह अपने घर गया और यह तो कुख्यात ही है कि एक वर्ष पीछे देवराई के रण

१—मुग़लों की कहानियाँ, ११ पृ०

२५ अगस्त को—अर्थात् लाहौर से दारा के पलायन के सात दिन पीछे राजरूप व्यास-तट पर शिविरस्थ औरंगज़ेब की सेना में सम्मिलित हो गया ।

में किस प्रकार राजरूप ने नादिरा के दूध का बदला चुकाया। वहाँ पर औरंगज़ेब का पक्षपाती होकर उसने दारा का सर्वनाश कर दिया जब उसने दारा की रणक्षेत्र स्थित सेना का पार्श्व उलट दिया। दारा के तोपखाने के युरोपीय अधिकारियों की भक्ति तथा निष्ठा राजरूप के विश्वासघाती आचरण के उत्कृष्टतया विरुद्ध रही। सामूगढ़ के रण से कुछ ही मास पूर्व इटली का निवासी, मुश्किल से २० वर्ष का नवयुवक मनुची दारा की सेवा में तोपखाने का एक अधिकारी नियुक्त हुआ था। उस रणक्षेत्र से जहाँ दारा की पराजय हुई थी, वह भेस बदल कर लाहौर पहुँच गया, मार्ग में उसने अनेक रोमाञ्चक साहसी कर्म किये और अन्त में पुनः दारा के सम्मुख उपस्थित हो गया।

लाहौर में दारा के आगमन के क़रीब एक मास बाद बहादुरखाँ, जो पीछा करने वाली सेना के अग्रदल का आज्ञापक था, सतलज तट पर पहुँच गया। दारा के सैनिकों द्वारा नदी पर एकत्र नौकाओं के बलपूर्वक छीनने के संयोग को पहिले से देखकर औरंगज़ेब ने अपने सेनापति को सुवाह्य नौकाएँ दे दी थीं जो छकड़ों पर लदी हुई थीं। ऐसे शत्रु के विरुद्ध दारा को वास्तव में सफलता का बहुत ही कम अवसर था।

दारा की सेना के अधिकांश भाग को तलवन में एकत्र देख कर बहादुरखाँ ने रूपड़ के घाट पर ५ अगस्त की रात्रि में नदी को गुप्त रूप से पार कर लिया। दारा के सैनिकों ने इस पर अधिकार रखने में उपेक्षा की थी। दो दिन पीछे खलीलुल्लाखाँ के अधीनस्थ अनुधावक सेना के दूसरे दल ने भी रूपड़ पर सतलज को पार कर लिया। इन दोनों सेनापतियों के संयुक्त दलों के सम्मुख तलवन तथा सतलज के प्रत्येक घाट को रिक्त करने पर विवश होकर दारा के सैनिक व्यास नदी के पूर्वीय तट पर स्थित सुल्तानपुर को वापस आ गये। इस पराजय के समाचार से दारा के सारे अनुमान उलट गये—अर्थात् लाहौर में डटे रहना जब तक कि बिहार से शुजा का आगमन या उसके मित्र जसवन्त के नेतृत्व में राजस्थान में विद्रोह औरंगज़ेब को पंजाब से वापस होने पर विवश न करदे।

लाहौर में इस समय वस्तु-स्थिति का वास्तविक चित्र तारीखे शुजाई का लेखक मासूम देता है—"लाहौर में ठहरे या नहीं—इस विषय पर अपने मन में राजकुमार डाँवाडोल होने लगा। कभी वह यह विचार करता कि लाहौर के नगर तथा दुर्ग को वह सुदृढ़ करदे, समीपवर्ती जिलों के सामन्तों को अपनी सहायतार्थ बुला भेजे तथा अन्तिम और सुनिश्चित प्रयास करे। कभी वह इस प्रकार विचार करता—'चूँकि किसी दिशा में आशा की कोई किरण दृष्टिगत नहीं होती है (अक्षरशः—कहीं से भी मेरी नाक में शुभ की सुगन्धि नहीं आती है)

यह अधिक अच्छा होगा कि यह अर्धमृत प्राणी जो रण-क्षेत्र से सकुशल वापस आ गया है किसी ऐसे स्थान पर चला जाये जहाँ वह अपनी आँखों से अपनी स्त्रियों तथा बच्चों का वध न देख सके।' दारा के अनुचरों में योग्यतम तथा अत्यन्त सत्यसन्ध दाऊदखाँ ने विनय किया कि राजकुमार को निराशा के प्रति आत्मसमर्पण न करना चाहिये जो (कुरान के) पद्यानुसार अविश्वास (कुफ्र) है।" उसने प्रस्ताव किया कि दारा स्वयं लाहौर में ठहरे, अपनी सेना को सुसज्जित करने पर ध्यान दे, तथा राजकुमार सिपिहरशिकोह को प्रत्यक्ष में नाममात्र का मुख्य सेनापति बनाकर व्यास-तट पर स्थित सुल्तानपुर को भेज दे। तदनुसार यह निश्चित हुआ कि सिपिहरशिकोह दाऊदखाँ के साथ औरंगजेब की सेना के अग्रदल से युद्ध करने जाये। परन्तु नादिरा बानू अपने एकमात्र जीवित पुत्र से अलग न होना चाहती थी यद्यपि अन्य प्रकार से वह साहसी तथा बुद्धिमती महिला थी और दारा की निराशामग्न आत्मा का मुख्य अवलम्बन थी। सुलेमानशिकोह के भाग्य के प्रति उसका दुख उमड़ पड़ा और उसके राजनीतिज्ञ रूप पर उसकी मातृ-भावना सर्वथा विजयी हो गई। सिपिहरशिकोह के प्रस्थान पर बहुत कष्ट से दारा अपनी वधू को सहमत होने पर तैयार कर सका। परन्तु राजकुमार के प्रयाण में इस विलम्ब से पीछे दौड़ने वाले शत्रु के अग्र दल को रोकने का एकमात्र अवसर नष्ट हो गया। दाऊदखाँ ने सुल्तानपुर पर अपने स्थान को संभाल लिया था। परन्तु बहादुरखाँ तथा खलीलुल्लाखाँ के संयुक्त दलों के विरुद्ध उसको अपनी स्थिति अरक्षणीय मालूम हुई। अतः व्यास के दूसरी ओर गोविन्दवाल को वह वापस गया जहाँ पर साहाय्य सेना लेकर सिपिहरशिकोह उसके साथ हो गया। परन्तु इस समय शत्रु के अग्र दल पर आक्रमण करने में अति विलम्ब हो गया था। यह अग्रदल नदी के सुल्तानपुर तट पर सुरक्षा पूर्वक डट गया था। इस बीच में स्वयं औरंगज़ेब १४ अगस्त को रूपड़ पहुँच गया और गोविन्दवाल की ओर दारा की सेना की गति का समाचार पाकर उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को कुछ अन्य अधिकारियों सहित अग्रदल की सहायतार्थ भेज दिया, जो खलीलुल्लाखाँ के अधीन था। १८ को मिर्ज़ा राजा तथा अन्य व्यक्ति रूपड़ से ३२ मील पश्चिम में गढ़शंकर के स्थान पर खलीलुल्ला के दल से जाकर मिल गये। यहाँ पर उन्होंने यह समाचार शीघ्र ही सुना कि दारा लाहौर से मुलतान की ओर भाग गया है। दारा ने अपने को सर्वथा सुरक्षित न समझा जब कि उसके तथा औरंगज़ेब के बीच में केवल व्यास की नदी रह गई थी। अपने लौटने के मार्ग के कट जाने के भय से शायद दारा ने शीघ्र ही लाहौर छोड़ दिया। उसने सिपिहरशिकोह को अपने पास बुला लिया था और दाऊदखाँ को आज्ञा दे दी थी कि वह अपने स्थान

पर डटा रहे जब तक कि शत्रु वास्तव में गोविन्दवाल के सम्मुख प्रकट न हो जाये।

मनुची की इस कहानी में कम ही सत्य प्रतीत होता है कि औरंगजेब ने दाऊदखाँ को एक जाली पत्र भेजा जिससे दारा को दाऊदखाँ की निष्ठा पर सन्देह हो गया। तथा परिणाम स्वरूप दारा के लाहौर से भागने का यह पत्र मुख्य कारण बन गया। यद्यपि मासूम मनुची के विपय-वर्णन का समर्थन करता है, यह एक पुरानी कहानी प्रतीत होती है। दाऊदखाँ बहुत श्रद्धा से भक्कर तक राजकुमार के साथ चिपटा रहा, यद्यपि इसमें हमको बहुत सन्देह है कि उसने अपनी स्त्रियों का संहार कर डाला (जैसा कि मनुची तथा मासूम कहते हैं) जिससे दारा का निर्मूल सन्देह मिट जाये तथा वह संसार की चिन्ता से मुक्त हो जाये। यदि उसने अपने सगे सम्बन्धियों का इस प्रकार होम कर दिया, तो संसार में किस प्रलोभन के कारण उसने बाद को अपने स्वामी का पक्ष-त्याग कर दिया जिसके निमित्त उसने मरण का निश्चय कर लिया था? यह बात असम्भव नहीं है कि दारा को सर्वत्र अकृतज्ञता तथा विश्वासघात दिखाई पड़े और इस कारण से उसने अपने इस निष्ठावान् अनुचर के प्रति अत्यन्त अन्याय किया जब उसको यह सन्देह हुआ कि वह भी औरंगजेब का पक्षपाती हो गया है। दाऊदखाँ ने भक्कर में दारा से विदा होने की आज्ञा माँगी और जयसलमेर होता हुआ वह हिसार में अपने घर को वापस गया। इस बात में तथ्य है और इसके आधार पर हम यह तर्क कर सकते हैं कि शायद दाऊद को अपने परिवार के सम्बन्ध में चिन्ता थी। यह औरंगजेब की वश्यता में आगया था और इसी कारण से उसने दारा के नष्ट-प्राय पक्ष का त्याग कर दिया। आलमगीरनामा[1] का लेखक कहता है कि नवम्बर, १६५८ में औरंगजेब ने दाऊदखाँ को खिलअत दी, परन्तु वह इसका कोई वर्णन नहीं करता है कि दाऊदखाँ ने अपनी स्त्रियों का संहार कर दिया था। बंगाल में माल्दा के सुदूर प्रान्तीय नगर में जो कुछ मासूम ने इस विषय पर सुना, उसने उसको लेखबद्ध कर दिया। निश्चय ही कुछ समय तक मनुची दाऊदखाँ का शस्त्रधारी साथी रह चुका था; परन्तु उसने उस समय अपने संस्मरणों को लिखा जब तथ्य तथा कल्पित कथा उसकी क्षीण स्मृति में मिश्रित हो गये थे, जब दारा के चरित से बन्धित प्रत्येक घटना को एक विचित्र आश्चर्यमय कहानी का रूप मिल गया था।

विभाग ३—मुल्तान तथा सिन्ध होकर दारा का पलायन

अपने साथ विशाल धनराशि तथा बहुत बड़ा तोपखाना लेकर दारा लाहौर

१—आलमगीरनामा I २२१।

से चल पड़ा । मुल्तान तक उसके साथ १४ हज़ार सिपाही थे जो उसकी उदारता से आकृष्ट हो गये थे । वह ४ सितम्बर को मुल्तान पहुँचा । परन्तु उसके अनेक सैनिकों तथा अधिकारियों ने उसके पलायन में आगे साथ देने से इन्कार कर दिया । उसकी सेना का शीघ्र विलय होने लगा, और जब वह भक्कर पहुँचा, उसकी सेना की संख्या केवल आधी रह गई थी, और वह आधी भी सतत् प्रयाणों की थकावट से अधमरी थी । भक्कर पर दारा ५ दिन ठहरा और अपने कोष के कुछ भाग को, अपने अन्तःपुर की बहुत सी महिलाओं को, तथा अपनी बड़ी-बड़ी तोपों को उसने भक्कर के दुर्ग में रख दिया । यहाँ पर गोला बारूद तथा युद्ध सामग्री का विशाल मात्रा में संग्रह कर दिया गया और उसके विश्वास-पात्र खोजा बसन्त तथा सैयद अब्दुर्रज्ज़ाक़ के अधिकार में गढ़ सौंप दिया गया । मनुची तथा अन्य योरुपीय, जो उसके तोपख़ाने के अधिकारी थे, वहाँ पर गढ़ की तोपों के अधिकार में छोड़ दिये गये । यहाँ पर उसके ४ हज़ार सिपाहियों तथा अधिकांश अधिकारियों ने उसका साथ छोड़ दिया और अपनी जागीरों पर वापस चले गये । दाऊदख़ाँ इनमें था । स्वयं दारा न जानता था कि वह कहाँ को जाये—ईरान को प्रवासी होकर वा आगरा के फाटकों को राजस्थान के वीर योद्धाओं को अपने समर्थन में लेकर ? वह सिन्धु के और भी नीचे उतर गया और भक्कर के ५० मील दक्षिण में उस स्थान पर पहुँच गया जहाँ से क़न्धार होकर ईरान का मार्ग आरम्भ होता है । शायद इसी स्थान से ही सुरक्षित शरण तथा सहायता के निमित्त दारा ने शाह अब्बास द्वितीय से अपनी चर्चा प्रारम्भ की । दारा को अपने एक पत्र में ईरान का शासक शाह अब्बास द्वितीय भक्कर पर आक्रमण करने की अनिच्छा प्रकट करता है जब तक कि वह राजकुमार से स्वयं न मिल ले । इस पत्र में वह यह भी सूचना भेजता है कि क़न्धार के राज्यपाल ज़ुल्फ़िक़ारख़ाँ को आदेश दे दिया गया है कि वह दारा की सम्पत्ति को ईरान पहुँचाने का आवश्यक प्रबन्ध कर दे । ऐसा प्रतीत होता था कि हुमायूँ का भाग्य दुःखित दारा के चरण चिह्नों का पीछा कर रहा है । परन्तु हुमायूँ का यह अहोभाग्य था कि हिन्दुस्तान में जन्म-जात स्त्रियाँ तथा परिचारी वर्ग उसके साथ न था जिनकी यह इच्छा न हो कि ईरानियों की वश्यता में अपने को सौंप दें ।

दारा का पीछा करते हुए २५ सितम्बर को औरंगज़ेब मुल्तान पहुँचा, परन्तु यहाँ पर उसको यह भयावह समाचार प्राप्त हुआ कि इलाहाबाद की दिशा में शुजा ने अपनी शत्रुवत् प्रगति प्रारम्भ कर दी है । अतः वह तुरन्त इस स्थान से वापस हुआ । इसके ५ दिन बाद वह मुल्तान से वापस चल दिया । वहाँ पर उसने अपने सेनापतियों सफ़शिकनख़ाँ तथा शेख़मीर को छोड़ दिया और उनको आदेश

दे गया कि पलायक दारा को प्रान्त के बाहर निकाल दें। ऊछ पर इन दोनों सेनापतियों ने सेना को विभाजित कर लिया तथा एक दूसरे के समानान्तर नदी के दोनों किनारों पर उन्होंने अपना प्रयाण प्रारम्भ कर दिया। इस अनुधावन की अत्यन्त संकट वेला वह थी जब दारा की नावें सेहवन दुर्ग की अग्निवर्षा में से होकर निकल गईं तथा उस दुर्ग के समीप संकीर्ण दुर्मार्ग से होकर दारा के सैनिक भाग निकले (२ नवम्बर, १६५८)। सफ़शिकनखाँ तथा शेखमीर ने ठट्ठा तक सिन्धु के दक्षिण तट पर दारा का निरन्तर पीछा किया। वहाँ पर दारा ने पुनः सफ़शिकनखाँ को चक्कर दे दिया। वह १६ नवम्बर को सिन्धु को पार करके भाग निकला। इसके ६ दिन बाद उसके पीछा करने वालों ने भी नदी पार कर ली, परन्तु दारा की गन्ध भी अब उनको न मिल सकी। ठीक उसी समय औरंगज़ेब से उनको आज्ञा प्राप्त हुई कि शुजा के विरुद्ध एक आक्रामक सेना को सुसज्जित करने के लिये वे उसके पास आजायें। अब दारा ने अपनी सेना लेकर कछ के रन के ऊबड़खाबड़ प्रदेश में प्रवेश किया और अकथनीय संकटों का सहन करके वह कछ के राव की राजधानी में पहुँच गया। प्रत्येक प्रकार से पलायकों के कष्ट को राव ने दूर कर दिया तथा दारा के पक्ष से उसने अपना निकट का सम्बन्ध स्थापित कर लिया और अपनी कन्या की सगाई उसने सिपिहरशिकोह से कर दी। पलायक राजकुमार के हृदय में आशा तथा उत्साह का संचार पुनः हो गया।

विभाग ४—बादल में दरार

दाराशिकोह अब भाग्य का जुवारी बन चुका था। कछ में अपने आशातीत स्वागत में उसको शुभ लक्षण दिखाई पड़े। नवीन साहसी कर्म के लिये अपने छोटे से परिचारक दल को सुसज्जित करके उसने काठियावाड़ में प्रवेश किया जहाँ पर नवानगर के जाम ने राजभक्त वशवर्ती राजा की भाँति सम्मानपूर्वक उसका स्वागत किया। अब गुजरात के समृद्ध प्रान्त पर उसकी आँख पड़ी। इस समय व्यवहार रूप में यहाँ का कोई शासक न था। मुराद का सत्ता-स्थान गुजरात इस समय तक मुराद के अधिकारियों के अधीन था। औरंगज़ेब पर उनको रोष तथा क्रोध था क्योंकि उसने विश्वासघात पूर्वक अमानुषी प्रकार से उनके स्वामी को परास्त कर दिया था। इस प्रान्त पर शासन करने के लिये उसने समान रूप से असन्तुष्ट व्यक्ति शाहनवाज़खाँ को भेज रखा था। अपने भाग्य की परीक्षा लेने के लिये कुल ३ हज़ार सैनिक लेकर दारा ने अब अहमदाबाद पर प्रयाण कर दिया। जब वह नगर के निकट पहुँचा शाहनवाज़ अनपेक्षित ही नगर के बाहर आया, उसका स्वागत किया तथा उसको दुर्ग में ले गया। दारा ने अब अपना दरबार अहमदाबाद में स्थापित किया। परन्तु अपने जीवित पिता के प्रति प्रेम

तथा सम्मान के कारण उसने न तो राजकीय उपाधि धारण की और न राजगद्दी पर बैठा। केवल एक विशेष राजकीय अधिकार उसने धारण किया और वह भी शाहनवाज़ख़ाँ के अनुरोध पर। वह अधिकार यह था कि वह प्रत्येक प्रभात में झरोखा दर्शन देता। भारी वेतन की आशा से आकृष्ट होकर २२ हज़ार सैनिक शीघ्र ही दारा के अधीन एकत्र हो गये। अमीना गुजराती के अधीन उसने एक छोटा-सा दल भेजा कि औरंगज़ेब के अधिकारियों से सूरत का बन्दर छीन लें। औरंगज़ेब के राज्यपाल सादिक़ मुहम्मदख़ाँ से अमीना ने नगर का शान्ति-पूर्ण समर्पण प्राप्त कर लिया और वहाँ से बहुत धनराशि, विपुल मात्रा में गोला-बारूद तथा अपने स्वामी के लिये ४० तोपें ले आया।

बीजापुर तथा गोलकुण्डा को दारा ने मित्र की भाँति अपनी कूटनैतिक सेवायें अर्पित की थीं। केवल युवराज के समर्थन के कारण ये औरंगज़ेब द्वारा सर्वनाश से १६५६ तथा १६५७ में बच गये थे। चूँकि इन दोनों राज्यों के शासक औरंगज़ेब के प्रतिज्ञा-बद्ध शत्रु थे, दारा को आशा हुई कि अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त करने के द्वितीय प्रयास में उसको उनसे सहायता प्राप्त होगी। वास्तव में वृत्तान्तानुसार दारा इस पर विचार कर रहा था कि दक्षिण के लिये वह अविलम्ब प्रस्थान करे। और तदनुसार औरंगज़ेब ने अपने पुत्र राजकुमार मुअज्ज़म को सचेत कर दिया था कि वह अपने चाचा की ओर से किसी ऐसी प्रगति को रोक देने के लिये तैयार रहे। परन्तु समस्त हिन्दुस्तान में अकस्मात एक अपूर्व हलचल मच गई। इसका कारण एक असत्य समाचार था कि शुजा के हाथों औरंगज़ेब की पराजय हो गई है तथा महाराज जसवन्तसिंह औरंगज़ेब के शिविर का लूट का माल लेकर जोधपुर वापस आ गया है। अधिकांश अन्य मनुष्यों की भाँति दारा को इस की सत्यता पर सन्देह न हुआ तथा तदनुसार दक्षिण जाने का उसने अपना विचार छोड़ दिया। अहमदाबाद के शासन-अधिकार पर सैयद अहमद बुख़ारी को नियुक्त करके उसने १४ फ़रवरी को सिरोही के मार्ग से अजमेर के लिये प्रस्थान कर दिया। तीन ही प्रयाणक (मंज़िल) पार करने के बाद वह उलट गया जब उसको यह समाचार प्राप्त हुआ कि खजवा के रण में शुजा पर औरंगज़ेब को निर्णायक विजय प्राप्त हुई थी (५ जनवरी, १६५९)। यदि इस समय वह दक्षिण की ओर पीछे लौट पड़ता, तो अपनी वशवर्ती सेना की सहायता से (तोपख़ाना के अतिरिक्त लगभग २० हज़ार सैनिक) वह लड़ता-भिड़ता सकुशल बीजापुर तथा गोलकुण्डा की राजधानियों को पहुँच जाता। परन्तु राजस्थान का मोह उसको अब भी था। महाराजा जसवन्तसिंह को द्वितीय बार औरंगज़ेब की ओर से क्षमा की आशा न थी। अब उसने उसके (औरंगज़ेब के) विरुद्ध खुला विद्रोह कर रखा था। अपने कर्म को न्याय तथा औचित्य का रंग

देने के लिये उसने युवराज को अपने प्रदेश में आमन्त्रित किया और सहायता देने की सुगम्भीर प्रतिज्ञायें कीं। तदनुसार बिना एक भी वार किये दक्षिण की ओर प्रत्यागमन से दारा ने यह अच्छा समझा कि जसवन्त के भाग्य से अपने भाग्य को सम्बद्ध कर दे। अतः वह अपनी सेना लेकर शीघ्र मेड़ता को प्रयाण कर गया जो अजमेर के उत्तर पश्चिम में ३७ मील पर है। परन्तु वहाँ पर युद्ध की तैयारियों के कोई भी लक्षण उसको न दीख पड़े और न जसवन्त के स्वागतार्थ आने का कोई चिह्न था। राजकुमार ने जोधपुर को एक विश्वस्त हिन्दू वकील दुनीचन्द को भेजा था। वह जसवन्त से यह सन्देश लेकर वापस आ गया कि राजकुमार के लिये यह अधिक युक्त होगा कि वह अजमेर में अपना स्थान स्थापित करे क्योंकि अजमेर राजपूत प्रदेश का केन्द्र था और वह स्वयं अपनी सेना को सुसज्जित करके वहाँ पर आकर उसके साथ हो जायेगा। अपनी सेना को लेकर दारा अब अजमेर की ओर मुड़ा जो मेड़ता से दक्षिण-पूर्व में ३७ मील पर है।

वास्तव में उदारचेता तथा दानशील राजकुमार दारा से अधिक हिन्दुओं की कृतज्ञता तथा सहानुभूति का कोई पात्र न था। और हिन्दुओं में दारा के प्रति सब से अधिक ऋणी था 'हिन्दुवंशावतंस' मेवाड़ का महाराणा राजसिंह। शाहजहाँ के क्रोध से दारा ने उसकी रक्षा की थी तथा उसके राज्य को केवल तीन वर्ष पहले सम्भावित विनाश से बचा लिया था जब शाहजहाँ ने सादुल्लाखाँ को उसके विरुद्ध भेजा था।

क्रूर विधाता ने सौभाग्य-शिखर से दारा को क्लेश के गम्भीर गर्त में फेंक दिया था। अतिथि सत्कार की पवित्र विधि के नाम पर, जो राजपूत को इतनी प्रिय है, दारा ने महाराणा से सहायता तथा सुरक्षा के निमित्त मर्म-स्पर्शी याचना की। (महाराणा को यह सूचना देने के बाद कि वह सिरोही पहुँच गया है) वह लिखता है—"राजपूतों के रक्षण में हमने अपने सम्मान को सौंप दिया है तथा वास्तव में हम समस्त राजपूतवंश के अतिथि (मेहमान) बन कर आये हैं। महाराजा जसवन्तसिंह भी हमारा साथ देने को तैयार हैं। आप राजपूत वंश के प्रमुख हैं। अभी हाल में हमको मालूम हुआ है कि आपका पुत्र उसके (औरंगजेब) पक्ष से वापस आ गया है। जब स्थिति ऐसी है, हमको आशा है कि मान्य राजाओं में सर्वाधिक मान्य (अर्थात्—महाराणा) राणा हमको आला हजरत (सर्वोच्च सम्मानित व्यक्ति—सम्राट् शाहजहाँ) को मुक्त करने में अवश्य सहायता देगा..................यदि आप स्वयं आने में असमर्थ हों, तो अपने किसी सम्बन्धी के साथ २ हजार सवार आप मेरे पास भेज दें........[१] (निशान दिनाङ्क प्रथम जमादी-उल-अव्वल—१५ जनवरी, १६६६ ई०)।

परन्तु दुखित राजकुमार को महाराणा की ओर से कोई प्रति-वचन प्राप्त

न हुए। अन्य प्रत्येक हिन्दु सामन्त की भाँति राजसिंह वास्तव में संकीर्ण विचारों तथा उससे भी संकीर्ण सहानुभूतियों का व्यक्ति था यद्यपि अपने चरित की समाप्ति पर वह प्रसिद्धि तथा कीर्ति का परम पात्र हो गया था।

सम्राट् शाहजहाँ ने १६५४ में महाराणा राजसिंह के कुछ परगनों को ज़ब्त कर लिया था। इस पर क्रोध के कारण वह यह भूल गया था कि उसका अपना ही उद्धार तथा अपने शेष प्रदेश पर उसका अधिकार दाराशिकोह के प्रभावशाली हस्तक्षेप के कारण हुआ था। उसके सम्पूर्ण राज्य की वापसी दारा न करा सका था क्योंकि औरंगज़ेब के मित्र सादुल्लाख़ाँ ने इसका विरोध किया था। इन परगनों की पुनः प्राप्ति ही महाराणा की एक धुन हो गई थी। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अब उसका ध्यान औरंगज़ेब की ओर गया। औरंगज़ेब के कई निशान[2] उदयपुर के ग्रन्थरक्षागारों में सुरक्षित हैं। इनसे हमको औरंगज़ेब की उस कूटनीति का सूत्र प्राप्त होता है जिसके द्वारा उसने महाराणा को अपने पक्ष पर कर लिया था। दक्षिण से अपने प्रस्थान के ठीक पहले लिखे हुए एक पत्र में वह इसका अनुमोदन करता है कि अपहृत परगनों में से चार को जिनकी प्रार्थना महाराणा ने की थी लौटा दिया जायगा। धर्मट की विजय के पश्चात् लिखे हुए एक दूसरे पत्र में वह महाराणा को प्रेरणा देता है कि वह उपरिवर्णित परगनों को उनके वर्तमान शासकों से छीन ले; और वह उसको यह आशा देता है कि ईश्वर की इच्छा से वह उसको राणा साँगा से भी बड़ा शासक बना देगा। सामूगढ़ की विजय के बाद औरंगज़ेब ने उसकी ओर कुछ और टुकड़े घृणापूर्वक फेंक दिये। ये थे डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, बसावर का अनुदान। इनका उद्देश्य था कि हिन्दु-हितों का संरक्षक मौन कर दिया जाये जिसके झुकाने का उपाय वह बाद को करनेवाला था।

जसवन्त के विलम्ब पर दारा अपने दिन अजमेर में कष्ट-कारक चिन्ता में

१—वीर विनोद में उद्धृत उदयपुर के ग्रन्थरक्षागार—II पृ० ४३२। जैसा कि शैली से प्रकट है पत्र की मौलिकता में कोई सन्देह नहीं हो सकता है। परन्तु दिनाङ्क प्रथम जमादी-उल अव्वल एक त्रुटि वा प्रतिलिपिकार की अशुद्धि प्रतीत होती है। ऐसी त्रुटियाँ दारा के अन्य पत्रों में भी प्रायः मिलती हैं। ये जयपुर में सुरक्षित हैं। दारा ने ९ जनवरी, १६५९ को अहमदाबाद में प्रवेश किया और वह क़रीब एक मास तक वहाँ ठहरा। इसके बाद ही उसने राजस्थान जाने का निश्चय किया। अतः शुद्ध दिनाङ्क होना चाहिये—प्रथम जमादी-उस्सानी-अर्थात् १४ फ़रवरी। फ़ारसी लेखकों के प्रमाण पर सर जदुनाथ सरकार अहमदाबाद से दारा के प्रस्थान का दिनाङ्क १४ फ़रवरी देते हैं। परन्तु यह पत्र स्पष्ट सिद्ध करता है कि मध्य फ़रवरी के पहले ही दारा सिरोही पहुँच गया था।

२—वीर विनोद II, ४१४ में उद्धृत निशान।

आलमगीरनामा पृ० ३११—३१२।

तीत कर रहा था। दूसरी बार दुबिनचन्द (दुनीचन्द ?) जसवन्त के पास गया और वही छल-पूर्ण उत्तर लेकर वापस आ गया क्योंकि जोधपुर के सामन्त ने दारा का साथ देने का विचार अब छोड़ दिया था। अन्त में असहाय दारा ने अपने अल्पवयस्क पुत्र सिपिहरशिकोह को भेजा कि जसवन्त के हृदय को द्रवित करे, परन्तु इससे कोई लाभ न हुआ। महाराजा जसवन्तसिंह ने अपना प्रतिज्ञा-वचन भंग कर दिया। क्या जसवन्त का यह विश्वासघात पूर्व-कल्पित था ?

इस समस्त काण्ड का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि यह जसवन्त की ओर से पूर्व कल्पित विश्वासघात है। स्पष्ट है कि उसने अपनी कूटनीतिक चाल में बन्धक के रूप में बेचारे दारा का उपयोग किया। उसका अभिप्राय था कि उन अपराधों के प्रति जो उसने खजवा में किये थे औरंगज़ेब उसको उदार शर्तों पर क्षमा कर दे। जसवन्त को इस प्रकार शान्तिपूर्वक विचार करने का, चातुर्य्य का तथा राजनैतिक बुद्धिमता का श्रेय देना उसके कृत्यों तथा चरित्र को न समझना है। खजवा में जसवन्त का आचरण आकुलीकारक तथा विश्वासघात का रहा था जिसके लिये औरंगज़ेब ने उसको क्षमा कर दिया था। अब उसने किस प्रत्यक्ष लाभ के निमित्त औरंगज़ेब से नवीन शत्रुता बाँधी ? इसकी एक मात्र व्याख्या यह है कि जसवन्त को दारा से प्रेम था। इसके कारण अपने शेष जीवन में जसवन्त औरंगज़ेब का दुष्प्रच्छन्न शत्रु बना रहा तथा बारम्बार उसको यह प्रेरणा हुई कि वह उस सम्राट् के विरुद्ध विश्वास-घातक कार्य करें। इसमें सन्देह नहीं है कि दारा के प्रति अपने अनुराग-वचन में जसवन्त निष्कपट था और जब उस ने दारा को राजस्थान बुलाया, तो प्रत्येक दशा में वह उसका साथ देना चाहता था। औरंगज़ेब का सामना करने के लिये उसने वास्तव में कुछ तैयारियाँ भी कीं। परन्तु उस मनो-वैज्ञानिक (महत्वपूर्ण) क्षण पर जब औरंगज़ेब की प्रतिशोधक सेनाओं के आगमन पर उसका आशावाद निराशा में परिवर्तित हो रहा था, जब भावु-कता तथा स्वहित में प्रभुता के निमित्त उसके हृदय में संघर्ष हो रहा था, औरंगज़ेब के सावधान वृद्ध प्रलोभक मिर्ज़ा राजा जयसिंह का पत्र आया जिसमें उसने लिखा था—"आपको इसमें क्या लाभ हो सकता है कि इस मन्दभागी राजकुमार को सहायता देने का आप प्रयास करें ? इस कार्य में लगने से आपका और आपके परिवार का नाश अवश्यंभावी है, और इस प्रकार दुष्ट दारा के हितों को भी कोई लाभ न होगा। औरंगज़ेब कभी आपको क्षमा न करेगा। मैं स्वयं राजा हूँ और आपसे शपथपूर्वक विनय करता हूँ कि राजपूतों का रक्त न बहायें। इस आशा में प्रवाहित न हो जायें कि दूसरे राजाओं को आप अपने दल में मिला लेंगे, क्योंकि ऐसे किसी प्रयास का प्रतिकार करने के साधन मेरे पास

हैं। इस कार्य से समस्त हिन्दुओं का सम्बन्ध है तथा आपको वह अग्नि प्रदीप्त करने की अनुमति मैं नहीं दे सकता जो शीघ्र ही समस्त साम्राज्य में फैल जायेगी और जो किसी प्रयास से शान्त न हो सकेगी। इसके विपरीत यदि दारा को आप उसके भाग्य पर छोड़ दें, औरंगज़ेब सारी पुरानी बातों को भुला देगा और आपसे वह धन न माँगेगा जो आपने खजवा में हस्तगत कर लिया है; परन्तु तुरन्त आपको गुजरात के शासन पर नियुक्त कर देगा। आप राज्य के समीप ही स्थित ऐसे प्रान्त पर शासन करने के लाभ को आसानी से समझ सकते हैं, वहाँ पर आपको सम्पूर्ण शान्ति तथा सुरक्षा प्राप्त हो जायेंगे; और यहाँ पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जो कुछ मैंने कहा है उसका पूर्ण पालन होगा[1]।" केवल दुराग्रही मूर्ख या वीरात्मा शहीद ही ऐसे प्रलोभक प्रस्तावों तथा प्रबल युक्तियों के सम्मुख अडिग रह सकता था जब कि गले के सामने लगे हुए बल्लम की धार द्वारा वे प्रभावक रूप से उपस्थित किये गये हों। परन्तु जसवन्त न तो मूर्ख था, न वीरात्मा। उसका नैतिक साहस तथा उसकी स्थिरता, उसकी वीरता तथा उत्कृष्ट उत्साह के समान न थे। जसवन्त के हृदय में अन्तःकरण की पुकार को जयसिंह के पत्र ने शान्त कर दिया। आत्म-रक्षा की सहजबुद्धि ने जसवन्त को प्रेरणा दी कि अपने राजकुमार मित्र के प्रति अपने प्रतिज्ञा वचन का भंग कर दे।

विभाग ५—देवराई का युद्ध

जसवन्त ने दारा का परित्याग कर दिया था तथा वास्तव में प्रत्येक राजपूत उससे घृणा करता था। दारा को अब यह असम्भव प्रतीत होता था कि बिना औरंगज़ेब से युद्ध किये वह सकुशल पीछे चला जाये। अजमेर में अपने तथा अपने अधिकारियों के परिवारों को छोड़कर दारा अपनी छोटी सेना को देवराई की घाटी को ले गया जो अजमेर-खण्डवा रेल-मार्ग के कुछ पूर्व में, अजमेर के दक्षिण में ४½ मील पर है। वहाँ पर उसने एक सुदृढ़ स्थान निर्वाचित कर लिया। अजमेर का नगर उसके पृष्ठ पर था तथा उसके दोनों पक्ष दो अगम्य पर्वत-मालाओं, बीथली तथा गोकला द्वारा सुरक्षित थे। इस पंक्ति को उसने सामने से दुर्गाकार बना दिया—"अपने स्थान से दक्षिण की ओर उसने एक नीची दीवार खड़ी कर दी जो घाटी को आर-पार करती हुई एक पहाड़ी से दूसरी पहाड़ी तक फैली हुई थी, आगे की ओर खाइयाँ थीं तथा विभिन्न स्थानों पर छोटे-छोटे दुर्ग बने हुए थे। समस्त पंक्ति चार विभागों में विभाजित थी। प्रत्येक पर एक अलग अधिकारी था जिसके पास अपना तोपखाना तथा अपने

१—काँस्टेबल कृत—बर्नें की यात्रायें—पृ० ८६।

बन्दूक़ची थे। दक्षिण की ओर, उसके स्थान के दक्षिण-पश्चिम कोने पर बीथली की पहाड़ी के पास सैयद इब्राहीम (उपनाम मुस्तफ़ाखाँ) तथा जानीबेग (दारा के तोपख़ाने का मुख्याधिकारी) की खाइयाँ थीं। उनके पास अन्य प्रकार के सैनिकों को छोड़कर एक हज़ार बर्क़न्दाज़ थे। उनके बाद फ़ीरोज़ मेवाती की खाइयाँ थीं और उनके आगे एक टीले पर जो घाटी से ऊँचा था कुछ बड़ी तोपें लगी हुई थीं। यहाँ पर अपनी अधिकारी मण्डली के साथ केन्द्र स्थान पर दारा था। उसके बाईं ओर पंक्ति के तीसरे विभाग की खाइयाँ थीं। ये शाहनवाज़खाँ तथा मुहम्मद शरीफ़ क़लीचखाँ के अधिकार में थीं। गोकला की पहाड़ी से मिले हुए दक्षिण-पूर्वीय कोने पर चौथा विभाग सिपिहर शिकोह के अधीन था।"[१]

११ मार्च को औरंगज़ेब देवराई से एक मील पर ठहर गया। उसके मार्ग में दारा की दुर्गीकृत खाइयाँ आ गईं। उसी रात को औरंगज़ेब के एक साहसी अधिकारी ने दोनों सेनाओं के बीचोंबीच में एक टीले पर चुपचाप अधिकार कर लिया। दूसरे दिन प्रभात ही में इस टीले पर अधिकार के निमित्त चार घण्टों तक घमासान युद्ध हुआ, परन्तु युद्ध के आवरण में औरंगज़ेब का तोपख़ाना टीले पर घसीट लाया गया। इस कारण से दारा के सैनिक अपनी पंक्तियों के पीछे वापस होने पर विवश हो गये। १३ मार्च को तीसरे पहर दारा के २ हज़ार कवचधारी सवार औरंगज़ेब की रक्षा-टोलियों पर टूट पड़े और शत्रु से डिम्बयुद्ध में अपना बहुत अच्छा परिचय दिया। समस्त मोर्चे पर आक्रमण की परम्परागत मुग़ल शैली दारा की दुर्गीकृत पंक्तियों के विरुद्ध असफल सिद्ध हो गई। दारा के प्रति अपने अनुराग की अत्यन्त गम्भीर प्रतिज्ञा के रूप में विश्वासघाती राजरूप ने नादिरा बानू का दूध पी लिया था। इस दुष्ट ने इस समय वह काम कर दिखाने का प्रस्ताव किया जो और कोई न कर सकता था। उसके अनुचरों ने पता लगा लिया था कि गोकला पहाड़ी पर चढ़ने के लिये दारा के वाम पक्ष के पीछे एक अरक्षित पगडण्डी है। १४ मार्च की सन्ध्या के समीप राजरूप ने अपने कठिनकाय पहाड़ियों की एक टोली को गोकला पहाड़ी के पीछे भेज दिया कि वह उस संकीर्ण मार्ग से पहाड़ी के ऊपर चढ़ जाये। उसने स्वयं दारा के वाम पक्ष पर स्थित शाहनवाज़खाँ की पंक्तियों पर आक्रमण किया। शाहनवाज़खाँ की खाइयों से राजरूप से भिड़ने के लिये एक हज़ार सवार बाहर आये। परन्तु एक पूर्व-चिन्तित योजना के अनुसार औरंगज़ेब के अधिकारियों ने अपनी सेना का अधिकांश भाग शत्रु के वाम पक्ष

१—औरंगज़ेब का इतिहास I तथा II पृ० ५०६।

के सम्मुख एकत्र कर दिया था और उनका निश्चय था कि चाहे जितनी हानि उठाकर उसको भंग कर देंगे। शाहनवाज़ख़ाँ की खाइयों के सामने सवारों में घोर संघर्ष हुआ। दारा के सैनिक कभी इतनी अच्छी तरह न लड़े थे, और न कभी दारा ने तथा उसके अधिकारियों ने इतनी शान्ति तथा विवेक प्रकट किया था जितना इस दिन। परन्तु दारा रण-चातुर्य में औरंगज़ेब के समान न था। उसने अपनी सेना को दारा के वाम पक्ष के सम्मुख एकत्र कर दिया था और अब उसने इस पर केन्द्रित आक्रमण किया। जयसिंह, दिलेरख़ाँ तथा शेख़मीर दारा की सेना पर टूट पड़े। दारा आक्रमणार्थ बाहर आ गया था तथा अश्वारोहियों के एक घन्टे के निरन्तर आक्रमणों के बाद उसने उनको उनके स्थान से हटा दिया और विचार-रहित रोष में वह शाहनवाज़ख़ाँ को खाइयों के पास तक बढ़ गया। लगभग उसी समय राजरूप के पैदल गोकला पहाड़ी पर कष्टपूर्वक चढ़ कर पहाड़ी की चोटी पर शाहनवाज़ख़ाँ के पीछे प्रकट हो गये। तब औरंगज़ेब के सैनिकों ने भावी विजय की असंदिग्धता से प्रसन्न होकर, शाहनवाज़ख़ाँ की खाइयों पर नवीन बल से आक्रमण किया। औरंगज़ेब के तोपखाने से एक तोप का गोला शाहनवाज़ख़ाँ को लगा, तुरन्त वह समाप्त हो गया और पूर्ण विपत्ति उपस्थित हो गई। अब भी तोपखाना निर्दयतापूर्वक संहार कर रहा था तथा दारा के सैनिक अति दृढ़ वीरता से युद्ध करते रहे। आक्रामक दल में शेख़मीर एक गोली से मारा गया तथा दिलेरख़ाँ को तीर का एक घाव लगा। दिलेरख़ाँ के पठानों ने, जिनको मिर्ज़ा राजा जयसिंह के राजपूतों से सहायता मिल गई थी, व्यवहार रूप से दारा के वाम पक्ष को समाप्त कर दिया।

इस विषम संघर्ष को जारी रखने का दारा ने समस्त दिन यथाशक्ति प्रयत्न किया था। केन्द्र में अपने स्थान से लड़ाई के हर कदम को वह सावधानतापूर्वक देखता रहा था तथा शाहनवाज़ख़ाँ की खाइयों को उसने यथासमय सहायता भेजी थी। उसके सैनिक आक्रमण को अब भी विफल कर सकते थे, परन्तु उनके पृष्ठ भाग पर राजरूप के पैदलों के अकस्मात प्रकट होने से उनमें भय उत्पन्न हो गया। अब उनकी समस्त आशायें टूट गईं तथा संघर्ष को अधिक समय तक करते रहना उन्होंने आत्महत्या समझा। परिस्थिति का बोध दारा को हो गया था। यह स्पष्ट था कि उस स्थिति में अधिक ठहरना विघातक होगा। अपने एकमात्र जीवित सेनापति फ़ीरोज़ मेवाती तथा अपने पुत्र सिपिहर शिकोह को साथ लेकर वह ९ बजे रात्रि को (१४ मार्च) मेड़ता होकर गुजरात जाने वाली सड़क पर आ गया। बादल में जो दरार दिखाई पड़ती थी, वह सन्ध्या के बादलों की केवल विश्वासघातक सुनहरी छाया थी।

परिशिष्ट १

शाहनवाज़ख़ाँ को बर्ने द्विमुख विश्वासघाती बताता है जो औरंगज़ेब को दारा की समस्त योजनाओं से नियमपूर्वक सूचित रखता था। वह दृढ़ता से कहता है कि दारा की दुर्गति इस कारण हुई कि उसने शाहनवाज़ख़ाँ का अत्यधिक विश्वास किया। परन्तु यह शायद उस वृद्ध पुरुष के विरुद्ध निराधार मिथ्या आक्षेप है। वास्तव में यदि शाहनवाज़ख़ाँ पूरे मन से दारा के पक्ष पर न आ गया होता तथा अन्त तक उसका साथ न देता, दारा या तो अहमदाबाद में बन्दी बना लिया जाता, या निराशापूर्वक गुजरात से भागने पर विवश हो जाता। हमको कोई कारण नहीं दीखता है कि दारा के प्रति उसकी आजीवन निष्ठा पर शंका करें। शाहनवाज़ख़ाँ के विश्वासघात की कहानी पराजित दल की सामान्य पुकार है जैसो कि यह कहानी कि औरंगज़ेब ने दारा के तोपचियों को घूँस दे दी थी और इसी कारण उन्होंने खाली गोलियाँ चलाई थीं। ईश्वरदास नागर के अनुसार औरंगज़ेब की सेना के ५ हज़ार सिपाही मारे गये थे और उसके पास इसका कोई कारण न था कि औरंगज़ेब की सेना में मृतकों की संख्या की अतिशयोक्ति करे। शायद दारा के कम आदमी मारे गये क्योंकि खाइयों के पीछे से उसने रक्षात्मक युद्ध किया था। दिलेरख़ाँ तथा जयसिंह द्वारा दारा की वामपक्षीय पंक्तियों पर अधिकार किये जाने के बाद कुछ संहार हुआ, परन्तु यह अँधेरी रात के कारण शीघ्र बन्द हो गया। औरंगज़ेब की सेना में इतनी भारी क्षति का कारण क्या है यदि दारा के तोपख़ाने ने जो अत्यन्त व्यस्त रहा था, केवल ख़ाली गोलियाँ चलाई थीं ? यदि दारा के तोपची घूस खा गये होते, औरंगज़ेब की सेना दो दिनों तक रोकी न रखी जा सकती थी ?

शाहनवाज़ख़ाँ की मृत्यु के सम्बन्ध में बर्ने कहता है कि शाहनवाज़ख़ाँ का सर या तो स्वयं दारा ने काट लिया, "या जैसा कि अधिक सम्भव समझा जाता है औरंगज़ेब की सेना में से उन व्यक्तियों ने काट लिया जो गुप्त रूप से दारा के पक्षपाती थे, जिनको भय था कि वह उनकी निर्भर्त्सना करेगा तथा वह उन पत्रों का उल्लेख करेगा जो अपने स्वभावानुसार उस राजकुमार को वे लिखा करते थे" (बर्ने की यात्रायें पृ० ८७)। इन बाज़ारी गप्पों में सत्य का अंश कुछ भी नहीं है। एक वृत्तान्त के अनुसार, जिसको सर जदुनाथ सरकार ने स्वीकार कर लिया है, शाहनवाज़ का शरीर एक गोले से उड़ा दिया गया था (औरंगजेब का इतिहास)। इक़बालनामै आलमगीरी कहता है कि औरङ्गज़ेब के एक सैनिक की तलवार द्वारा उसका वध किया गया था।

बर्ने एक और अनर्थक कहानी कहता है—"मैं केवल यह कहूँगा कि पहली

गोली मुश्किल से चलाई गई थी जब जेस्सींग (जयसिंह) ने दारा की दृष्टि में आकर अपने एक अधिकारी को यह सूचना देने उसके पास भेजा कि वह तुरन्त रणक्षेत्र से भाग जाये। बेचारे राजकुमार ने आकस्मिक भय तथा आश्चर्य में पड़ कर उसके उपदेशानुसार कार्य किया…………"। बर्नें को स्पष्टतया देवराई के रण का बहुत कम ज्ञान था। अपने वाम पक्ष के पराजय के बाद दारा को जयसिंह के मित्रवत् उपदेश की आवश्यकता न थी कि वह रणक्षेत्र का त्याग करदे। आकस्मिक भाग्य के पलटने की पूर्व आशंका से उसने अपने अन्तःपुर के निवासियों को रण के अन्तिम दिवस भर (१४ मार्च, १६५९) हाथियों पर बैठा रखा था और वे अनासागर झील के तट पर विश्वस्त खोजा मकबूल की देख-रेख में (भागने के लिये) तैयार थे।

जो बर्नें ने वास्तव में देखा उसको हम सत्य मान सकते हैं, न कि उस बात को जो उसने अपने आगा दानिश्मन्दखाँ से या किसी पक्ष के डींग मारने वाले तथा कल्पनाशील पक्षपातियों से सुना।

अध्याय ११

दुःखमय नाटक का अन्तिम अङ्क

विभाग १—अजमेर से दारा का पलायन

१४ मार्च, १६५९ की समस्त रात्रि को तथा समस्त अगले दिन विना विश्राम के यात्रा करके दारा तथा उसका दल जोधपुर प्रदेश में १५ मार्च की सायंकाल को मेड़ता पहुँचे। २ हज़ार सैनिक तथा एक विश्वासपात्र सेनापति फ़ीरोज़ मेवाती को लेकर दारा उसी रात्रि को मेड़ता से चल पड़ा और ३० मील प्रतिदिन चलकर पार तथा बरगोआँ के मार्ग से गुजरात के लिये दक्षिण की ओर भागा। उसका पीछा करने वाले मिर्ज़ा राजा जयसिंह तथा बहादुरख़ाँ २० हज़ार सेना लेकर ६ दिन बाद उसके पीछे आ गये। जोधपुर का प्रदेश छोड़े जब दारा को तीन दिन हो गये थे जसवन्त को औरङ्गज़ेब से आज्ञा प्राप्त हुई कि पलायक को पकड़ ले। तदनुसार वह अहमदाबाद की ओर प्रयाण में मिर्ज़ा राजा जयसिंह के साथ हो गया। मिर्ज़ा राजा को औरङ्गज़ेब की आज्ञा स्पष्ट थी कि विना मृत या जीवित दारा के वह वापस न आये। जिस विलक्षण सैनिक बुद्धि, शक्ति तथा पूर्व विचार का परिचय जयसिंह ने गुजरात तथा कच्छ के रन्न में होकर दारा का पीछा करने में दिया, वह उसी राजा की शिथिलता तथा प्रायः अप्रच्छन्न उदासीनता के सुस्पष्ट रूप से विपरीत है जो उसने बहा-

दुरपुर से मुँगेर तक शुजा का पीछा करने में प्रकट की थी। बर्नें का यह कथन कि जयसिंह ने जानबूझकर दारा को बन्दी नहीं बनाया जब वह सिविस्तान की ओर भाग रहा था, मिर्ज़ा राजा जयसिंह द्वारा दारा के निरन्तर अनुधावन की कथा से सर्वथा असत्य सिद्ध हो जाता है। इसका वर्णन समकालीन योरुपीय तथा मुसलमान लेखकों ने किया है तथा औरङ्गज़ेब को उसके द्वारा प्रेषित पत्र (हफ़्तअन्जुमन) इसका पूर्ण प्रमाण है। वास्तव में इस लज्जाजनक कार्य को करने का बीड़ा जयसिंह ने कुछ उत्सुकता तथा उत्साह से उठाया था, तथा उसने अपनी गम्भीर वैयक्तिक घृणा भी प्रकट करदी थी। दारा के निर्गम की उपेक्षा करने का प्रश्न ही न था। मन्द भाग्य राजकुमार को फाँसने के लिये उसने एक कूटनैतिक जाल बिछा दिया था। "जयसिंह ने प्रत्येक दिशा में राजाओं तथा ज़मीदारों को पत्र भेजे कि दारा का मार्ग रोक लें—दक्षिण में सिरोही तथा पालनपुर को, दक्षिण-पूर्व में देरवाड़ा (उदयपुर के उत्तर में ६ मील पर देलवाड़ा) को, उत्तरीय काठियावाड़ तथा कच्छ के राजाओं को, दक्षिणीय सिन्ध के ज़मीदारों को तथा गुजरात के अधिकारियों को। इस प्रकार दारा को सर्वत्र शत्रु ही मिले जिनको उसके आगमन की चेतावनी दे दी गई थी और जो उसको पकड़ने के लिये तैयार थे।"[१]

अपने स्वामिभक्त अनुचरों का छोटा-सा दल लेकर दारा कष्टपूर्वक २६ मार्च को एक स्थान पर पहुँचा जो अहमदाबाद के उत्तर में ४६ मील पर था। उसका दल श्रान्ति तथा पिपासा से क्षीण हो गया था और रक्त के प्यासे कोली डाकुओं के दल उसको चारों ओर से घेरे हुए थे। जयसिंह के पत्रों ने भी अपना काम पूरा किया था। दारा का एक अधिकारी, जो अहमदाबाद भेजा गया था, यह समाचार लेकर वापस आया कि उसके राज्यपाल सैयद अहमदबुख़ारी को[२] वहाँ के स्थानीय नागरिक तथा सैनिक अधिकारियों ने बन्दी बना लिया था और अहमदाबाद में राजकुमार के प्रवेश का निश्चित प्रतिरोध किया जायगा। बर्नें इस समय घटनावश दारा के दल में था तथा वैद्य के रूप में उसको दारा के साथ रहना पड़ा था। वह दारा की दयनीय दशा का इस प्रकार वर्णन करता है—

"अब मैं तीन दिनों तक दारा के साथ रह चुका था। सड़क पर मैं उससे मिल गया था। इसका कारण एक अद्भुत-तम घटना थी जिसकी केवल कल्पना की जा सकती है। चूँकि उसके साथ कोई चिकित्सक न था, उसने मुझे विवश कर दिया कि मैं उसका वैद्य बन कर उसके साथ रहूँ। जिस दिन उसको राज्य-

१—औरंगज़ेब का इतिहास I तथा II पृ० ५२५।

२—बर्नें के इस कथन का विरोध फ़ारसी लेखक करते हैं कि अहमदाबाद में दारा के राज्यपाल को औरंगज़ेब ने अपनी ओर मिला लिया था।

पाल का सन्देश प्राप्त हुआ था, उसके एक दिन पहले उसने मुझसे यह भय प्रकट किया कि कहीं कोली लोग मुझको मार न डालें तथा उसने आग्रह किया कि कारवाँ सराय में मैं रात्रि व्यतीत करूँ। उस समय वह भी वहीं था। उसकी स्त्री तथा महिलायें कनातों या परदों के पीछे थीं। उनकी रस्सियाँ उस गाड़ी के पहियों से बाँध दी गई थीं, जिसमें मैं था। इस समय उसके पास एक डेरा भी न था। इन बातों का वर्णन मैं उस दयनीय दशा के प्रमाण में कर रहा हूँ जो राजकुमार की इस समय हो गई थी। राज्यपाल का सन्देश प्रातःकाल प्राप्त हुआ था तथा स्त्रियों के क्रन्दन पर प्रत्येक आँख से आँसू बह निकले। हम सब विमूढ़ तथा शोक से व्याकुल हो उठे और अवाक् त्रास में एक दूसरे की ओर देखने लगे क्योंकि हम न समझ सके कि किस योजना को उसके सम्मुख प्रस्तुत करें और हमको उस दैव गति का ज्ञान न था जो प्रतिक्षण हमारी प्रतीक्षा कर रही थी। हमने देखा कि जीवित की अपेक्षा अधिक मृत होकर दारा बाहर आ रहा है, कभी वह एक आदमी से बोलता, कभी दूसरे से, वह बीच-बीच में रुक जाता तथा साधारण-तम सैनिक से भी परामर्श करता। प्रत्येक मुख पर उसको अत्यन्त भय दीख पड़ा तथा उसको विश्वास हो गया कि उसके पास एक भी अनुचर न रह जायेगा।............दारा को यह इच्छा हुई कि वह मुझको अपनी सेवा में रख ले—विशेषकर इस कारण से कि उसकी एक स्त्री की टाँग में गहरा घाव था। परन्तु न तो उसकी भर्त्सनायें और न उसकी याचनायें मेरे लिये एक भी टट्टू या ऊँट प्राप्त कर सकीं। वह इतना सत्ता तथा प्रभावहीन हो गया था। अतः मुझे ठहर जाना पड़ा क्योंकि यात्रा पर आगे बढ़ना सर्वथा अशक्य हो गया था। मेरे पास केवल रोने के और कोई उपाय न था जब मैंने देखा कि राजकुमार अपना छोटा-सा दल लिये प्रस्थान कर रहा है, जिसकी संख्या घट कर केवल ४ या ५ सौ सवारों की रह गई थी।[१]

३० मार्च को पश्चिम की दिशा में दारा ने अपना प्रयाण पुनः प्रारम्भ कर दिया। कन्होजी नामक एक कोली रॉबिन हुड (डाकू सरदार) के आत्म-सम्मान तथा सुश्रद्धा में विश्वास कर दारा ने कारी प्रदेश में प्रवेश किया। राजकुमार के दुःखित हृदय को इस कानून बहिष्कृत हिन्दू डाकू के आचरण से परितोष हुआ। उसको उसमें वे अधिक शुद्ध तथा अधिक उच्च राजकीय भावनायें मिलीं, जिनका अभाव ही उत्कृष्ट राजपूत योधाओं में उसको गत मास में मिला था। शाहजहाँ के बहिष्कृत युवराज की दुखित अवस्था पर दयार्द्र होकर इस डाकू सरदार ने उसको कच्छ की सीमा तक सकुशल पहुँचा दिया। इस बीच

१—बर्नें—९९-९१।

में गुल मुहम्मदखाँ ५० सवार तथा २०० बन्दूकची लेकर इस दल में सम्मिलित हो गया। दारा ने उसको सूरत का अधिकारी नियुक्त किया था। पतली मलमल की बन्डी और ८ आने की चप्पल पहने हुए और अपने ही समान दयनीय दशा में अपना परिचारी वर्ग लेकर दारा वीरम गाँव से चल दिया तथा छोटे रन्न की निर्जल्ल मरु भूमि को पार कर दारा ने पुनः भुज में प्रवेश किया जो उसके पुराने मित्र कच्छ के राव की राजधानी थी। परन्तु इस बीच में राव बदल गया था—यह दारा को मालूम हुआ। 'आशाओं तथा तर्जनाओं से भरे हुए' जयसिंह के पत्रों ने अपना प्रभाव राव के चित्त पर डाल दिया था। अपने राज्य में पलायक को शरण देने से राव ने इन्कार कर दिया जिसमें कोई अनुचित बात न थी क्योंकि शरण देना उसके सामर्थ्य के बाहर की बात थी। परन्तु उसने दो दिन तक राजकुमार तथा उसके दल का सत्कार किया और इसके बाद टापू की उत्तरीय सीमा तक उसको सकुशल पहुँचा दिया जहाँ से बड़े रन्न का भयानक नमक का दलदल आरम्भ होता है। मई, १६५९ के आरम्भ में दारा ने सिन्ध में पुनः प्रवेश किया परन्तु उसने देखा कि उसके मार्ग को बदिन के स्थान पर औरङ्गज़ेब के एक अधिकारी ने पहले से ही रोक रखा था।

'दारुण भाग्य के गोफणों तथा तीरों' से पीड़ित दारा ने अब सहज ही समझ लिया कि वह अपनी जीवन-यात्रा के अन्त के निकट पहुँच गया है। वास्तव में औरंगज़ेब का जाल चारों ओर से खिंचकर शीघ्र ही उसके पास पहुँच रहा था। उसके सामने विश्वासघाती ख़लीलुल्लाखाँ था जो मुल्तान से भक्कर पहुँच गया था। उसका उद्देश्य था कि यदि अपने विश्वासपात्र दास बसन्त से जा मिलने का दारा कोई प्रयास करे, तो उसको रोक दिया जाये क्योंकि बसन्त इस समय भी विशाल शत्रु सैन्य के विरुद्ध भक्कर के गढ़ की रक्षा अति वीरतापूर्वक कर रहा था। उसके पीछे की ओर जयसिंह था जो शिकार के दृष्टिगत हो जाने पर शिकारी की भाँति प्रदीप्त उत्साह से बड़े रन्न को पार कर रहा था। राजा ने बिना विश्राम के मार्ग-हीन तथा निर्जल नमक के दलदल पर ८० मील का प्रयाण किया था। रात को चाँदनी की सहायता से और जब चन्द्र अस्त हो जाता था तो जलती हुई मशालों की सहायता से राजा यात्रा करता रहा था। दारा के सम्मुख अब एक ही उपाय था और वह यह कि सिन्धु को पार करले और क़ंधार होकर ईरान को भाग जाये।

विभाग २—सिन्धु पार क़बीलों में दारा के साहस-कर्म

सिन्धु के पूर्वीय तट पर फ़ीरोज़ मेवाती भी राजकुमार से विदा हो गया। उसने अब तक अपूर्व निश्चलता तथा अनुराग से राजकुमार के भाग्य का साथ

दिया था। अपने अन्तिम श्रद्धा-निष्ठ अधिकारी गुल मुहम्मद को साथ लेकर दारा ने सिन्धु को पार किया। वह दूसरे तट पर पहुँच गया और उसने बलोच क़बीलों के प्रदेश में प्रवेश किया। चन्दी क़बीले ने पलायकों को लूट लिया तथा उनके साथ दुर्व्यवहार किया। परन्तु मघासियों ने, जो चन्दी क़बीले के शत्रु थे, दारा का सत्कार पूर्वक स्वागत किया तथा उसको सपरिवार क़न्धार तक सकुशल पहुँचाने को तैयार हो गये। परन्तु विधि की इच्छा और ही थी। दारा की वधू नादिरा बानू तथा उसके अन्तःपुर की अन्य महिलायें इस विचार पर काँप उठीं कि वह रक्तपिपासु बलोचियों पर यह विश्वास करें कि उनका सतीत्व सुरक्षित रहेगा। और इससे भी अधिक उनको यह भय हुआ कि वे बलपूर्वक ईरान के कामुक शाह के अन्तःपुर में घसीट ली जायेंगी। दारा को झुकना पड़ा, विशेषकर इस कारण से कि नादिरा बानू के स्वास्थ्य की दशा अच्छी न थी और वह बहुत दिनों से अतिसार से पीड़ित थी।

दारा का निश्चय भी बदल गया था। मयूर सिंहासन के आभास द्वारा आशा ने उसको मन्त्र मुग्ध कर दिया था, जिस पर शायद अब भी वह आसीन हो सके। उसने योजना बनाई कि सिन्धु पार प्रदेश के किसी शक्तिशाली क़बीले के सरदार की सहायता से वह एक दल एकत्र करे, इसके द्वारा भक्कर के गढ़ को सहायता पहुँचाये जो अब तक सामने पर डटा हुआ था, तथा इसके बाद वह अफ़ग़ानिस्तान को प्रयाण कर जाये जहाँ का राज्यपाल छोटा महावतखाँ उसका मित्र था। सीमावर्ती क़बीलों में उत्सुकतापूर्वक मित्र की खोज करते हुए राजकुमार को अपने सुखी दिनों की एक घटना याद आ गई जब उसने मलिक जीवन[1] नामक एक लुटेरे अफ़ग़ान सरदार की प्राण-रक्षा की थी, जो इस समय बोलन दर्रे की

१—इस घटना का वर्णन मासूम निम्न प्रकार से करता है—"एक भयानक अपराध करने पर मुल्तान के राज्यपाल ने उसको पकड़ लिया था तथा उसको दरबार में भेज दिया था। सम्राट् (शाहजहाँ) की इच्छा थी कि उसको हाथी के पैरों के नीचे डाल दिया जाये तथा कठोरतम यातनायें देकर उसको मार दिया जाये। उस जमींदार का एक मित्र दाराशिकोह के पास नौकर था तथा उस राजकुमार का विश्वासपात्र था और उससे घनिष्ठ था। एक दिन सुअवसर पर (अक्षरशः प्रसन्न) पाकर उसने मलिक जीवन की कथा के तथ्य उसके सम्मुख उपस्थित कर दिये, क्षमा की याचना की और फूट कर रो पड़ा। अपने नौकर के आँसुओं पर पिघल कर राजकुमार ने उसको वचन दिया कि वह उसकी मुक्ति प्राप्त करा देगा। अगले दिन राजकुमार ने सारा वृत्तान्त सम्राट् के सम्मुख रख दिया तथा उस भय ग्रस्त स्थिति से दण्डित व्यक्ति की रक्षा करली और उस व्यक्ति को राजकीय कृपा का पात्र बना दिया जिसके सिर पर न्याय की तलवार गिरनी चाहिये थी। दाराशिकोह की कृपा द्वारा वह तिरस्कृत व्यक्ति मानो हाथी के पैरों के नीचे से (निकलकर) उसकी पीठ पर चढ़ गया तथा सुरक्षित और सम्मानित होकर अपने घर की ओर चल दिया"। (तारीखे शुजाई—१६६६; १४० अ०)

भारतीय सीमा से ६ मील पूर्व में दादर के गढ़ का अधिपति था। मनुष्यता तथा पूर्व मित्रता के नाम पर उसने मलिक जीवन से सहायता तथा शरण की याचना की। मलिक जीवन एक अनुरूप सीमा निवासी पठान था—तुर्क तथा यहूदी का संकर, बर्बरता, गर्व तथा लोभ का मिश्रण। अपने मित्र-मघासियों के मिर्ज़ा के प्रस्ताव का उसने निरादर किया। प्रस्ताव था कि वह उसको सकुशल क़न्धार पहुँचा देगा। दारा ने उनकी सुरक्षा का त्याग कर दिया तथा अपना दल लेकर उसने दादर की ओर प्रस्थान कर दिया।

विभाग ३—दारा की वधू नादिरा बानू बेगम की मृत्यु

यद्यपि सामूगढ़ के रण में मन्द भाग्य दारा दिल्ली का राजमुकुट हार चुका था, उसको प्रतीत होता था कि जब तक उसकी प्रियतमा वधू नादिरा बानू जीवित है उसके प्रत्येक साहस कर्म में हिन्दुस्तान का राजत्व-पद उसका साथ दे रहा है। क्लेश तथा आपत्काल के घोरतम समय में आशा के आभास की भाँति वह अपने पति की निराशामग्न आत्मा का जीवनाधार थी तथा उसको अपनी सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के निमित्त वह उसको पुरुष-योग्य प्रयास की ओर प्रेरित करती तथा अग्रसर करती। उसको बहुत दिनों से अतिसार का कष्ट था परन्तु दारा को कभी यह स्वप्न भी न हो सकता था कि वह उसकी माता मुम्ताज़महल के विपरीत बिना अच्छे दिन देखे मृत्यु को प्राप्त हो जायेगी। परन्तु नादिरा का अन्त समय निकट आ गया और इसके पहले कि राजकुमार का दल दादर पहुँचे उसने प्राण छोड़ दिये (६ जून, १६५९)। वियुक्त राजकुमार का शोक तथा उसकी आकुलता सीमातीत थे; "दाराशिकोह की निगाह में शुभ्र जगत् अन्धकारमय हो गया। वह अत्यधिक आकुल हो गया। (उसके) निर्णय तथा विवेक के आधार सहसा कम्पित हुए तथा टूट गये"[१]। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वह अपने पति की वामाङ्गी, परामर्शदात्री तथा शिष्या सभी कुछ थी तथा उसका हरण करके ईश्वर ने उसका सर्वस्व हरण कर लिया। परन्तु इसके शीघ्र पश्चात् क्या होने वाला था, इसकी यदि पूर्व दृष्टि राजकुमार को हो गई होती तो वह ईश्वर के सम्मुख कृतज्ञता से झुक जाता तथा उसको धन्य-वाद देता कि मृत्यु ने उसको उस भारी वेदना से बचा लिया था जो उसको होती यदि वह अपने पति तथा पुत्रों की मृत्यु के पश्चात् जीवित रहती।

विभाग ४—बन्दी राजकुमार

जब मलिक जीवन के गढ़ के एक कोस के भीतर दारा पहुँच गया, अफ़ग़ान सरदार उचित सम्मान से उसका स्वागत करने बाहर आया। ठीक इसी समय

१—तारीखे शुजाई इ० लि० ग्रन्थ पृ० १४०।

नादिरा बानू का देहान्त हुआ (६ जून)। उसकी अन्तिम प्रकटित इच्छा (वसीयत करदः) यह थी कि उसका शव वापस हिन्दुस्तान भेज दिया जाये। इस समय तक उसकी आपत्ति ही मुख्य आपत्ति थी जिसके कारण ईरान जाने की अपनी योजना का अनुसरण दारा न कर सका था। अतः उसके देहान्त के बाद कुछ निष्ठावान तथा वीरात्मा पुरुषों ने, जिनको अपने राजकुमार की सुरक्षा की चिन्ता थी, प्रस्ताव किया कि विश्वासघाती पठानों की माँद में अपने सिरों को फँसाने के स्थान पर वे वहीं से ईरान की ओर चल पड़ें क्योंकि यह शक्य था कि उनके शत्रुओं के पत्रों से पठान प्रलुब्ध हो गये हों।

परन्तु दारा ने यह विश्वास करने से इन्कार कर दिया कि मलिक जीवन उसके नमक के प्रति झूठा हो सकता है क्योंकि वह अपने जीवन के लिये उसका ऋणी था। उसने शोक वस्त्र धारण कर लिये तथा प्रथानुसार शोक के कम से कम तीन दिन मनाने का निश्चय कर लिया। इसके पूर्व वह इसका निश्चय न कर सका था कि भविष्य में वह किस मार्ग का अनुसरण करेगा। नादिरा का शव जीवन के घर को पहुँचा दिया गया जहाँ पर अगले दो दिनों तक दारा और उसके साथियों का आदर-सत्कार हुआ। अपनी मृतक प्रेयसी के प्रति श्रद्धालु दारा का प्रथम विचार यह हुआ कि नादिरा के अवशेष को कुशलपूर्वक पहुँचाने का प्रबन्ध किया जाये। उसकी इच्छा थी कि लाहौर में मियाँ मीर की क़ब्र के पवित्र सामीप्य में नादिरा का शव दफ़न किया जाये। लाहौर तक नादिरा के विमान—जनाज़े—को सकुशल पहुँचाने का कार्य उसने अपने वीर तथा अनुरक्त सरदार गुल मुहम्मद के सुपुर्द किया तथा उसके अधीन प्रत्येक उपलब्ध सैनिक को कर दिया जिनकी संख्या लगभग ७० थी। ख्वाजा मक़बूल को जिसने आजीवन नादिरा की सेवा की थी, आज्ञा हुई कि विमान के साथ जाये तथा अन्तिम रीतियों का प्रबन्ध करे। एक उत्कृष्ट आत्मा के औदार्य से जो इस संसार में अपनी यात्रा समाप्त करने वाली हो, दारा ने अपने समस्त अन्य अनुचर एकत्र कर लिये तथा उनको यह स्वतन्त्र इच्छा देदी कि वे या तो गुल मुहम्मद की टोली के साथ हिन्दुस्तान वापस चले जायें या ईरान में निवास की यातनायें स्वेच्छा से सहन करने के लिये पीछे ठहर जायें। सिवाय उसके पुत्रसिपिहर शिकोह तथा कुछ खोजों और निम्न कोटि के नौकरों के और कोई दारा के साथ न ठहरा।

अगले प्रभात को (९ जून, १६५९) अपने पुत्र सिपिहर तथा मुट्ठी भर दीन अनुचरों को लेकर दारा मलिक जीवन के घर से चला तथा बोलन की घाटी की ओर बढ़ा। उनका उद्दिष्ट स्थान क़न्धार का दुर्ग था। परन्तु जैसे ही वे सड़क पर पहुँचे मलिक जीवन और उसके बर्बर दल ने उनको घेर लिया। दारा ने, जिसका शरीर तथा जिसकी आत्मा नादिरा की मृत्यु के कारण जड़ीभूत प्रतीत

होते थे, आत्मरक्षा में अँगुली भी न उठाई। केवल सिपिहरशिकोह लड़ा, परन्तु वह शीघ्र ही परास्त हो गया। अब वे बन्दी बनाकर अपने विश्वासघाती यजमान के घर लाये गये। उसने उनके बन्दी बना लिये जाने का समाचार तेज़ घुड़सवारों के साथ जयसिंह तथा बहादुरखाँ को भेज दिया। अपने अल्पवयस्क पुत्र सिपिहर शिकोह के हृदय विदारक दृश्य का सहन दारा की शक्ति के परे था। उसके हाथ उसकी पीठ पर बाँध दिये गये थे। दारा ने कहा—"समाप्त कर, समाप्त कर, हे अकृतज्ञ दुःशंस दुष्ट! जो कार्य तूने आरम्भ किया है, उसको समाप्त कर। हम दुर्भाग्य तथा औरंगज़ेब के अन्यायी क्रोध के शिकार हैं। परन्तु याद रख कि मैं मृत्यु का पात्र नहीं हूँ सिवाय इस कारण के कि मैंने तेरी प्राण-रक्षा की है और यह भी याद रख कि किसी शाही रक्त के राजकुमार के हाथ उसकी पीठ पर नहीं बाँधे गये।"[१] दारा के शब्दों की प्रचण्डता पर एक क्षण के लिये मलिक जीवन का पापी हृदय काँप उठा और उसने आज्ञा दी कि सिपिहरशिकोह के हाथ खोल दिये जायें।

मिर्ज़ा राजा जयसिंह तथा बहादुरखाँ ने २० जून को सिन्धु को पार किया और बन्दियों को अपने अधिकार में लेने के लिये दादर की ओर चल दिये। २३ जून को मलिक जीवन ने दारा, उसके पुत्र तथा उसकी दो कन्याओं को बहादुर खाँ के सुपुर्द कर दिया। "पराजित राजकुमार निराशा के कारण मौन तथा विपत्ति के कारण जर्जरित था। अपने बन्धनकारियों के प्रत्येक सुझाव को उसने स्वीकृत किया। खोजा वसन्त को उन्होंने उससे एक पत्र लिखवाया। इसमें उसको आज्ञा दी गई कि दारा की सम्पत्ति सहित तथा वहाँ पर निवासी दारा के परिवार सहित वह भक्कर के दुर्ग को साम्राज्यवादियों के समर्पित कर दे। दारा के सर्वनाश के प्रमाण स्वरूप खोजा मक़बूल को यह पत्र ले जाने के लिये भेजा गया।"[२] मुग़ल सामन्त-वर्ग में, मलिक हज़ारी बनाया गया तथा शाहजहाँ के मन्दभाग्य युवराज का विश्वासघात करने के पुरस्कार में उसको बख़्तयारखाँ की उपाधि प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त उसको यह भी आज्ञा मिली कि बन्दियों के साथ वह दिल्ली जाये जहाँ पर और भी पुरस्कार उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

बन्दी राजकुमार तथा उसके परिवार को लेकर दो मास बाद बहादुरखाँ तथा नवनिर्मित बख़्तयारखाँ (मलिक जीवन) दिल्ली पहुँच गये (२३ अगस्त, १६५९)। दारा तथा उसका पुत्र सिपिहरशिकोह नज़र बेग के अधिकार में रख दिये गये। यह औरंगज़ेब का विश्वासप्राप्त चेला (दास) था। वे ख़्वासपुरा के एक भवन में रखे गये जो इस समय दिल्ली-शाहजहाँबाद के दक्षिण में तीन मील पर

१—तवर्नें की यात्रायें I पृ० ३५१, ३५२।

२—औरंगज़ेब का इतिहास I तथा II पृ० ५४०।

एक गाँव है। दो दिन बाद (२५ अगस्त) नज़रबेग को औरंगज़ेब के सम्मुख उपस्थित किया गया कि वह बन्दियों की दशा के विषय में विस्तृत वर्णन दे। मंगलवार २९ अगस्त को औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि बन्दी राजकुमार तथा उसके पुत्र का एक विशाल सैनिक जुलूस में अपमानसूचक प्रदर्शन किया जाये और यह जुलूस शाहजहानाबाद के मुख्य राजमार्गों से निकाला जाये। इसका अभिप्राय था कि दिल्ली के नागरिकों का भ्रम भंग हो जाये जिनको असली दारा के हस्तगत होने के विषय में इस समय तक सन्देह था। बन्दियों को मोटे तथा मैले कपड़े पहनाये गये; उनके सिरों पर नाम मात्र की पगड़ियाँ थीं, जिसके ऊपर एक फटा पुराना काश्मीरी शाल लपेटा हुआ था, "जो उस शाल के सदृश था जो नीचतम कोटि के लोग ओढ़ते हैं।" बन्दी राजकुमारों को अपनी पीठ पर बैठाने के सम्मान के लिये एक बेचारी वृद्ध हथिनी को चुना गया जो मैल और कीचड़ से और भी आकर्षक बना दी गई थी। उसकी पीठ पर खुले हौदे में राजकुमार बैठा दिये गये। उनके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं और ग़ुलाम नज़रबेग नंगी तलवार लेकर उनके पीछे बैठा हुआ था। दारा की हथिनी के समीप ही मलिक जीवन और उसके अफ़ग़ान घोड़ों पर सवार होकर चल रहे थे। अपना शुभ्र फ़ौलादी वस्त्र धारण किये हुए, नंगी तलवारों को हाथों में लिये हुए कवच-धारी अश्वारोहियों का एक प्रबल दल तथा अपने धनुषों पर तीर चढ़ाये हुए घोड़ों पर सवार धनुर्धर इस अपमान-जनक प्रदर्शन को भय उत्पादक तेज से शोभित कर रहे थे। नगर के लाहौरी दरवाज़े से होकर दिल्ली को जाने वाले इस जुलूस के आगे हाथी पर सवार बहादुर ख़ाँ था। "अगस्त के सूर्य की तीव्र धूप से अनावृत दारा को उसकी पूर्व महिमा तथा गौरव के स्थानों से होकर जाना पड़ा। अपमान की कटुता के कारण उसने अपना सिर तक न उठाया, और न किसी ओर दृष्टिपात किया, परन्तु 'एक कुचली हुई टहनी की भाँति' बैठा रहा। केवल एक बार उसने आँख उठा कर देखा जबकि एक दीन भिखारी सड़क के पास से चिल्ला उठा था—"हे दारा—जब आप स्वामी थे आप मुझे सदैव भिक्षा देते थे। आज मैं भली भाँति जानता हूँ कि आपके पास देने को कुछ नहीं है।"[1] 'फटे पुराने चिथड़े धारण किये हुए राजा'—यह दीन दारा की स्थिति थी। सिवाय एक बूँद आँसू के और संवेदना की एक आह के दुःखियों को देने के लिये अब शायद उसके पास कुछ भी न था। तब भी उसने अपना हाथ चलाया और शाल को उतार कर उसने भिखारी की ओर फेंक दिया।

फ्रांसीसी वैद्य बर्ने, जो इस घटना का साक्षी था, कहता है—"इस अपमान-

---

१—औरंगज़ेब का इतिहास I तथा II, पृ० ५४३।

जनक अवसर पर एकत्र जन-समूह असंख्य था। और सर्वत्र मैंने देखा कि अति मर्मस्पर्शी भाषा में लोग दारा के भाग्य पर रोदन तथा क्रन्दन कर रहे थे। प्रत्येक दिशा से मुझको विदारक तथा दुःखकारक आक्रोश सुनाई पड़े क्योंकि भारतीय जनता का हृदय बहुत कोमल है। पुरुष, स्त्रियाँ तथा बालक इस प्रकार क्रन्दन कर रहे थे जैसे कि कोई घोर विपत्ति उन पर टूट पड़ी है।....परन्तु कुछ भी हलचल न हुआ; किसी ने भी तलवार न खींची कि अपने प्रेमास्पद तथा हृदय-द्रावक राजकुमार की रक्षा करे।[1] चाँदनी चौक तथा सादुल्लाख़ाँ का बाज़ार से तथा दिल्ली के क़िले की दीवारों के नीचे से होकर जुलूस खिज़िराबाद के बाग को वापस आ गया। यहाँ पर बहादुरख़ाँ ने बन्दियों को नज़र बेग के सरक्षण में पुनः वापस दे दिया। दारा तथा उसका पुत्र ख़्वासपुरा के भवन में अपनी पुरानी कोठरी में रख दिये गये और शफ़ीख़ाँ एक बलवान सेना सहित उनके संरक्षण पर नियुक्त कर दिया गया।

विभाग ५—दाराशिकोह की हत्या

जुलूस में सार्वजनिक शोक तथा क्रोध के वृत्तान्त पर भयभीत होकर औरंगज़ेब ने अपने सर्वोपरि विश्वासपात्र पक्षपातियों की एक सभा उसी सायंकाल को दिल्ली के क़िले के दीवाने-ख़ास में आमन्त्रित की। विवाद का विषय यह था कि दारा को प्राण-दण्ड दिया जावे वा ग्यालियर के गढ़ में उसको राजबन्दी बना कर रख दिया जाये। "कुछ लोगों का यह आग्रह था कि प्राण-दण्ड देने का कोई कारण नहीं है तथा राजकुमार को ग्वालियर भेज दिया जाये, परन्तु इस शर्त पर कि उसके साथ सबल रक्षक दल भेजा जाये। कहा जाता है कि दानिशमन्दख़ाँ ने, यद्यपि उसकी और दारा की बहुत दिनों से न बनती थी, अपनी समस्त तार्किक शक्ति से इस पक्ष का प्रबल समर्थन किया। परन्तु अन्त में यह निश्चय हुआ कि दारा को प्राण दण्ड दिया जाये तथा उसके पुत्र सिपिहर शिकोह को ग्वालियर में बन्द कर दिया जाये। इस सभा में रौशनारा बेगम ने अपने मन्द भाग्य भाई के विरुद्ध अपनी समस्त प्राचीन शत्रुता का परिचय दिया, उसने दानिशमन्द की युक्तियों का खण्डन किया तथा औरंग-ज़ेब को इस दूषित तथा अप्राकृतिक हत्या पर उत्तेजित किया। उसके प्रयासों का समर्थन आशातीत सफलता से भी अधिक ख़लीलुल्लाख़ाँ तथा शाइस्ताख़ाँ ने किया जो दोनों दारा के पुराने शत्रु थे। तक़र्रुबख़ाँ ने भी समर्थन किया जो दुष्ट परोपजीवी था, जो हाल ही में उमरा के पद पर उन्नत कर दिया गया था तथा जो पहले चिकित्सक (हकीम दाऊद नामक)

१—बर्नें की यात्रायें I पृ० ९९–१००।

था।"[1] दारा के प्रभुत्व काल में उलमा (धर्मशास्त्रविदों) की बुरी दशा रही थी। उन्होंने अब उदार धर्मी दारा के विरुद्ध मृत्यु का फ़तवा (धर्म-आज्ञा) निकाल दिया। "शरीअत तथा मज़हब के स्तम्भभूत विद्वानों को उसके जीवन से अनेक प्रकार के भय थे। अतः मजहब तथा शरीयत की रक्षा करने की आवश्यकता के कारण तथा राजनैतिक विचारों के कारण भी सम्राट् ने इसको अन्याय समझा कि सार्वजनिक शान्ति के भंगकर्ता दारा को और जीवित रहने दे।" औरंगज़ेब के अधिकाराधीन प्रकाशित अधिकृत इतिहास[2] इस प्रकार इस राजनैतिक हत्या कर्म को न्यायोचित ठहराता है।

अगले प्रभात (३० अगस्त) को मलिक जीवन की सेवाओं के प्रति अपनी गुणग्राहकता प्रकट करने के लिये औरंगज़ेब ने एक दरबार किया। जब इस नव निर्मित सामन्त का दल नगर से होकर जा रहा था, विश्वासघात के प्रति दिल्ली की जनता का रुका हुआ क्रोध उबल पड़ा। "बेकार लोग' दारा के पक्षपाती, कारीगर तथा सब तरह के लोग (अक्षरशः हर पेशे के), एक दूसरे को उत्तेजित कर, एक अनियन्त्रित जन-समूह में एकत्र हो गये तथा उन्होंने गालियों और शापों की मलिक जीवन तथा उसके साथियों पर बौछार कर दी, उन्होंने उस पर कूड़ा और कीचड़ फेंका और ढेले तथा पत्थर बरसाये। परिणाम यह हुआ कि कुछ गिर गये और मर गये। जीवन के सिर पर ढालें तान दी गई और इस प्रकार उसकी रक्षा की गई। अन्त में भीड़ में से होकर वह महल तक पहुँच गया। लोग कहते हैं कि आज के दिन इतना बड़ा विप्लव हुआ कि यह लगभग विद्रोह मालूम पड़ता था। यदि कोतवाल अपनी पुलिस लेकर न आ जाता (विद्रोह का दमन करने के लिये) तो मलिक जीवन के अनुचरों में एक भी जीवित न बचता। अपने घरों की छतों से अफ़ग़ानों के सिरों पर स्त्रियों ने मूत्र और मल से भरे हुए इतने कुल्हड़ (कौजा) और इतनी राख फेंकी कि बहुत से पास खड़े हुए लोग भी घायल हो गये।"[3] किन्तु इस घटना से दारा का अन्त समय और भी पास आ गया।

सायंकाल को औरंगज़ेब ने रज़र क़ुली (बेग) को अपनी समुपस्थिति में बुलाया और उसको आज्ञा दी कि सिपिहरशिकोह को उसके पिता से अलग

१—बर्नें की यात्रायें I पृ० १०१।

२—आलमगीरनामा; देखो औरंगज़ेब का इतिहास I तथा II पृ० ५४४–५४५।

३—ख़फ़ीख़ाँ III पृ० ८६; इलियट तथा डासन में अनूदित VII पृ० २४६। मलिक जीवन के सम्बन्ध में बर्नें कहता है—"परन्तु वह उस भाग्य से न बच सका, जिसका वह पात्र था। रास्ते में उस पर आक्रमण हुआ तथा अपने प्रदेश में कुछ मील अन्दर उसका बध कर दिया गया।" बर्नें की यात्रायें पृ० १०४।

कर दे तथा दारा का सिर उसके पास ले आये। इस हत्या-कार्य का निरीक्षण शफ़ीख़ाँ के सुपुर्द किया गया। रात हो जाने पर दारा को भय हुआ कि उसको विष दे दिया जायेगा। जब वह अपने पुत्र सिपिहरशिकोह के साथ मसूर पकाने में व्यस्त था, नज़र तथा उसके नारकीय साथियों ने कमरे में प्रवेश किया। इन रक्त के प्यासे व्यक्तियों के इस अंग-विन्यास को देखकर राजकुमार तुरन्त चौंक उठा तथा पीछे हठ कर बैठ गया। उसने उनसे कहा—"क्या आप लोग हमको मारने के लिये भेजे गये हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"किसी को मारने के विषय में हम इस समय कुछ नहीं जानते हैं। आज्ञा यह हुई है कि आपका पुत्र आपसे अलग कर दिया जाये तथा अन्यत्र सुरक्षण में रख दिया जाये। हम उसको लेने के लिये आये हैं।" सिपिहरशिकोह अपने पिता के घुटनों से घुटना अड़ा कर बैठा हुआ था।[१] कुबड़े नज़र ने सिपिहरशिकोह पर अपनी विषपूर्ण दृष्टि को डाल कर कहा—"उठ।" इस पर सिपिहरशिकोह अचेत होकर अपने पिता की टाँगों में चिपट गया। पिता-पुत्र ने एक दूसरे का दृढ़ आलिंगन कर लिया और 'हाय-हाय' कह कर चिल्लाने लगे। कठोर तथा भर्त्सनायुक्त स्वर में ग़ुलामों ने सिपिहरशिकोह को कहा—'उठ, नहीं तो हम तुझको खींच ले जायेंगे और उसको छुड़ाने के लिये वे उसको पकड़ने लगे। दाराशिकोह ने अपने आँसू पोंछ डाले, ग़ुलामों को सम्बोधित किया और कहा—"जाओ और मेरे भाई को कहो कि उसके इस निष्पाप भतीजे को यहाँ रहने दे।" उत्तर में ग़ुलामों ने कहा—"हम किसी के सन्देश-हर नहीं हैं। हमको अपनी आज्ञा का पालन करना है।" और ये शब्द कह कर वे आगे को झपटे और बलपूर्वक उसको अपने पिता के आलिंगन से खींच लिया। जब दारा को निश्चय हो गया कि उसका अन्तिम क्षण आ गया है, उसने एक तकिया फाड़ कर एक छोटा क़लमी-चाक़ू निकाला जिसको उसने वहाँ पर छुपा रखा था। जो ग़ुलाम उसको पकड़ने आगे की ओर बढ़ रहा था वह उसकी ओर मुड़ा और इस छोटे चाक़ू को इस ज़ोर से दुष्ट के पार्श्व में भोंक दिया कि वह हड्डी में जकड़ कर रह गया। यद्यपि राजकुमार ने इसको बाहर निकालने का प्रयत्न

१—तारीखे शुजाई की हस्तलिखित प्रति में, जो ख़ुदाबख़्श पुस्तकालय में है, यह शब्द है—'बद्वाज'—जिसका अर्थ है—उड़ना। भारतीय कार्यालय की ह० लि० प्र० में है—बर ज़ुश्ता बर दो जानुवी निशात। 'बर दो जानवी' का वास्तव में यह अर्थ नहीं है—(विनम्रता में) झुकना। पाल्थी मार कर बैठने के विरुद्ध यह बैठने का एक ढंग है। टाँगों को पीछे की ओर मोड़कर घुटनों पर बैठना इस समय भी बैठने का साधारण ढंग है—विशेष कर अपने से बड़े के सामने। ख़ुदाबख़्श की ह० लि० प्र० अधिक यथार्थ प्रतीत होती है, क्योंकि उड़ना वा पीछे मुड़ना प्रसंग के अधिक उपयुक्त है।

किया, वह सफल न हुआ। तब दाराशिकोह ने दायें बायें लोगों को कुछ मुक्के लगाये। अन्त में वे सब मिलकर उस पर झपटे और उसको गिरा दिया। सिपिहरशिकोह का वेदनामय आक्रोश एक पास के कमरे से जहाँ वह था, दारा के कानों तक पहुँचता रहा जब वे अपना क्रूर कार्य कर रहे थे।[1] अपने देशवासियों के समान भक्ति-मूलक विश्वासशीलता के प्रति उन्मुख तारीखेगुजाई का लेखक यह और कहता है—"इस पापी ने सुना है कि कार्य समाप्त होने के बाद राजकुमार दाराशिकोह के सिर से ज़ोर से 'कलिमै शहादत' (धर्म का मुस्लिम स्वीकरण) निकला जिसको बहुत से लोगों ने सुना।"[2]

दारा का कटा हुआ सिर तुरन्त औरंगज़ेब के पास लाया गया। उसने आज्ञा दी कि यह सिर रकाबी में रखा जाये और धोकर ख़ून से साफ़ कर दिया जाये। जब उसको पूरा सन्तोष हो गया कि यह सिर दारा ही का है, वह ज़ोर से चिल्लाया—"हा बदबख़्त (भाग्यहीन)! मैंने धर्म विमुख इस मुख को कभी न देखा जब तू जीवित था और न मैं अब देखूँगा।" अगले दिन प्रातःकाल ही (३१ अगस्त, १६५६) दारा का शव एक हाथी पर रखा गया तथा दिल्ली नगर के प्रत्येक बाज़ार और गली में इसका प्रदर्शन किया गया। इस दारुण दृश्य पर समीपस्थ लोग रो पड़े। उसी दिन कोतवाल ने पूर्वदिवस के दंगे की जाँच पड़ताल की तथा मलिक जीवन पर हुए आक्रमण की जाँच की। हैबत को जो रक्षा-दल का एक अहदी (उच्चवर्गीय अश्वारोही) था, और जिसने अपने सहवासी नागरिकों को विश्वासघातक पर प्रतिशोध लेने के निमित्त उत्तेजित किया था, औरंगज़ेब ने अति निष्ठुर प्रकार की मृत्यु का दण्ड दिया। उसको अति बर्बरता से दो अर्ध भागों में जीवित ही चीर डाला गया।

बधित राजकुमार के सिर के साथ औरंगज़ेब ने क्या व्यवहार किया—इस विषय पर दारा का घोर पक्षपाती मनुची एक आख्यायिका कहता है जिसकी वास्तविकता पर सन्देह किया जा सकता है। वह कहता है कि रौशनारा बेगम के सुझाव पर दारा का कटा हुआ सिर सुगंधित किया गया, एक सन्दूक़ में बन्द किया गया तथा एक उपहार के रूप में उसके पुत्र औरंगज़ेब की ओर से शाहजहाँ को भेजा गया। इसमें क्या है यह न जानते हुए बन्दी सम्राट् ने पेटी को यह कहते हुए स्वीकृत कर लिया कि उसको कुछ सन्तोष है कि उसके अपहारक पुत्र ने उसको बिल्कुल नहीं भुला दिया है। परन्तु जब पेटी खोली गई,

१—मासूम—भारतीय कार्यालय ह० लि० प्र० १४४ ब; १४५ अ; औरंगज़ेब के इतिहास में अनूदित I तथा II पृ० ५४८–५४९।

२—पूर्ववत्।

सम्राट् अचेत हो गया तथा जहाँनारा ने अपने पिता के बन्दी-कक्ष को अपने वेदना के चीत्कारों से विदीर्ण कर दिया। (कहावतें II)

औरंगज़ेब के चरित्र के सम्बन्ध में यद्यपि ऐसा कर्म शायद इतना वीभत्स नहीं है कि इस पर विश्वास न किया जा सके, तथापि इसको ऐतिहासिक तथ्य नहीं मान सकते, क्योंकि अन्य कोई लेखक यूरोपीय या भारतीय इसका समर्थन नहीं करता। समस्त समकालीन घटना-लेखक तथा परवर्ती इतिहासकार यह निश्चय से कहते हैं कि दारा का कटा हुआ सिर फिर से उसके धड़ में जोड़ दिया गया तथा उसके अवशेष हुमायूँ के मक़बरे (समाधि भवन) को पहुँचा दिये गये और भूमि गर्भ में स्थित एक क़ब्र में सुरक्षित कर दिये गये। शव को न स्नान कराया गया और न उसके निमित्त कोई प्रार्थना की गई।

मानुषी तथा दैवी प्रेम के प्रति शहीद मुहम्मद दाराशिकोह वीरात्मा था, जो मनुष्यमात्र के प्रति शान्ति तथा प्रीति का समर्थक था तथा जो अन्ध प्रमाण एवं विश्वास के बन्धनों से मानुषी बुद्धि को मुक्त करना चाहता था। उसने अपने जीवन तथा मृत्यु के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि 'मनुष्य के प्रति ईश्वर का विधान' अज्ञेय है।

अध्याय १२

औरंगज़ेब और दाराशिकोह का परिवार

विभाग १—सुलेमानशिकोह की गति

मिर्जा राजा जयसिंह, दिलेरख़ाँ तथा अन्य शाही अधिकारियों द्वारा त्याग दिये जाने पर सुलेमानशिकोह ने कोड़ा से इलाहाबाद की ओर लौटना आरम्भ कर दिया (४ जून, १६५८)। उसकी भारी तथा विजयी सेना अस्त होगई थी तथा दारा के विश्वस्त अधिकारी बक़ीबेग के अधीन केवल ६ हज़ार मनुष्य शेष रह गये थे। सुलेमान ने अपना भारी सामान, सोने की पालकी, छत्र, चमरादि राज-चिह्न, तथा अपने अन्त:पुर की अनावश्यक महिलाओं को सैयद हाशिम बारहा नामक एक वीर अधिकारी के संरक्षण में इलाहाबाद के क़िले में छोड़ दिया। उसकी योजना थी कि दिल्ली से सुदूर रहकर सहारनपुर तथा अम्बाला के अरक्षित अर्ध पर्वतीय ज़िलों से सुविधापूर्वक गमन करके वह लाहौर में अपने पिता से जाकर मिल जाये। १४ जून को उसने गंगा को पार किया तथा लखनऊ और मुरादाबाद के मार्ग से गमन करता हुआ वह नगीना पहुँच गया।

उसका इरादा था कि गंगा को यहाँ पुनः पार करके वह उसके दक्षिण तट पर पहुँच जाये। परन्तु यहाँ के लोग शत्रुवत् थे। उसकी सेना के आगमन को देखते ही प्रत्येक घाट पर नावें नदी के दूसरे तट पर चली जातीं। वह नदी के किनारे-किनारे और आगे बढ़ा और हरद्वार के सम्मुख चण्डी पर ठहर गया। यहाँ पर वह अपने अधिकारी भवानीदास की प्रतीक्षा कर रहा था जिसको उसने श्रीनगर के राजा पृथ्वीसिंह के पास सहायता की चर्चा के निमित्त भेजा था। परन्तु यह पड़ाव घातक सिद्ध हुआ। औरंगज़ेब ने शाइस्ताख़ाँ के अधीन एक सेना भेज दी थी कि वह पंजाब को सुलेमान के नियोजित प्रत्यागमन के मार्ग को काट दे और उसको हरद्वार में रोके रहे। एक उत्साही अधिकारी फ़िदाईख़ाँ को, जो शाइस्ताख़ाँ के मुख्य दल से बहुत आगे था, कुमायूँ के राजा का एक पत्र मिला जिसमें उसने सूचना दी थी कि सुलेमानशिकोह हरद्वार के सम्मुख उपस्थित है। हापुड़ के दक्षिण-पूर्व में पुठ से फ़िदाईख़ाँ एक दिन में १६० मील पार कर गया और केवल ५० व्यक्तियों के साथ हरद्वार पहुँच गया।

अपने सैनिकों के विशेष कर बारहा के सैयदों की चीख-पुकार से बेचारा राजकुमार घबरा उठा। सैयदों को अपने घरों तथा परिवारों की सुरक्षा के प्रति बहुत भय उत्पन्न हो गया था। केवल २ हज़ार सैनिकों के साथ उसने श्रीनगर के राजा के प्रदेश में प्रवेश किया। अपने सैनिकों के निराकरण की शर्त पर राजा ने उसको सकुशल शरण की प्रतिज्ञा की थी। बक़ीबेग जो बहुत दिनों से नवयुवक राजकुमार का उपदेष्टा था श्रीनगर के मार्ग पर मृत्यु को प्राप्त हो गया। नवयुवक सुलेमान के पास अब कोई परामर्शक न रह गया था। उससे अपने निर्णयों में बहुत सी भूलें हुई और अपने ही परिचारी वर्ग में विश्वासघातियों के हाथ का वह खिलौना बन गया। उसको एक जाली पत्र से धोखा हुआ जिसका आशय था कि इलाहाबाद के क़िले के आज्ञापक ने उसको लिखा था तथा इसमें उसको यह समाचार दिया गया था कि शुजा इलाहाबाद के पास आ गया है। राजा की रक्षा का त्याग कर सुलेमान अपने श्रद्धाहीन अनुचरों सहित नगीना आ गया जहाँ एक ही दिन में केवल सात सौ सैनिकों को छोड़कर उसके समस्त अनुचरों ने उसका साथ त्याग दिया। अगले दिन उसने पहाड़ियों को वापस जाने का निश्चय किया। परन्तु केवल २०० व्यक्ति उसके साथ वहाँ जाने को तैयार हुए। उसका पीछा करने वाले भी उसके पास पहुँच गये थे। अन्त में अपनी वधू, थोड़ी-सी अन्य महिलाओं, अपने धाय भाई मुहम्मदशाह तथा १७ अनुचरों को लेकर भाग्यहीन राजकुमार ने अपने को श्रीनगर के राजा की रक्षा तथा सम्मान पर छोड़ दिया।

दिल्ली के अपहृत राजसिंहासन पर औरंगज़ेब चिन्ताकुल ही था जब तक कि वह सुलेमानशिकोह के शरीर पर अधिकार न प्राप्त करले या उसका बध न करा दे, क्योंकि वह अपने पिता की अपेक्षा शासन के अधिक योग्य था तथा वह शाहजहाँ का प्रियतम पौत्र था। जुलाई, १६५६ में उसने अधिकतम विश्वास-घातक राजा राजरूप को पृथिवीसिंह के विरुद्ध भेजा था, और एक वर्ष से भी अधिक ईश्वर-भीरु तथा वीर श्रीनगर के राजपूत सरदार ने अपने प्रदेश तथा अपने अतिथि की सफलतापूर्वक रक्षा की। पलायक राजकुमार के प्रति राजा कृपा तथा उदारता की मूर्ति ही था। कहा जाता था कि उसने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उससे कर दिया था। शस्त्रों की मन्द गति पर अधीर होकर औरंगज़ेब ने कूटनीति की शरण ली तथा इस विषय में उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह से सहायता माँगी। उस समय राजा दरबार में उपस्थित था। उसने पृथिवीसिंह को मैत्रीपूर्ण पत्र लिखे। उसने परामर्श दिया कि सुलेमानशिकोह का समर्पण करके वह अवश्यंभावी विनाश से अपनी रक्षा करे। श्रीनगर के वृद्ध सरदार को प्रलोभन देने में असफल होकर जयसिंह उसके सर्व-शक्ति-सम्पन्न ब्राह्मण मन्त्री से षडयन्त्र करने पर उतारू हो गया। ब्राह्मण मन्त्री को यह अशक्य प्रतीत हुआ कि पलायक राजकुमार का साथ छोड़ने पर वह राजा को प्रलुब्ध कर सकेगा। अतः उसने औषध के रूप में सुलेमान को घातक विष दे दिया, परन्तु सावधान राजकुमार ने पहले एक बिल्ली पर इसका प्रयोग किया। अपने मन्त्री के इस जघन्य प्रयास की सूचना पाकर राजा ने तुरन्त दुष्ट का सिर कटवा दिया। आगे चलकर जयसिंह ने राजा के पुत्र मेदिनीसिंह से षड्यन्त्र किया। उसको प्रोत्साहन दिया कि अपने पिता के प्रति वह औरंगज़ेब बन जाये। दारा के भाग्य में यह लिखा था कि उसका विश्वासघात होता रहे—विशेषकर उन लोगों के द्वारा जो उसके प्रति अति कृतज्ञ थे। मेदिनीसिंह ने अपने पिता को लग-भग बन्दी ही बना लिया तथा इसका प्रबन्ध कर दिया कि पलायक गण जयसिंह के आदमियों को समर्पित कर दिये जायें। (मासूमकृत तारीख़े शुजाई)।

परन्तु अधिकृत वृत्तान्त के अनुसार, जैसा कि आलमगीर नामा तथा मासीरे आलमगीरी के लेखकों ने दिया है, पृथिवीसिंह ने ही अपनी इच्छा से जयसिंह को पत्र लिखा था और उसमें यह सूचना दी थी कि वह सुलेमान को समर्पित करने को तैयार है यदि मिर्ज़ा राजा अपनी मध्यस्थता द्वारा सम्राट् से उसकी भूल को क्षमा करा दें। जयसिंह की प्रार्थना पर सम्राट् ने श्रीनगर के सरदार के अपराधों को क्षमा कर दिया। सम्राट् ने जयसिंह को कहा कि वह अपने पुत्र रामसिंह को सुलेमानशिकोह को लाने के लिये श्रीनगर भेज दे। २७ दिसम्बर १६६० को पृथिवीसिंह ने अपने पुत्र मेदिनीसिंह के साथ बन्दी राजकुमार को

पहाड़ से भेज दिया। २९ दिसम्बर को यह समाचार सम्राट् को पहुँचा और उसी दिन जयसिंह को एक रत्न जटित तुर्रा पुरस्कार में दिया गया। २ जनवरी, १६६१ को कुँवर रामसिंह, तरबियतख़ाँ, रदन्दाज़ख़ाँ तथा अन्य शाही मन्सबदार बन्दी राजकुमार को अपने साथ लेकर आ गये। औरंगज़ेब के ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद सुल्तान के साथ वह ठहरा दिया गया। मुहम्मद सुल्तान उस समय सलीमगढ़ में बन्दी था क्योंकि उसने अपने चाचा शुजा का साथ दिया था।

तीन दिन बाद सलीमगढ़ के कारागार-दुर्ग से शृंङ्खलाबद्ध बन्दी सुलेमान शिकोह को दरबार ख़ास में औरंगज़ेब के सम्मुख उपस्थित किया गया (५ जनवरी, १६६१)। इस दुखित अवस्था में भी वह अङ्ग-प्रत्यङ्ग से साक्षात् राजकुमार दीखता था तथा उसने बहुत आत्म-नियन्त्रण पूर्वक व्यवहार किया। उसने अपने चाचा को साहसपूर्वक कहा कि ग्वालियर के कारागार में अफ़ीम का रस पीने पर विवश किये जाने की अपेक्षा वह तत्क्षण मृत्यु को श्रेय समझेगा। औरंगज़ेब ऊपर से सुलेमान के प्रति दयालु तथा कोमल था। उसने स्पष्टता तथा गम्भीरता से प्रतिज्ञा की कि पोस्ता का पानी उसको कभी न दिया जायेगा। सुलेमान ग्वालियर के राजकीय कारागार में भेज दिया गया (१५ जनवरी, १६६१)।[1] जो कुछ दीवान ख़ास में उसके मुख से निकला था; उसके विपरीत ही औरंगज़ेब का अभिप्राय था। एक वर्ष तक पोस्ता का वह पानी उसको पीने को दिया गया जिससे वह बहुत डरता था। परन्तु युवावस्था की उसकी जीवन शक्ति इस मन्द विष से प्रबल सिद्ध हुई। अतः औरंगज़ेब की आज्ञा से गला घोट कर उसको मार दिया गया। वह मुरादबख़्श के पास दफ़न कर

१—सुलेमानशिकोह को अपने अधिकार में प्राप्त करने के लिये श्रीनगर के राजा के विरुद्ध जयसिंह द्वारा औरंगज़ेब के इस षडयन्त्र पर आलमगीर नामा (पृ० ६००-६०२) तथा मासीरे आलमगीरी (पृ० ३३) मौन हैं। समस्त अनधिकारी वृत्तान्त—जैसे मासूम (१५७ ब, १५९ ब), तवर्नें (I २९०-२९२), बर्नें (३७८-३८०); और मनुची (I १०५) इस तथ्य को निश्चित रूप से स्थापित कर देते हैं कि औरंगज़ेब ने जयसिंह को यह विषय सुपुर्द कर दिया था। श्रीनगर में सुलेमान के जीवन का वृत्तान्त तथा पलायक राजकुमार के समर्पण की कथा मासूम देता है। बर्नें का भी यह मत है—"षडयन्त्रों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों ने श्रीनगर के राजा पर यह दबाव डाला कि पलायक राजकुमार का समर्पण कर दे"। बर्नें यह भी विश्वास करता है कि "जयसिंह के षडयन्त्रों ने, औरंगज़ेब की प्रतिज्ञाओं तथा भर्त्सनाओं ने······ इस कातर शरणदाता की दृढता को हिला दिया।" सिवाय मासूमकृत तारीखे शुजाई में हमारे पढ़ने में और कहीं यह नहीं आया है कि पृथिवीसिंह के मन्त्री ने सुलेमान को विष देने का प्रयत्न किया तथा श्रीनगर में मेदिनीसिंह ने सत्ता का अपहरण कर लिया। तब भी उसका वर्णन प्रायः यथार्थ प्रतीत होता है। हमको विश्वास है कि औरंगज़ेब के हाथों में विश्वासघात-पूर्वक सुलेमान को समर्पित करने के प्रकरण में श्रीनगर के वृद्ध राजा का कोई हाथ नहीं है।

दिया गया। वह भी इस विकट कारागार में इसी प्रकार मारा गया था। इस प्रकार तीस वर्ष की आयु पर सुलेमान का उज्ज्वल आशामय जीवन हिंसापूर्वक समाप्त कर दिया गया।

सुलेमान के अभागे बच्चों में से सलीमाबानू नामक एक पुत्री का पालन-पोषण किया गया तथा गौहरआरा बेगम ने अपने शिशु के रूप में उसको गोद ले लिया। मुहर्रम १०८२ हि० (जून, १६६२) में राजकुमार मुहम्मद अकबर से उसका विवाह कर दिया गया। सुलेमानशिकोह की एक दूसरी पुत्री १६७८ ई० में ख्वाजा बहाउद्दीन को ब्याह दी गई। (मासीरे आलमगीरी पृ० ११८, १६६)।

विभाग २—दारा के अन्य बच्चों की गति

दारा के अन्तिम आलिंगन से सिपिहरशिकोह को बलपूर्वक अलग कर लिया गया था तथा उसके पिता की हत्या के शीघ्र पश्चात् उसको बन्दी बना कर ग्वालियर भेज दिया गया था। ग्वालियर में १२ वर्ष के कारागारवास के बाद उसका भाग्य कुछ सुधर-सा गया। सम्राट् की आज्ञा से मुल्तफ़तखाँ उसको दिल्ली ले आया और ८ दिसम्बर, १६७२ को सलीमगढ़ के बन्दी-अट्ट में वह रख दिया गया। १६ दिसम्बर को सिपिहरशिकोह सम्राट् के सम्मुख उपस्थित किया गया तथा औरंगज़ेब की एक कन्या ज़ुब्दतुन्निसा से उसका विवाह कर दिया गया (३० जनवरी, १६७३)। इस वैवाहिक सम्बन्ध से केवल एक मात्र पुत्र अलीतबर का जन्म हुआ (१३ जुलाई, १६७६)। वह ६ मास से अधिक जीवित न रहा। औरंगज़ेब के शासन-काल के अधिकृत इतिहास-ग्रन्थ में सिपिहरशिकोह के सम्बन्ध में इससे अधिक हमको और कुछ नहीं मिलता।[1]

नादिरा बानू से उत्पन्न दारा की दो कन्यायें अपने पिता और दूसरे भाई के साथ बन्दी कर ली गई थीं। वे दिल्ली लाई गईं तथा प्रथम देख-रेख के लिये औरंगज़ेब के अन्तःपुर में भेज दी गईं। परन्तु शाहजहाँ तथा जहाँनारा की प्रार्थना पर उनके साथ रहने के लिये वे आगरा भेज दी गईं। इन दोनों में से बड़ी जानी बेगम[2] युवावस्था प्राप्त करने पर अत्यन्त सुन्दरी तथा गुणवती महिला सिद्ध हुई। उसका विवाह औरंगज़ेब के द्वितीय पुत्र मुहम्मद आज़म से हुआ।

१—देखो मासीरे आलमगीरी—पृ० १२१, १२४; १२५; १५४

२—दारा की दुख-कथा में रोमाञ्चक भाव की अन्तिम झलक उसके (जानी बेगम के) एक पराक्रम में मिलती है। देखो—सर जदुनाथ सरकार कृत—औरंगज़ेब का इतिहास IV पृ० ३०१–३०२। मराठों के हाथों से अनुरुद्धसिंह हाड़ा द्वारा जानी बेगम की रक्षा का स्वतन्त्र तथा अधिक विस्तृत वृत्तान्त वंश भास्कर में है। इन दोनों वृत्तान्तों के गौण विवरणों में कुछ भेद हैं। (वंशभास्कर पृ० २८६९–७१)

अध्याय १३

दारा और एक हिन्दू तपस्वी

बाबा लाल जाति से क्षत्रिय था। उसका जन्म मालवा में जहाँगीर के शासन-काल में (१६०५–१६२७) हुआ था। वह चेतन स्वामी का अनुचर था, जो महान् सन्त था तथा अनेक अलौकिक कर्म करने का श्रेय उसको प्राप्त था। कहा जाता है कि एक दिन भिक्षा के रूप में चेतन स्वामी ने बाबालाल से कुछ चावल तथा ईंधन माँगा, अपनी टाँगों के बीच में अग्नि जलाई तथा एक बर्तन को अपने पैरों से थामे रहा जिसमें चावल उबल रहा था। यह अलौकिक कर्म देखकर बाबालाल, सन्त के सम्मुख साष्टांग पड़ गया और उसको अपना गुरु (आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक) मान लिया। उसके गुरु ने उसको पके चावल का एक दाना दिया। इसको उसने खा लिया जिससे समस्त विश्व के भेद तुरन्त उसको प्रकट हो गये। वह चेतन स्वामी के साथ लाहौर गया। वहाँ पर एक दिन योग में अपने शिष्य की परीक्षा लेने के लिये सन्त ने उसको आज्ञा दी कि लाहौर से कई सौ मील की दूरी पर स्थित काठियावाड़ के प्रायद्वीप में द्वारिका से वह कुछ गोपी चन्दन (सफेद-सी मिट्टी जिसको वैष्णव पवित्र समझते हैं) ले आये। कहा जाता है कि आधे घण्टे के भीतर ही अपनी लम्बी यात्रा को समाप्त करके द्वारिका से गोपीचन्दन लेकर बाबालाल लौट आया। इस पर उसके गुरु ने उसको वहाँ से जाने की आज्ञा दे दी तथा स्वतन्त्र रूप से गुरु की भाँति बसने का आदेश दिया। वह सरहिन्द के निकट ध्यानपुर में रहने लगा। यहाँ पर उसने अपने लिये एक आश्रम बनाया और अपने मत में लोगों को दीक्षा देने लगा। उसका मत यह था कि ईश्वर एक है, निराकार है, केवल उसी की उपासना उचित है जिसके लिये किसी बाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। उसके मत में वेदान्त दर्शन तथा सूफ़ीवाद के बहुत से तत्व सम्मिलित थे। उसके अनुचर अपने को बाबालाली कहते थे तथा उसके सिद्धान्त के अनुसरण करने वालों में राजकुमार दाराशिकोह भी था।[१]

लाहौर के एक उपनगर कोटल-मेहराँ[२] में बाबालाल निवास कर रहा था। जब क़न्धार के असफल अवरोध के बाद (२२ नवम्बर, १६५३) दरबार को वापस जाते हुए दाराशिकोह वहाँ पर ठहरा हुआ था, लाहौर में दारा के तीन

१—गार्सिन द तासी I ९४-९६। एशियाई अनुसन्धान XVII—पृष्ठ २९६–३०।

२—कोटल मेहराँ निस्सन्देह "कुई मीरन" है जो लाहौर का एक उपनगर है। (लाहौर जिला गज़ेटियर १८८४—पृ० १९२)

सप्ताह के विश्राम में (दिसम्बर, १६५३ के मध्य तक) नियुला में स्थित राय चन्द्रभान ब्राह्मण के घर पर राजकुमार तथा हिन्दु तपस्वी के बीच में एक बहुत रोचक धार्मिक संवाद हुआ[1]। यह संवाद ६ दिन तक होता रहा तथा दो मजलिसें (अधिवेशन) प्रतिदिन होते रहे। वार्तालाप उर्दू में हुए और ऐसा मालूम होता है कि राय जाधवदास ने एक प्रतिलिपि पुस्तक में इनको लेख-बद्ध कर लिया[2]। बाद में राय चन्द्रभान (मुंशी) ने इनका अनुवाद फ़ारसी में किया और ये नादिरुलनुकात के नाम से प्रकाशित किये गये। इस धार्मिक संवाद की प्रकृति के विषय में महान् फ्राँसीसी समालोचक हुअर्ट तथा मस्सीग्नों उचित टिप्पणी करते हैं—"ये संवाद वास्तव में हुए तथा १०६३ हि० (१६५३ ई०) के अन्त पर हुए जैसा कि मालूम होता है। अधिकृत सम्भाषणों की विवादात्मक तथा प्रथानुसारी प्रकृति के सदृश इनकी प्रकृति नहीं है जिनका संगठन ससानियों के दरबार में प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के प्रतिनिधियों के बीच में हुआ करता था। ये राजकुमार के प्रश्न हैं जो पूर्ण सहानुभूति तथा विश्वास में तपस्वी से किये गये हैं जिसका वह सम्मान करता है और जो मित्र की भाँति उसको उत्तर देता है। यद्यपि संवाद के विषयों का सम्बन्ध भारत की परम्परागत सभ्यता के अतिविभिन्न क्षेत्रों से है·······सर्वथा मौलिक स्थल वे हैं जिनमें दाराशिकोह यह प्रयास करता है कि मुसलमान के रूप में उसके धार्मिक अनुभव का विश्लेषण बाबालाल हिन्दु पारिभाषिक शब्दों में करे··········"[3]। वे ही समालोचक अन्यत्र कहते हैं—"तपस्वी बाबा लालदास के विषय में जो अद्भुत टिप्पणी दारा ने की है (अपनी शतहात में—उर्दू अनुवाद, लाहौर, पृष्ठ १४४) उसमें हमने देखा है कि वह मुण्डिया था (मुण्डे सिरका साधु) तथा वह कबीर पन्थी सम्प्रदाय का था। अतः इस प्रकार यह कबीर का महाप्रताप है जिसने हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों के बीच में उस समाधान के बीज की रक्षा की है जिसको

१—नियुला लाहौर के नगर का वह भाग मालूम होता है जिसको इस समय नौलखा कहते है। लाहौर जिला गजेटियर में इसकी स्थिति का वर्णन इस प्रकार है—"माल के उत्तर में कुछ दूरी पर और एक खुले तथा अब तक निर्जन क्षेत्र द्वारा इससे विभक्त रेलवे स्टेशन है जो बंगलों के एक उपनिवेश का केन्द्र है।······स्टेशन के इस भाग को नौलक (नौलखा) कहते हैं। यह एक समय प्राचीन नगर का एक भाग था।"। (पूर्ववत् पृष्ठ १६४)

२—प्रो० विलियम उससे जदुदास कहता है। उसके प्रमाणानुसार यह सम्वाद १६४६ में हुआ (देखो गार्सिन द-तासी I ६६), परन्तु यह ग़लत है। रिसालै उस्तूतहु अजूलहे दाराशिकोह के नाम से उर्दू में इस सम्बाद नादिरुल नुकात का अनुवाद हुआ। गार्सिन-द-तासी I पृ० ६६)।

३—जनरल एशियाटिक १६२६ (अक्तूबर-दिसम्बर)।

उसने १५वीं शताब्दी में उदारतापूर्वक बोया था। इस क्षण पर जब भारत का ऐक्य इस पर निर्भर है कि इन दो आध्यात्मिक तत्वों के पारस्परिक बोध के निमित्त नवीन प्रयास किया जाये, यह न्यायसंगत ही है कि बाबालाल तथा दारा के व्यक्तित्व की ओर उचित ध्यान दिया जाये।"[1]

इसमें सन्देह नहीं है कि अकबर से महात्मा गांधी तथा रवीन्द्रनाथ तक महान् विचारकों तथा धार्मिक सुधारकों की क्रमागत पीढ़ियों की प्रेरणा का आदि स्रोत कबीर हैं। इन्होंने मनुष्यमात्र को शान्ति तथा प्रेम का पाठ पढ़ाया है, इन्होंने प्रयत्न किया है कि जातियों तथा धर्मों के बीच की खाई को पाट दें। परन्तु स्वयं दारा के प्रमाण पर यह स्वीकार करना कठिन है कि बाबालाल सर्वथा कबीरपन्थी था। इसमें सन्देह नहीं है कि अपने तपश्चर्यामय जीवन के आरम्भ में बाबालाल हठयोगी था। (एक सम्प्रदाय जो घोर शारीरिक कष्ट सहन वा आसनों में विश्वास रखता है जिनके द्वारा उनके अनुसार अलौकिक कर्म किये जाते हैं) बाद को वह गूढ़-द्रष्टा हो गया तथा कबीर की भाँति उसको यह विश्वास हो गया कि एक सर्व-शक्तिमान् निराकार ईश्वर ही उपासना के योग्य है। वह सर्वप्रिय हिन्दी पद्यों में ईश्वर की स्तुति किया करता तथा अपने आध्यात्मिक अनुभव के गीत गाता। जैसा कि संवाद के निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट होगा, बाबालाल को पुस्तकस्थ विद्या तथा योगाभ्यास से वह घृणा न थी जो कबीर को थी, और न वह कबीर की भाँति मूर्तिपूजा तथा धर्म के बाह्याङ्गों की कठोर निन्दा करता था।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस रोचक संवाद नादिरुलनुकात का फ़ारसी पाठ्य हमको केवल खण्डित तथा अशुद्ध प्रतिलेखों में प्राप्त हो सका है। चूँकि यह संवाद व्यक्ति की अन्तरात्मा को प्रकट करता है, यह अनुचित न होगा कि यहाँ पर प्रकाशित पाठ्य से कुछ उद्धरणों का अनुवाद दिया जाये।

१ प्रश्न—नाद तथा वेद में क्या अन्तर है ?

उत्तर—वही अन्तर है जो आज्ञा देने वाले राजा में तथा उसके द्वारा दी हुई आज्ञा में है। प्रथम नाद है और द्वितीय वेद।

२ प्रश्न—चन्द्र का प्रकाश क्या है, उसमें काली जगह क्या है तथा उसकी श्वेतता का कारण क्या है ?

उत्तर—स्वयं चन्द्र में कोई प्रकाश नहीं है। यह सर्वथा रङ्गहीन पदार्थ है जिस पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, इसकी श्वेतता पृथ्वी के समुद्रों का प्रतिबिम्ब है तथा इसकी काली जगह भूमि का प्रतिबिम्ब है।

१—पूर्ववत्।

३ प्रश्न—यदि यह प्रतिबिम्ब की बात है, तो यह सूर्य पर उसी मात्रा में क्यों नहीं प्रकट होता है ?

उत्तर—सूर्य अग्नि के गोले की भाँति है और चन्द्र जल के गोले की भाँति है। प्रतिबिम्ब पानी में पड़ता है, परन्तु अग्नि में नहीं।

६ प्रश्न—हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा का क्या सिद्धान्त है ? किसने इसको विहित किया है ?

उत्तर—हृदय को बल देने के लिये यह आलंबन रूप से स्थापित की गई है। जिसको वास्तविकता का परिचय है, वह इसी कारण से इस बाह्य रूप के विषय में उदासीन है। परन्तु जब मनुष्य को गूढ़तम वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता है, वह बाह्य रूप में आसक्त रहता है। यही हाल कुँवारी लड़कियों का है जो गुड़ियाँ खेलती हैं। विवाहित महिलायें विवाह होने पर उसका त्याग कर देती हैं। यह भी एक प्रकार की मूर्ति-पूजा है। जब तक मनुष्य इस भेद को नहीं जान जाता है वह बाह्य रूप से आसक्त रहता है। जब मनुष्य आन्तरिक अर्थ जान लेता है, वह इसको छोड़ देता है।

११ प्रश्न—स्रष्टा तथा सृष्टि में क्या अन्तर है ? मैंने यह प्रश्न किसी से किया था। उनके अन्तर को उस अन्तर से तुलना करके उसने उत्तर दिया था जो वृक्ष तथा उसके बीज में है। यह ठीक है या नहीं ?

उत्तर—स्रष्टा सागर की भाँति है और सृष्ट पदार्थ जलपूर्ण पात्र के सदृश। पात्र तथा सागर में जल तो एक ही है, परन्तु दोनों आधारों में बहुत बड़ा भेद है। बात यह है कि स्रष्टा स्रष्टा हैं और सृष्टि सृष्टि है।

१२ प्रश्न—परमात्मा क्या है ? तथा जीवात्मा क्या है ? और फिर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक कैसे हो जाता है ?

उत्तर—मदिरा जल से बनती है, परन्तु यदि वह पृथ्वी पर उँडेल दी जाये, तो अशुद्धता, मद तथा दूषण जो उसमें है, उसके तल पर रह जाते हैं तथा जल पृथ्वी में प्रवेश कर जाता है और शुद्ध जल रहता है। यही बात है उस आदमी की जो अब भी जीवात्मा है। यदि वह अपने अस्तित्व के साथ पाँच (ज्ञान) इन्द्रियों को भी छोड़ दे तो वह पुनः ईश्वर में मिल जायेगा।

१३ प्रश्न—जीवात्मा तथा परमात्मा में क्या भेद है ?

उत्तर—सार रूप से कोई भेद नहीं है।

१४ प्रश्न—तब यह कैसे हो सकता है कि दण्ड तथा पुरस्कार दोनों का स्पष्टतया अस्तित्व है ?

उत्तर—यह चिह्न है जो शरीर के संस्कार द्वारा अंकित हो जाता है। गंगा तथा गंगाजल में यही भेद है।

१५ प्रश्न—इस उदाहरण से कौन सा भेद उद्दिष्ट है ?

उत्तर—यह भेद अनेकाङ्गी तथा असीम है। वास्तव में यदि गंगाजल एक पात्र में है और उसमें मदिरा की एक बूँद टपक पड़ती है, तो पात्र का समस्त जल इतना ही दूषित माना जाता है जितना मदिरा। इसके विपरीत यदि मदिरा के एक लाख पात्र भी गंगा में डाल दिये जायें, तो गंगा गंगा ही रहेगी। इस प्रकार परमात्मा पूर्ण शुद्ध है तथा आत्मा (जीवात्मा) इस निम्नस्थ अस्तित्व से प्रभावित हो जाता है। परन्तु जब तक इसका वास अस्तित्व में है, वह सदैव आत्मा (जीवात्मा) ही रहेगा।

१६ प्रश्न—हिन्दुओं की पुस्तक में यह कहा गया है कि जो वाराणसी (काशी) में मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे निश्चय ही स्वर्ग को जाते हैं। यदि बात ऐसी ही है, तो इस पर आश्चर्य हो सकता है कि निरन्तर तपस्वी तथा पापी की गति में समानता है।

उत्तर—वास्तव में मनुष्य-जीवन का सम्पुष्ट करना ही काशी है। जो अमर जीवन में सम्पुष्ट हो जाता है वह निश्चय मुक्ति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

२० प्रश्न—चूँकि प्रत्येक मनुष्य को जीवन प्राप्त हुआ है, तो क्या प्रत्येक मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा ?

उत्तर—महापुरुष को छोड़कर किसी के जीवन (अस्तित्व) में पुष्टीकरण नहीं होता है, परन्तु वह केवल इच्छाओं में जकड़ जाता है और इच्छा वास्तविक जीवन से भिन्न वस्तु है (ख्वाहिश अज़ वजूदअलाहिदा अस्त)। इच्छा से इच्छा की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार मनुष्य मोक्ष से वञ्चित रह जाता है।

२६ प्रश्न—यदि यह ज्ञात हो जाये कि मुझको फ़क़ीर का वस्त्र हृदय से पसन्द है, तो अपने गौरव-वृद्धि के निमित्त मनुष्य दरवेश (फ़क़ीर) का वस्त्र धारण कर लेंगे, परन्तु अन्त में उनके वास्तविक स्वभाव का पता चल जायेगा और उनके हृदयों पर इसका कठोर प्रभाव पड़ेगा। राजा को इससे दूर रहना चाहिये।

उत्तर—कोई भी उस मार्ग को बन्द करने में (तपस्वी वस्त्र के धारण करने का मार्ग) कभी भी सफल न होगा जिस पर ईश्वर-भक्त चलते हैं। जैसे कि इस आशा से कि उसको पारस पत्थर मिल जायेगा, एक मनुष्य पत्थर के टुकड़ों को इकट्ठा करता रहता है, वह बिना विवेक के ऐसा करने से नहीं रोका जा सकता है। दरवेश जो दरवेश के वस्त्र में सभा को जाता है लोग उसका सेवा-सत्कार करते हैं और यह स्वयं ही पुरस्कार है।

३२ प्रश्न—हिन्दु विचार के अनुसार ब्रजभूमि (वृन्दावन) में ही श्री कृष्ण

अपने निज रूप को गोपियों के निमित्त प्रकट करते हैं। यह रहस्यमय रूप मनुष्यों के उपयुक्त है या नहीं ?

उत्तर—यह रूप उनके अनुकूल न होगा जो लौकिक जीवन में आसक्त हैं, क्योंकि यदि सच्चा रूप उनको दृष्टिगत हो जाये, तो वे मर जायेंगे तथा पुरस्कार के बदले दण्ड के भागी होंगे। इसका सहन केवल फ़कीर ही कर सकते हैं जिनकी समस्त इच्छाओं का दमन उनके शरीर में हो गया है और इतनी अच्छी तरह कि उनके हृदय किसी कारण भी किसी दिशा में विचलित नहीं होते हैं।

३६ प्रश्न—कभी कभी यह कहा गया है कि ब्रह्म-संयोग में तत्व (ज़ात)[1] की प्राप्ति हो जाती हैं। यह कैसे कह सकते हैं कि इस संयोग द्वारा ब्रह्म-तत्व की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—जब लोहे के टुकड़े को अग्नि में (तपाकर) लाल करते हैं और जब इसका रंग अग्नि का हो जाता है, तब इसका व्यवहार भी अग्नि के व्यवहार की भाँति हो जाता है।

४१ प्रश्न—यह प्रथा है कि मुसलमान मरने पर गाड़ दिया जाता है और हिन्दू जला दिया जाता है। परन्तु जब दरवेश[2] एक हिन्दू के वस्त्र में अपने प्राण का विसर्जन करता है, तब उसके साथ क्या होगा ?

उत्तर—सर्वप्रथम—गाड़ना या जलाना ये भौतिक शरीर से सम्बन्धित उपाय हैं। दरवेश को अपने शरीर की चिन्ता नहीं रहती है। उसने अपने शरीर का त्याग इस कारण से किया है कि वह आनन्द के सागर में प्रवेश कर जाये जो ईश्वर-बोध में प्राप्त होता है। वह शारीरिक अस्तित्व (हस्ती) के क्षेत्र को त्याग देता है जिससे कि वह उस अमर निवास को प्राप्त हो जाये जिसका कोई प्राकृतिक अस्तित्व नहीं है (नेस्ति)। जैसे साँप उस केंचुल की कोई चिन्ता नहीं करता है जिसको उसने छोड़ दिया है और अपने बिल में घुस जाता है—उसी प्रकार दरवेश अपने शरीर की कोई चिन्ता नहीं करता है। मनुष्य जो कुछ भी चाहे उसके प्रति कर सकते हैं।

४२ प्रश्न—एक मनुष्य ने मुझसे कहा—"पाप कम करो।" मैंने उससे पूछा—"इसका क्या तात्पर्य है—कम पाप (कम आज़ार)।" उसने उत्तर दिया—"पाप का अल्पांश (अन्दक आज़ार)"। मैंने कहा—"पाप करना तो

१—इस प्रश्न का सम्बन्ध उच्चतम सूफ़ी-बोध से है। "ब्रह्मास्मि"। इस पर सामान्य सूफ़ी टीका के अनुकूल ही बाबालाल का उत्तर है।

२—इसका ध्यान रखना चाहिये कि इस संवाद में दरवेश तथा फ़क़ीर शब्दों से केवल मुसलमान फ़क़ीरों से अभिप्राय नहीं है; जैसा कि इस स्थल पर उनका उपयोग प्रत्येक धर्म के 'ईश्वर भक्तों' के अर्थ में हुआ है।

पाप करना है। इसका अंश क्या है—इससे कोई वास्ता नहीं।" इस की माप कैसे हो सकती है ?

उत्तर—हम उसको कोई चोट नहीं पहुँचा सकते हैं जो हम से बड़ा या अधिक बली है। जिसमें समान बल है वह प्रतिकार कर सकता है। परन्तु हम उसको कोई चोट न पहुँचायें जो हम से निर्बल है। 'पाप कम करो' इस उपदेश से यही सूचित होता है।

४३ प्रश्न—स्वतन्त्र इच्छा ही ईश्वर है (माबूदेहक़ीक़ी) पुस्तकों में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र इच्छा दी गई है। हम इसको कैसे मानें ?

उत्तर—स्वतन्त्र इच्छा ईश्वर है जिसका प्रभुत्व विशाल है। समस्त अस्तित्व में यह वर्तमान है।

४४ प्रश्न—दोनों दशाओं में हमको कैसे इसका विश्वास हो ?

उत्तर—जब शिशु माता के पेट में होता है, उसमें स्वतन्त्र इच्छा दैवी विधि है जो उसकी रक्षा करती है तथा उसके विकास में उसका पोषण करती है, क्योंकि वहाँ पर उस समय कोई अन्य व्यक्ति होता ही नहीं है। जब शिशु संसार में प्रवेश करता है, उस स्वतन्त्र इच्छा का अर्ध भाग वह है जो प्राणियों के प्रति अपनी उदारता तथा कृपा के कारण माता की छाती में दूध पैदा करती है। (अर्थात् ईश्वर के साथ रहती हैं)। द्वितीय अर्ध भाग शिशु में प्रवेश कर जाता है, क्योंकि जब शिशु रोता है, उसकी माता यह बात जान कर उसको दूध पिलाती है। जब बच्चा बड़ा हो जाता है तथा शरीर की लालसाओं से परिचित हो जाता है और भले कर्मों के करने में अपने को व्यस्त कर देता है, वह स्वयं यह स्वतन्त्र इच्छा हो जाता है क्योंकि ईश्वर भले और बुरे के परे है।

५३ प्रश्न—हृदय का क्या अर्थ है ?

उत्तर—हृदय 'मैं' और 'तुम' कहने के लिये है—अर्थात् द्वैत जो दो (की स्वीकृति) से उत्पन्न होता है। क्योंकि हृदय मन (अर्वा-आत्मा) को प्रत्येक दिशा में भ्रमण कराता है—पिता, माता, भ्राता, वधू, सन्तान की ओर—जिनमें उसकी आसक्ति होती है। हमको जानना चाहिये दो में आसक्ति हृदय के कारण होती है।

५४ प्रश्न—हृदय की आकृति क्या है जिसको हम देख नहीं सकते हैं ?

(सूरते दिल चे अस्त कि दर नज़र न में आयद)

उत्तर—हृदय की आकृति वायु की श्वास की भाँति है।

५५ प्रश्न—हृदय का कर्म क्या है ?

उत्तर—जैसे वायु वृक्षों का उन्मूलन कर देती है यद्यपि वह स्वयं दृष्टिगत

नहीं होती है, उसी प्रकार हृदय ५ इन्द्रियों को विचलित कर देता है। यह हम में है और तब भी हमारे दृष्टिगत नहीं है। इस प्रकार हृदय की आकृति वायु की श्वास की भाँति है।

प्रश्न ५६—हृदय का कर्म क्या है ?

उत्तर—हृदय हमारे मन का दलाल है।

प्रश्न ५७—यह बात हम कैसे जान सकते हैं ?

उत्तर—पाँच इन्द्रियों की दूकान (माध्यम) से यह संसार के आनन्द को प्राप्त करता है तथा इनको मन तक पहुँचाता है तथा मन स्वयं इन आनन्दों के प्रलोभनों में अनुरक्त हो जाता है। इस प्रकार हृदय ग्राहक के लिए दूकान से वस्तुयें प्राप्त करता है तथा अपना शुल्क लेकर अलग हो जाता है। हानि वा लाभ का सम्बन्ध क्रेता या विक्रेता से है। इस प्रकार यह दलाल का आचरण करता है और यही इसका कर्म है।

प्रश्न ६१—फ़क़ीरों की निद्रा किसको कहते हैं ?

उत्तर—निद्रा वह है जो मनुष्य को आती है जिसमें संसार की प्रत्येक इच्छा छूट जाती है तथा मनुष्य "तू" और "मैं" से मुक्त हो जाता है तथा निद्रा में कोई भी सांसारिक वस्तु स्वप्न में भी उसको प्रकट नहीं होती है। फ़क़ीरों की निद्रा को हिन्दी में शायद योगनिद्रा कहते है क्योंकि यह संसार के आवागमन से मुक्त है। यह ही मोक्ष वा मुक्ति है।

प्रश्न ६३—जागरण (बेदारी) क्या है जिसमें पशु, वनस्पति, खनिज पदार्थ आदि (अपने विकास की) चार अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—इसको "विश्व का सम्पूर्ण भ्रमण" (गरदिशे फ़लक़) कहते हैं। विश्व एक पुरुष है जिसका सिर उत्तर है, टाँगें दक्षिण हैं, नेत्र सूर्य तथा चन्द्र हैं, हड्डियाँ पर्वत तथा पत्थर हैं, खाल पृथिवी है, नाड़ी सागर हैं, रक्त समुद्रों तथा झरनों का जल है, झाड़ियाँ तथा जंगल इसके बाल हैं और आकाश इसका श्रोत्र है।

प्रश्न ६४—आकाश एक है, परन्तु श्रोत्र दो हैं—यह क्यों ?

उत्तर—दोनों श्रोत्र एक ही शब्द सुनते हैं।

अध्याय १४

दाराशिकोह तथा समकालीन मुस्लिम सन्त

विभाग १—राजकुमार दारा तथा मुल्लाशाह् बदख़शी

लिसानुल्ला के विशेषण से भी प्रसिद्ध मुल्लाशाह् मुहम्मद बदख़शाँ में रस्तक के समीप अर्कसा के गाँव के क़ाज़ी मुल्ला अब्दमुहम्मद का पुत्र था। लाहौर के महान् सूफ़ी मियाँ मीर की प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर वह १६१४ में भारत आया तथा उसका शिष्य हो गया। मियाँ मीर की मृत्यु के बाद जो ७ रबी प्रथम १०४५ हि० (अगस्त २१, १६३६ ई०) को हुई वह अपने शिष्यों सहित स्थायी निवास के लिये काश्मीर को चला गया। कहा जाता है कि वह ईश्वर के प्रेम से उन्मत्त था तथा उसने शरीयत (शास्त्रीय मार्ग) को त्याग दिया था और मारिफ़त (गूढ़ अध्यात्मवाद) के विकट सागर में प्रवाह कर रहा था। लोग कहते हैं, कि इस सागर ने उसको अविश्वास (कुफ़्) के अन्धकारमय तट पर पहुँचा दिया। कुछ भी हो—परन्तु मियाँ मीर के शिष्यों में कोई भी तपश्चर्या में उसके समान न था, उस समय के किसी विद्वान् को विद्वत्ता में उससे अधिक ख्याति न प्राप्त थी तथा मुल्लाशाह् बदख़शी की अपेक्षा किसी समकालीन लेखक ने शायद एकमात्र दाराशिकोह् को छोड़कर अपनी लेखनी से अध्यात्म ज्ञान के प्रचार के निमित्त अधिक उपयोगी कार्य न किया।[1]

ज्ञानवान तथा गुणसम्पन्न राजकुमार दाराशिकोह् आध्यात्मिक प्रकाश के निमित्त तथा सूफ़ियों के क़ादरिया सम्प्रदाय में यथाविधि दीक्षा के निमित्त उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। मुल्लाशाह् का एक शिष्य तवक्कुल बेग कहता है—"१०५० हि० (१६४० ई०) में जब उसका आगमन काश्मीर में हुआ था राजकुमार बहुत कष्ट सहन कर सन्त को इस पर राजी कर सका कि उसको वह अपना शिष्य बना ले। भक्ति तथा तपश्चर्या के कठोर अभ्यासों द्वारा मुल्लाशाह् को अपना आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त हुआ था, परन्तु अपने शिष्यों

१—जीवन सम्बन्धी वर्णनों के लिये—रिउ II ६९०-९१; बोड० सूची सं० २०१; पूर्वीय-सार्वजनिक पुस्तकालय-सूची पत्र III-१११२। रिउ का पाठ है—मुल्ला अब्दमुहम्मद के स्थान पर मुल्ला इदी तथा अर्कसा के स्थान पर अर्क। देखो—पूर्वीय सार्वजनिक पुस्तकालय सूची III—११२। अत्यन्त समकालीन वृत्तान्त ये हैं—दाराकृत सकीनतुल औलिया; तवक्कुलबेग कृत—मुल्लाशाह की जीवनी। इसके बाद हैं—दबिस्तान् तथा मीरातुल् खियाल (पृ० १९८)। मुल्लाशाह के कुछ ग्रन्थ-तफ़सीरशाह नामक क़ुरान पर एक टीका; रिसालैबिस्मिल्ला; रिसालैशाहिया; कुल्लियात में संग्रहीत गजलें तथा रुबाइयाँ; तथा एक गद्य ग्रन्थ, तज़किराये मारिफ़ान् (देखो पूर्वीय सार्वजनिक पुस्तकालय-सूची III—११३)।

पर प्रार्थना तथा ध्यान का इतना लम्बा अभ्यास क्रम या कठोर अनुशासन वह न लगाता था। तवक्कुल बेग कहता है—"अपने शिष्यों के लिये उसने एक सरलतर तथा अल्पतर मार्ग ढूँढ़ निकाला था जिसमें वह अपनी इच्छाशक्ति तथा व्यक्तित्व का उपयोग कर, जैसा कि कहते हैं, उनकी हृदय-ग्रन्थियों को खोल देता था। ऐसा मालूम होता है कि हृदय-ग्रन्थि खोलने की यह विधि एक प्रकार का कृत्रिम निद्रा में किया हुआ संकेत था। इसके द्वारा नवदीक्षित में प्रथम आवेशात्मक धार्मिकता का उदय होता तथा इसके अनन्तर ब्रह्मात्मैक्य के सिद्धान्त की उसको शिक्षा दी जाती थी। तवक्कुल बेग कहता है कि दारा को "अपने ऊपर प्रयोग करने के निमित्त मुल्लाशाह को राज़ी करने में अत्यन्त कष्टों को सहन करना पड़ा"·······दाराशिकोह की एक बहिन फ़ातिमा[1] ने गुरु से लम्बा पत्र-व्यवहार किया था। उसको सन्त की ओर से दारा ने दीक्षा दी; उसको यथाक्रम आभास प्रकट हुए, उसको ईश्वर से शुद्ध सम्बन्ध तथा स्वाभाविक अध्यात्म दृष्टि प्राप्त हो गई। उसके विषय में मुल्लाशाह ने कहा—"रहस्य ज्ञान में उसने इतना अद्भुत विकास प्राप्त कर लिया है कि वह मेरी प्रतिनिधि होने के योग्य है।" वह इस प्रकार अपने कुछ अनुभवों का वर्णन करती है—"तब मक्का की ओर अपना मुँह करके एक कोने में मैं बैठ गई तथा गुरु के प्रतिबिम्ब पर मैंने अपने सारे मन को केन्द्रित कर दिया और उसी समय अत्यन्त पवित्र रसूल के वैयक्तिक वर्णन का अपनी कल्पना में मैंने ध्यान किया। इस ध्यान में मग्न होकर अपनी आत्मा की उस दशा को मैं प्राप्त हो गई जिसमें मैं न सो रही थी, न जाग रही थी और तब मैंने रसूल तथा उसके चार मित्रों की मण्डली को देखा······ तब मैंने मुल्लाशाह को भी देखा। वह रसूल के पास बैठा हुआ था, उसका सिर उसके पैरों पर था और रसूल ने उससे कहा—'हे, मुल्लाशाह! किस कारण तूने उस तैमूरी को प्रकाश दिया····।" ईश्वर धन्य है जिसने पवित्र गुरु के विशेष ध्यान द्वारा इस दीन स्त्री को पुरस्कार रूप से यह सामर्थ्य दिया है कि वह सम्पूर्ण प्रकार से सर्वशक्तिमान ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर ले जिसकी मुझे सदैव उत्कट इच्छा रही है। जिस किसी को सर्वशक्तिमान परब्रह्म का ज्ञान नहीं है, वह मनुष्य नहीं है। वह उस वर्ग का है जिसके विषय में कहा गया है—"वे पशु हैं और उनसे भी अधिक अज्ञानी।" प्रत्येक मनुष्य जिसको यह सर्वोपरि आनन्द प्राप्त है, वह केवल इसी के कारण

१—यह प्रायः स्पष्ट है कि यह श्री मैकडोनल्ड की भूल है कि एक साधारण प्रशंसात्मक विशेषण फ़ातिमा उज़्ज़मानी (अपने समय की फ़ातिमा) को शाहजहाँ की ज्येष्ठ कन्या राजकुमारी जहाँनारा का उसने नाम समझ लिया। (इस्लाम में धार्मिक वृत्ति तथा जीवन—पृ० २०५)।

सर्वोपरि गुण-सम्पन्न तथा प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट हो जाता है, तथा उसका व्यक्तिगत अस्तित्व परम अस्तित्व में लीन हो जाता है। वह सागर में एक बूँद की भाँति हो जाता है, सूर्य के प्रकाश में एक अणुरेणु के समान, समष्टि की तुलना में एक परमाणु के समान। इस दशा को प्राप्त कर वह मृत्यु, भावी दण्ड, सुख (उद्यान) तथा दुख (अग्नि) के परे हो जाता है। चाहे वह मनुष्य हो या स्त्री, वह सर्वदा सर्वोपरि सम्पूर्ण प्राणी है।"[1]

जहाँनारा के अनुभव दाराशिकोह के भी अनुभव रहे होंगे। वे एक ही प्रकार की आत्मायें थीं तथा वे एक ही गुरु के शिष्य थे। परन्तु दारा जहाँनारा से आगे निकल गया। उसने सम्पूर्ण एकत्व के सिद्धान्त को उसकी तर्क-युक्त सीमा तक पहुँचा दिया जिसके द्वारा उसको, साहस हुआ कि वह यह स्पष्ट घोषणा करदे कि वह 'खुदपरस्त' या अपनी आत्मा का उपासक था। दारा के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन पर मुल्लाशाह का बहुत प्रभाव था और गुरु तथा शिष्य परस्पर अत्यन्त प्रीतिमय घनिष्ठता का जीवन व्यतीत करते थे। अपनी पुस्तक हसनत्-उल्-आरिफ़ीन में क़ुरान के पद्यों के पीर द्वारा विद्वत्तापूर्ण व्याख्याओं के विषय में राजकुमार बहुत कुछ कहता है—"हे मनुष्यो! जिनको विश्वास है। यदि तुम मत्त हो तो प्रार्थना के निकट न जाओ" (क़ुरान ४–४३) टीका—'यदि मत्तता लौकिक है, तो प्रार्थना का निषेध है कि वह प्रार्थना दूषित न हो जाये, यह निषेध प्रार्थना के प्रति सम्मान के कारण है। यदि मत्तता परम अस्तित्व की है, तो प्रार्थना के समीप जाने का निषेध है और यह मत्तता के प्रति सम्मान के कारण है।[2] इसी प्रकार मुल्लाशाह ने जो व्याख्या 'विश्वासी' तथा 'अविश्वासी' शब्दों की की है वह एकसाथ जटिल तथा उदार है। वह कहता है कि "सच्चा विश्वासी वह अविश्वासी है जो ईश्वर को प्राप्त हो गया है, जिसने उसका दर्शन किया है तथा जिसको उसका ज्ञान है। अविश्वासी वह विश्वासी (ईमानदार) है जो ईश्वर को नहीं प्राप्त है, जिसने उसका दर्शन नहीं किया है तथा जिसको उसका ज्ञान नहीं है।" यह भी उन लोगों के लिये एक हास्य-कारक तथा मार्मिक ताड़ना है जो अपने जन्म के कारण या धर्म के स्वीकार वचनों (कलमा) की आवृत्ति के कारण अपने लिये 'विश्वासी' का नाम सगर्व ग्रहण कर लेते हैं।

मुल्लाशाह की ज्ञान-दृष्टि विस्तीर्ण थी, यही नहीं; किन्तु वह मानव-प्रेमी प्रवृत्तियों का तथा विशाल कल्पना का सर्वेश्वरवादी था। अस्थिर राजकुमार

१—पूर्ववत् पृ० २०५।

२—हसनतुल् आरिफीन-फ़ारसी पाठ्य-पृ० २१-२४; पृ० ३१-३२।

की शिष्यवत् निष्ठा अन्त तक उस पर बनी रही। दारा को नवीनता के प्रति आकर्षण था तथा कुछ अन्य सन्तों से भी उसका उतना ही प्रगाढ़ परिचय था। अपनी अन्तिम साहित्यिक कृति सिर्रे-असरार—अर्थात् उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद की भूमिका में दारा अपने गुरु के प्रति अपने ऋण को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करता है जिससे उसको यह प्रेरणा प्राप्त हुई थी कि वह अन-इस्लामी शास्त्र ग्रन्थों में तौहीद (एकत्व) के सिद्धान्त की खोज करे।

निस्सन्देह दारा तथा मुल्लाशाह में परस्पर बहुत पत्र-व्यवहार हुआ, परन्तु उसमें से हमको केवल दो पत्र प्राप्त हुए हैं[1]—एक पत्र दारा का अपने पीर को लिखा हुआ है जब उसको शाह-बुलन्द-इक़बाल की उपाधि प्राप्त हुई थी, द्वितीय पत्र मुल्लाशाह का लिखा हुआ है जिसमें राजकुमार को आध्यात्मिक विषयों में कुछ निर्देश दिये गये हैं। मुल्लाशाह लिखता है—"ईश्वर उसको साक्षात्कार का परम आनन्द प्रदान करे। ज्ञानियों के हृदय का दीपक शत्रुओं की श्वास से सुरक्षित रहे। आपने सुना होगा कि बाह्य मनुष्यों से रहस्य को गुप्त रखना चाहिये—अतः उनको गुप्त रखो। यह आप जानते होंगे कि उन लोगों की मण्डली में जिन पर ईश्वर की दया कम है, अपने को कम ही ज्ञान-प्रेरित प्रतीत होना चाहिये। अतः अति उत्साह न दिखाओ। यह आपसे छिपा नहीं है कि किसी कार्य को सम्पूर्ण पूर्णता तक पहुँचाने में मनुष्य को कष्ट सहन करना होता है—अतः आप पूरा परिश्रम करें। जो मनुष्य अपने कार्य में दत्त-चित्त रहता है, वह निश्चय ही (ईश्वर का) भक्त है तथा जो भक्त है वह साक्षात्कार के परमानन्द रूपी आशीर्वाद का पात्र है। सम्पूर्ण मनुष्य (इन्साने-कामिल) वह है जिसकी कोई भी निन्दा नहीं करता है—चाहे जन साधारण, चाहे अन्तरङ्ग और अति अन्तरंग मण्डल के घनिष्ठ मित्र; अर्थात् (सम्पूर्ण मनुष्य वह है) जो किसी भी कार्य का करना नहीं भूलता है—उसका विधान चाहे शरीयत (इस्लामी सिद्धान्त) ने किया हो, तरीक़त (रहस्यात्मक इस्लाम के मार्ग) ने या हक़ीक़त (सत्य) ने। सर्वप्रथम ईश्वर का ज्ञान (मारिफ़त) है जो सुसंगति का प्रभाव (असर) है। द्वितीय स्थान पर चित्त की एकाग्रता है जो आत्म-नियन्त्रण का फल है। तथा तृतीय स्थान पर शरीयत है जिसका अर्थ है जन साधारण के प्रति ढर्रे के अनुसार आचरण करना। अन्दर से हमारा प्रत्येक कर्म हक़ीक़त (सत्य) के अनुरूप होना चाहिये, तथा बाह्य रूप से हमारे सब कर्म जन साधारण

१—यद्यपि मुल्लाशाह के दो पत्र पृ० २३-२४ तथा पृ० ३१-३२ पर मुद्रित हैं, वे एक ही पत्र प्रतीत होते हैं; परन्तु चूँकि पाठ में बहुत भेद है, हमने दोनों पत्रों का पाठ्य दे दिया है जो हमको विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से प्राप्त हुआ है।

के कर्मों के सदृश होने चाहिये। उनसे प्रेम करो जो सदृश विचार रखते हों तथा उनसे दूर रहो जो दम्भी हैं।"

ऊपर दिया हुआ पत्र दारा के चरित्र की कुछ त्रुटियों पर कठोर टीका है। लोगों के चरित्र तथा योग्यता की ओर बिना ध्यान दिये हुए दारा अविवेकी होकर महान् आध्यात्मिक भेदों तथा व्यवहारों को अपने पाठकों तथा नवदीक्षितों के निमित्त प्रकाशित कर देता था। उसको यह गर्व है कि बिना किसी प्रकार की अस्पष्टता के वह उन वस्तुओं का वर्णन कर रहा है जिनको पूर्व सन्त केवल जटिल संकेतों द्वारा प्रकट करते थे। भेदों को गुप्त रखने की यह अक्षमता, यह अविवेकी निष्कपटता दारा के चरित्र की घोर त्रुटि थी। ईश्वर-भक्ति में सर्वथा लीन होने पर भी मुल्लाशाह संसार की कठोर वास्तविकताओं के प्रति उदासीन न था तथा उनकी ओर वह अपने कम व्यवहारकुशल शिष्य का ध्यान आकृष्ट करता है। शरीयत् का अर्थ उसके अनुसार अनुकूलता है—मनुष्यमात्र के (व्यवहारों के) प्रति, न केवल इस्लाम के। अकबर की धर्म-नीति (सुलह-कुल-सर्वेभ्यः शान्तिः) के मुख्य सिद्धान्त का भिन्न रूप से यह पुनः कथन है। मुल्लाशाह के प्रभाव तथा उपदेश का यह फल हुआ कि अधिक प्रकट रूप से इस्लामी शरीयत् की अवज्ञा करने में दारा को कुछ संयम करना पड़ा। तब भी दारा के पक्षपाती होने के कारण सन्त को काश्मीर से बुलाया गया कि औरंगज़ेब के सम्मुख उपस्थित होकर वह उन आरोपों का उत्तर दे जो उस समय के कुछ अनुदार शास्त्रवेत्ताओं ने उसके विरुद्ध उपस्थित किये थे। "वह बहुत अनिच्छा से लाहौर गया तथा वहाँ पर अपनी मृत्युपर्यन्त भय तथा कठोर कष्ट में अपना जीवन व्यतीत किया, परन्तु समस्त समय ईश्वर को धन्यवाद देता रहा कि उसका जीवन उस दरिद्रता में समाप्त हुआ जिसमें उसका आरम्भ हुआ था।"[१] यहाँ पर १६६१ में उसका देहान्त हो गया तथा वह अपने गुरु मियाँ मीर के निकट दफ़न कर दिया गया।

विभाग २—दाराशिकोह तथा शेख मुहीबुल्ला इलाहाबादी

दाराशिकोह के समकालीन व्यक्तियों में शायद सब से बड़ा मौलिक तथा साहसी विचारक और लेखक सूफ़ी शेख़ मुहीबुल्ला इलाहाबादी था। शेख़ का सर्वप्रथम उल्लेख मीरात्-उल्-ख़ियाल में मिल सकता है। इस पुस्तक का लेखक अली अहमदख़ाँ लोदी[२] का पुत्र शेरख़ाँ लोदी है जो औरंगज़ेब के शासन-

१—आजमकृत तारीखे काश्मीरी १२१ अ-१२२। औरंगज़ेब का इतिहास III पृ० ६४-६५।

२—फ़ारसी हस्तलिखित पुस्तकों का बोडलियन पुस्तकालय में सूची-पत्र-I-२०७। परन्तु

काल में जीवित था। शेख़ ने अरबी में सूफ़ीवाद पर एक अत्यन्त कठिन पुस्तक 'तस्वीद' नामक लिखी जिसमें तर्क द्वारा उसने यह सिद्ध किया कि रसूल मुहम्मद का जबराईल स्वयं मुहम्मद के अन्दर था। इसी प्रकार प्रत्येक रसूल का जबराईल उसी के अन्दर था। जबराईल एक पंख वाला फ़रिश्ता (दिव्यात्मा) नहीं है, परन्तु एक गुप्त आध्यात्मिक शक्ति है (कुव्वते-बातिन)। जब इस शक्ति द्वारा रसूल-गण अभिभूत हो जाते थे, वे 'वही' अर्थात् दिव्य प्रकाश प्राप्त कर लेते थे।

इलाहाबाद के अनुपस्थित महाराज्यपाल (सूबेदार) के पद पर अपनी नियुक्ति (१६४५ ई०) के शीघ्र पश्चात् दारा ने शेख़ को एक पत्र लिखा। इसमें वह कहता है कि इलाहाबाद का सूबा उसको विशेष रूप से स्वीकार के योग्य प्रतीत होता है, क्योंकि उस महात्मा का वास उसके शासन-क्षेत्र के अन्तर्गत था। उसी पत्र में दारा ने शेख़ से प्रार्थना की कि सूफ़ीवाद पर उसके १६ प्रश्नों का उत्तर वह सविस्तार भेजने का कष्ट करे।[1] उत्तर में शेख ने एक बहुत लम्बा पत्र लिखा जिसमें उसने सब प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया कि राजकुमार सर्वथा सन्तुष्ट हो गया। दारा ने एक दूसरा पत्र लिखा जिसमें उसने शेख़ को यह कष्ट करने पर धन्यवाद दिया तथा शेख़ से विचार-विनिमय की अपनी इच्छा प्रकट की यदि उस दिशा से (अर्थात्—शेख़ से) उसको कुछ प्रोत्साहन प्राप्त हो।

मीरात्-उल्-ख़ियाल का लेखक कहता है कि जब मुहीबुल्ला की पुस्तक औरंगज़ेब के देखने में आई, उसने इसकी कठोर निन्दा की, क्योंकि इस पुस्तक में जबराईल के विषय में उपरिवर्णित धारणा के अतिरिक्त इसमें बहुत-सी अन्य जटिल तथा संदिग्धार्थ बातें थीं जिनका समझना कठिन था और जो शरीयत के विरुद्ध पड़ती थीं। मृत्यु ने इस समय शेख़ को औरंगज़ेब के प्रतिशोध की सीमा के बाहर पहुँचा दिया था। अन्त में शेख़ के दो शिष्यों का पता चल गया जो एकान्त वास में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। तब औरंगज़ेब ने उनको कहलाया कि वे अपने गुरु की पुस्तक के अर्थ को स्पष्ट करें, तथा इस्लाम के सिद्धान्तों से उसके विचारों का सामञ्जस्य करें या यदि वह ऐसा करने में असमर्थ हों तो उस पुस्तक को जला डालें। शेख़ के शिष्यों ने औरंगज़ेब को उत्तर दिया कि यदि सम्राट् की यही इच्छा है कि तस्वीद नामक पुस्तक भस्म करदी

उम्दतुल्-अख़्बार मुद्रणालय द्वारा ८४८ में प्रकाशित मीरात्-उल्-ख़ियाल में शेरखाँ के पिता का नाम अली अहमदखाँ दिया हुआ है।

१—शेख मुहीबुल्ला को दारा का पत्र दाराशिकोह में खण्ड II फ़ारसी पाठ्य १-२, शेख का उत्तर—पूर्ववत् पृ० ३-८। द्वितीय पत्र पृ० ८-१०।

जाये तो राजकीय पाक-शाला में उसको भस्म करने के लिये पर्याप्त अग्नि उपलब्ध है।[1]

विभाग ३—दाराशिकोह तथा शाह दिलरुबा

शाह दिलरुबा को लिखे हुए दारा के ६ पत्र[2] फ़ैय्याज़-उल्-क़वानीन नामक पत्र-संग्रह में उपस्थित हैं। सन्त तथा दाराशिकोह के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में हमारी जानकारी केवल उन्हीं पर निर्भर है। दारा ने इन पत्रों को उन पत्रों के उत्तर में लिखा था जो उसको उस सन्त से प्राप्त हुए थे। ये सन्त के पत्र शायद सर्वदा के लिये दुर्भाग्यवश नष्ट हो गये हैं। चूँकि इन पत्रों पर कोई तिथि अंकित नहीं है, यह कहना बहुत कठिन है कि शाह दिलरुबा से पत्र-व्यवहार द्वारा ठीक कब दारा का सम्पर्क हुआ। अपने प्रथम पत्र में दारा लिखता है—"जहाँ कहीं भी आगरा में या लाहौर में मैं होता हूँ, मेरा हृदय तुम्हारे हृदय से सदैव बँधा रहता है।" एक पत्र में दारा शेख़ को दरबार में आने का निमन्त्रण देता है, परन्तु सम्भवतया शेख़ कभी दारा से न मिला। एक दूसरे पत्र में राजकुमार लिखता है कि वह उससे मिलने के लिये बहुत उत्सुक है तथा यदि उससे यह हो सकता तो अपने सिर को पग बनाकर वह उसके स्थान को यात्रा करता (सर रा क़दम साख़्ता)।[3]

विभाग ४—दाराशिकोह तथा शेख़ मुहसिन फ़ानी

"रहस्यवाद के जटिल मार्ग का यात्री" शेख़ मुहसिन फ़ानी, मीरात्-उल-ख़ियाल के लेखक के अनुसार काश्मीर का निवासी था। वह सुसंस्कृत, समृद्ध तथा सुशिष्ट था। शाहजहाँ के शासन-काल में वह कुछ समय के लिये इलाहाबाद का सदर (नागरिक न्यायाधीश) रहा था। कहा जाता है कि जब जुलाई १६४६ में मुरादबख़्श ने नज़र मुहम्मदख़ाँ की राजधानी बलख़ पर अधिकार

१—मीरात्-उल्-ख़ियाल—फ़ारसी पाठ्य पृ० २२८-२९।

२—दिलरुबा को दारा—फ़ारसी पाठ्य पृ० १०-२०।

३—दिलरुबा को दारा, पत्र नं० २, फ़ारसी पाठ्य। ऐसा मालूम होता है कि मुल्ला शाह बदख़शी का शिष्य (मुरीद) हो जाने के बाद दारा ने शिष्य की हार्दिक नम्रता से अपना सम्पर्क शाह दिलरुबा से स्थापित किया। अन्तिम पत्र नं० ६ के कुछ स्थलों से यह सिद्ध होता है, जिनमें राजकुमार कहता है कि कुछ बातों को स्पष्टीकरण के निमित्त उसने अपने पीर दस्तगीर (आश्रयदाता गुरु) को भेज दिया है, जिससे उसका अभिप्राय मुल्लाशाह से है। वह सन्त से यह भी प्रार्थना करता है कि अपना वंश-वृक्ष (शिजरा) वह एक पत्र में बन्द कर उसके पास भेज दे। अपनी पुस्तक हसनतुल् आरिफ़ीन में दारा शाह दिलरुबा का उल्लेख करता है। चूँकि यह पुस्तक १६५६ के लगभग लिखी गई थी, उस तिथि के बहुत ही पहले उनका परस्पर परिचय हो गया होगा।

कर लिया, तो नज़रमुहम्मदखाँ के पुस्तकालय में अन्य वस्तुओं के साथ-साथ दीवाने मुहसिन फ़ानी की एक प्रति प्राप्त हुई जो नज़र मुहम्मद की प्रशंसा में लिखी गई थी। इस कारण से सम्राट् शाहजहाँ को मुहसिन फ़ानी पर क्रोध हुआ और उसने उसको सदर के पद से वंचित कर दिया। यद्यपि उसकी आजीविका के निमित्त उसको पर्याप्त वार्षिक वृत्ति दे दी गई। उस समय से वह काश्मीर में रहने लगा तथा शीघ्र ही उच्च ख्यातिप्राप्त धर्म गुरु प्रसिद्ध हो गया। एक बाग़ के बीच में उसने एक चतुष्कोण भवन का निर्माण किया जिसके पास एक पक्का हौज़ था। वह भवन भी इस कारण से हौज़-खाना के नाम से प्रसिद्ध हो गया। दो पहर को शेख़ वहाँ बैठता था तथा उसके शिष्य एक-एक करके शिक्षा निमित्त उसके पास जाते थे। शेख़ की प्रसिद्धि के कारण नाज़ी नामक एक अनुतापदग्ध वेश्या उसकी मण्डली में आकृष्ट होकर सम्मिलित हो गई। वह काश्मीर में भी अपने सौन्दर्य में अद्वितीय थी। अवश्यंभावी घटना घटित हो गई तथा शेख़ नाज़ी के प्रेम-पाश में जटिलता से आबद्ध हो गया। कहा जाता है कि काश्मीर का सूबेदार जाफ़रखाँ भी नाज़ी पर आसक्त था। परन्तु उसके प्रेम प्रस्तावों से नाज़ी को घृणा थी तथा उसने उसके बहुमूल्य पुरस्कारों को ठुकरा दिया। जाफ़रखाँ ने प्रत्युपकार में कुछ पद्य लिखे जिनके द्वारा अति अश्लील भाषा में उसने इस निन्दा को प्रकट कर दिया। इस निन्दा को कुछ क्षमा याचना के बाद मीरात्-उल्-खियाल के लेखक ने अपनी पुस्तक में उद्धृत कर दिया है।

काश्मीर में राजकुमार के एक अभ्यागमन के अवसर पर शायद दारा तथा मुहसिन फ़ानी में मित्रता हो गई। इस विषय में कि मुहसिन फ़ानी दारा का समकालीन तथा उसका मित्र था, इस समय तक केवल एक प्रमाण प्राप्य है और वह है दारा का मुहसिन फ़ानी के नाम का एक पत्र[१] तथा इसके प्रति फ़ानी का उत्तर। मीरात्-उल्-खियाल के लेखक के अनुसार[२] मुहसिन फ़ानी का देहान्त काश्मीर में १६७१ ई० (१०८१ हि०) में हुआ जब दारा की हत्या के बाद लगभग १० वर्ष व्यतीत हो गये थे। यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रसिद्ध पुस्तक दबिस्तानुल मज़ाहिब[३] साधारणतया मुहसिन फ़ानी की लिखी

१—दारा तथा मुहसिन फ़ानी में पत्र-व्यवहार के लिये—फ़ारसी पाठ्य पृ० ३०-३१, तथा पृ० ३२-३३।

२—मीरात्-उल-खियाल (लिथो मुद्रण—१८४८, उमदतुल् अख़बार, मुंशी लक्ष्मण प्रसाद) पृ० १७६-१८०।

३—डा० रिउ कहता है—"साधारणतया यह पुस्तक (दबिस्तानुल मज़ाहिब) मुहसिन फ़ानी कृत मानी जाती है, परन्तु उसका नाम कुछ ही प्रतियों में पाया जाता है और वह इस

हुई मानी जाती है, परन्तु मीरात्-उल्-ख़ियाल में यह कहीं पर वर्णन नहीं है कि वह पुस्तक फ़ानी द्वारा लिखी गई है। इससे शायद यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि मुहसिनफ़ानी तथा दबिस्तान का लेखक दोनों एक ही और वही व्यक्ति न थे यद्यपि वे दोनों दाराशिकोह के समकालीन तथा मित्र थे। दबिस्तान का लेखक रहस्यवाद पर कई बार प्रमाण के रूप में दारा को उद्धृत करता है। सम्भवतः उसने अपने ग्रन्थ को १६५८ ई० के पूर्व सम्पादित किया था क्योंकि उस वर्ष के बाद की किसी घटना का उल्लेख उस पुस्तक में नहीं है—(जैसे कि दारा की सत्ता का ह्रास तथा सरमद का वध)। जब कि स्थिति इस प्रकार है तो यदि फ़ानी ने कोई ऐसा ग्रन्थ लिखा होता तो फ़ानी के ग्रन्थों में दबिस्तान का सम्मिलित करना मीरात्-उल्-ख़ियाल का लेखक कठिनता से ही भूल सकता था।

विभाग ५—दाराशिकोह तथा रहस्यवादी सरमद

सरमद शायद एक यहूदी का साहित्यिक कल्पित नाम है, जिसका मूल नाम हम नहीं जानते हैं। इस्लाम में अपने धर्म-परिवर्तन के बाद उसको मुहम्मद सईद का नाम दिया गया था। सरमद की जातीयता तथा उसके माता-पिता के नाम के विषय में लेखकों में मत-भेद है। १६५७ ई० के लगभग लिखित ग्रन्थ दबिस्तान-उल्-मज़ाहिब का लेखक कहता है कि सरमद यहूदी था। औरंगज़ेब के शासन-काल में लिखित ग्रन्थ मीरात्-उल्-ख़ियाल का लेखक विश्वासपूर्वक

प्रकार कि ग्रन्थ के आरम्भ में उद्धरित रुबाई का वह लेखक है। (अनुवाद I पृ० ३)। लेखक के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उन तथ्यों तक सीमित है जो उसकी पुस्तक के कुछ स्थलों से एकत्र किये गये हैं। इनमें प्रसंगवश वह अपना उल्लेख करता है। इनसे यह प्रकट होता है कि पारसियों की एक शाखा सिपाहियों के धर्म में उसका पालन-पोषण हुआ था। पारसियों की इस शाखा को आबादी भी कहते हैं।

"सम्भवतः इस ग्रन्थ का सम्पादन १०६३ हि० के शीघ्र पश्चात् तथा १०६८ हि० के निस्सन्देह पूर्व हुआ था क्योंकि इसके अन्तिम अध्याय २० खण्ड III पृ० २८५ से प्रकट है कि दारा अपनी सत्ता के शिखर पर है। यद्यपि लेखक का नाम कहीं पर स्पष्ट नहीं दिया हुआ है, यह असम्भव नहीं है कि मुबाद का नाम जो कुछ पद्यों के सम्बन्ध में आता है, उसका तखल्लुस या कवित्कृत अपना उपनाम हो। वास्तव में हमारी एक प्रति में लेखक के रूप में मुबादशाह का नाम दिया हुआ है।" (ब्रिटिश संग्रहालय में फ़ारसी हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची I १४१–१४२)

हम केवल यह टिप्पणी कर सकते हैं कि डा० रिउ का यह विश्वास शायद पूर्णतया न्याय-संगत नहीं है कि दबिस्तान का लेखक पारसी था—क्योंकि एक स्थल पर लेखक कहता है कि उसने मक्का की यात्रा की जहाँ पर झूठे रसूल मुसैलामा के एक अनुयायी से उसकी भेंट हुई तथा उस मनुष्य ने उससे कहा कि मुसैलामा की समाधि की भी वह यात्रा करे। एक पारसी मक्का की यात्रा क्यों करेगा ?

कहता है कि सरमद मूलतः योरुप (फ़रंगिस्तान) में स्थित आरमीनिया का निवासी था। परन्तु उसका प्रमाण क्या है—यह हम नहीं जानते हैं। सम्राट् मुहम्मदशाह के समय में लिखित रियाज़-उश-शौरा का लेखक वलीह दाग़िस्तानी कहता है कि उसकी जन्मभूमि काशान थी। यद्यपि सरमद आरमीनिया का निवासी भी हो, वह आरमीनिया के सम्प्रदाय का ईसाई न था—क्योंकि दबिस्तान का लेखक कहता है कि यहूदी धर्म की अपनी जानकारी उसने मुहम्मद सईद सरमद से प्राप्त की थी जिससे वह हैदराबाद सिन्ध में १०५७ हि० (१६४७ ई०) में मिला था। "मूलतः यहूदियों के एक विद्वान् वंश में वह उत्पन्न हुआ था जो रिब्बानी नामक सम्प्रदाय का अवलम्बी था तथा जो यहूदी धर्म के सिद्धान्तों को जान लेने के बाद और तौरीत का अध्ययन कर लेने के बाद मुसलमान हो गया था।"[1]

मुहम्मद सईद ने अपना जीवन व्यापारी होकर प्रारम्भ किया तथा ठट्टा (सिन्ध) को व्यापार के निमित्त आया। परन्तु वहाँ पर अभयचन्द नामक एक बणिकपुत्र से उसका इतना घोर प्रेम हो गया कि वह अपना मानसिक संतुलन सर्वथा खो बैठा। सरमद ने बहुत तत्परता से बालक का प्रेम प्राप्त कर लिया तथा उसको एक देवता का रूप दे दिया। अपने एक पद्य में वह कहता है—"मैं नहीं जानता हूँ कि इस दुनिया में मेरा ईश्वर अभयचन्द है वा अन्य और कोई (खुदाये मन अभयचन्दास्त या दीगर)। अभयचन्द भी उस पर इतना आसक्त हो गया कि वह उससे अलग जीवन का सहन न कर सका। कुछ समय के बाद सरमद तथा अभयचन्द ने ठट्टा छोड़ दिया तथा वे अपने भ्रमण में गोलकुण्डा के अब्दुल्ला क़ुत्बशाह के दरबार में पहुँचे। वहाँ पर हताश होकर शाहजहाँ के शासन-काल की समाप्ति के लगभग वे दिल्ली पहुँचे तथा वहाँ पर राजकुमार दाराशिकोह की भक्ति तथा उसका आश्रय प्राप्त कर वे वहाँ रहने लगे। मीरात्-उल्-ख़ियाल का लेखक कहता है—"चूँकि राजकुमार दाराशिकोह को उन्मत्त लोगों (मजनीन) की संगति पसन्द थी, वह उसकी (सरमद की) संगति में आ गया तथा उसने बहुत समय तक उसके संवादों का आनन्द प्राप्त किया।"[2]

परन्तु जीवन का एक धरातल ऐसा भी है जहाँ पर पहुँच कर सरमद सदृश सन्त, जिनको लौकिक बुद्धि के लोग पागल कहते हैं, जन साधारण के सम्बन्ध में उससे अच्छी कोई सम्मति नहीं रखते हैं तथा बुद्धिमान (दानिश्मन्दान्)

१—दबिस्तान पाठ्य-फ़ो—२४७६।

२—मीरात्-उल्-खियाल—पृ० १०४।

कहलाने से घृणा करते हैं। दारा उस समय भी शास्त्र-विद्या-वाद के पाश में ग्रस्त था जब उसने इस महान् सन्त के दर्शन किये जो इसके पूर्व ही पर्याप्त विद्या प्राप्त कर चुका था तथा जिसने ईश्वर के मार्ग में इसको अनर्थक समझ कर इसका परित्याग कर दिया था। दारा सरमद को लिखता है—"हे स्वामि (पीर उ मुर्शिदे मन), प्रतिदिन यह विनम्र आत्मा आपके पास पहुँचने की इच्छा करता है, परन्तु सफल नहीं हो सका है। यदि 'मैं मैं हूँ' (अगर मन मन म) तो मेरे संकल्प की यह निरर्थकता कैसी ? और यदि मैं मैं नहीं हूँ, तो मेरा अपराध कहाँ और क्या है ? यदि इमाम हुसैन की हत्या ईश्वर की इच्छा थी, तो यज़ीद क्यों बीच में आ जाता है ? और यदि ईश्वर की इच्छा ऐसी न थी, तो इसकी व्याख्या क्या है ? रसूल एक समय काफ़िरों (अविश्वासियों) से युद्ध करने जाता है तथा इस्लाम की सेना को पराजय का मुख देखना होता है। अधिकृत इस्लाम की विद्वन्मण्डली (उल्माये-ज़ाहिरी) कहती है कि यह 'धैर्य का पाठ है' (तालीमे सब्र)। परन्तु उस मनुष्य को शिक्षा (तालीम) की क्या आवश्यकता है जिसने (आध्यात्मिक उन्नति की) पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया है ?"

सन्त ने एक वाक्य में उत्तर दिया कि उसने उन समस्त विद्याओं को शान्त कर दिया है जिनका अध्ययन उसने कभी किया था। कहा जाता है कि इस्लाम के कल्मे के नकारात्मक भाग का ही उच्चारण सरमद करता था—अर्थात् 'लाइल्ला' (कोई उपास्य देव नहीं हैं)। यदि कोई उससे इसका कारण पूछता, वह कहता—"मैं न-कार ही में मग्न हूँ; अभी मैं निश्चय को नहीं पहुँचा हूँ। मैं झूठ क्यों बोलूँ ?" वास्तव में सरमद अनीश्वर-वादी न था, परन्तु वह सर्वेश्वरवादी था। परन्तु चूँकि कट्टर पन्थियों की निगाह में दोनों समरूप से निन्दनीय हैं, मुल्ला लोग केवल एक सुअवसर की प्रतीक्षा में थे जब वे सन्त से अपना बदला चुका सकें।

दिल्ली के नागरिकों पर सरमद का असीम प्रभाव था। अतः इस कारण से दारा की हत्या के बाद औरंगज़ेब उसको राजनैतिक रूप से विपत्तिकारक समझता था। इसके अतिरिक्त दरबार के धर्म-विशेषज्ञों ने धर्म-भ्रष्ट होने का तथा इस्लाम के आदेशों के उल्लंघन का आरोप उस पर लगाया। सरमद को यह विकल्प दिया गया कि या तो वह अपनी नग्नावस्था का त्याग करदे या प्राण-दण्ड ग्रहण करे। सन्त ने द्वितीय विकल्प का वरण किया तथा सच्चे शहीद की मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसने वधिक का तथा उसकी नंगी तलवार का मुसकराकर स्वागत किया और धैर्यपूर्वक अपने सिर को वध-पट्टिका पर रख दिया। कहा जाता है कि जब वधिक की तलवार उसके पवित्र सिर पर गिरने वाली ही थी, उसने निम्नलिखित पद्य का उच्चारण किया :—कुछ कोलाहल

हुआ तथा हमने शाश्वत निद्रा से अपने नेत्र खोल दिये। हमने देखा कि अत्याचार की रात्रि अब भी शेष है और हम फिर सो गये।

धर्म भ्रष्ट होने के आरोप पर सरमद ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये और जन साधारण ने उसकी हत्या के पश्चात् उसको सन्त (दिव्यात्मा) घोषित कर दिया। कहा जाता है कि दारा के सिर की भाँति उसके कटे हुए सिर ने सम्पूर्ण कल्मा का उच्चारण किया। इस अलौकिक कर्म का उल्लेख खलीफ़ा इब्राहीम बदख़शी के प्रमाण पर बलीह दाग़िस्तानी करता है। खलीफ़ा ने शायद इस उच्चारण को स्वयं अपने कानों से सुना था। सरमद की समाधि आज तक जन साधारण की पूजा का स्थान है। यह दिल्ली की जामा मस्जिद के पूर्व में सड़क के दूसरी ओर है।[1]

अध्याय १५

दाराशिकोह का चरित्र

विभाग १—दारा तथा औरंगज़ेब के चरित्र में विरोध

"दारा............का रहन-सहन ठाठ-बाट का तथा आकृति सुन्दर थी। वार्तालाप में वह प्रसन्नमुख तथा शिष्ट रहता था, भाषण में वह तत्पर तथा मधुर था, वह अत्युदार, कृपालु तथा दयावान् था, परन्तु अपने विषय में अपनी सम्मति में अत्यात्मविश्वासी था, वह समस्त विषयों में अपने को समर्थ समझता था जिसको किसी परामर्शक की आवश्यकता न थी। इस कारण से उसके घनिष्टतम मित्रों को कभी यह साहस न होता था कि अति महत्वशाली वस्तुओं की सूचना उसको दे सकें। तब भी उसके मनोरथों को जान लेना सरल था।"[2] दारा के चरित्र पर ये ऊपर के शब्द उसके मित्र मनुची की लेखनी के हैं और वे

१—इस विभाग के अधिकांश भाग का आधार सरमद पर मौलवी अब्दुल अली का लेख है। यह ज० ए० सु० व० (१६२४) के पृ० १११ तथा अगले पृष्ठों में प्रकाशित हो गया है। सरमद के जीवन पर अन्य उल्लेखों के लिये देखो औरंगज़ेब का इतिहास III पृ० ९५ पद-टिप्पणी।

'इस्लामिक कलचर' अक्तूबर १९३३ पृ० ६६३–६७२ पर श्री० बी० ए० हाशिमी ने हाल में एक विद्वतापूर्ण लेख प्रकाशित किया है। उसका पक्ष है कि सरमद के स्वदेश त्यागी पूर्वज योरुप के यहूदी थे जो आरमीनिया में आकर बस गये थे और यह कि भारत में आने के पहले सरमद काशान में रहता था।

२—कहावतें I २२१।

निम्न शब्दों से प्रायः सत्य प्रमाणित होते हैं जो उसके प्रति कम सहानुभूति रखने वाले बर्नें के हैं—"दारा के चरित्र में सद्गुणों का अभाव न था, वार्तालाप में वह सुशिष्ट था, प्रत्युत्तर में अविलम्ब, वह नम्र तथा अत्युदार था, परन्तु वह अपने सम्बन्ध में बहुत ऊँची राय रखता था, उसको विश्वास था कि अपनी मानसिक शक्तियों के द्वारा वह प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है............। वह क्रोधशील भी था, भर्त्सना देना, फटकारना तथा बड़े उमरावों को भी अपमानित करना—यह उसका स्वभाव था, परन्तु उसका क्रोध प्रायः क्षणिक होता था............।"[१] वास्तव में यह बात सर्वविदित थी कि औरंगज़ेब के मन्द हास्य की अपेक्षा दारा का गर्जन आधा भी भयावह न था।

पूर्व के अध्याय, विशेषकर वे अध्याय जिनका सम्बन्ध उसके राजनैतिक जीवन से है, दारा के चरित्रगत दोषों पर पर्याप्त टीका हैं। उसके गुण उसीके थे, तथा उसके अवगुण, जो मूलतः सद्गुणपरायण थे, दुखद दुर्घटना मात्र थे जिनका कारण विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ थीं। ये अवगुण बहुत ही शोचनीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे वास्तविक सद्गुणों तथा उत्कृष्ट अभिप्रायों से सम्मिश्रित हैं। वे हमको अनुचित रूप से दीर्घकाय मालूम होते हैं क्योंकि दारा राजनीति तथा युद्ध के क्षेत्रों में असफल रहा। किन्तु दारा के चरित्र में कोई ऐसी वस्तु अवश्य थी जिसने उसकी निर्बलताओं तथा विवेकहीनता के होते हुए भी उसको केवल उसके दृढ़ शत्रुओं को छोड़कर सर्वप्रिय बना दिया था। दारा की हत्या के बहुत बाद जब मनुची बिहार में भ्रमण कर रहा था उसको पटना में अबुल क़ासिम नामक एक व्यक्ति मिला तथा जब वे मन्द भाग्य राजकुमार की गति पर वार्तालाप करने लगे, अबुल क़ासिम ने अपना हार्दिक दुःख इस बात पर प्रकट किया कि राजकुमार के प्रति अपने प्रेम तथा अपनी निष्ठा को प्रकट करने का उसको कोई अवसर न मिला यद्यपि दारा ने उसके प्रति कुछ अत्याचार तथा अन्याय किया था।

राजकुमार दाराशिकोह को इतिहास में प्रायः असफल कहा जाता है। यह शायद दारा के प्रति अन्याय है तथा इतिहास की आधुनिक धारणा के प्रति यह अपमान है। मनुष्यमात्र का जो समस्त कल्याण किसी मनुष्य के द्वारा हुआ है, वही उस मनुष्य का मूल्याङ्कन करने के लिये, इतिहास का मापदण्ड है। इस मापदण्ड के अनुसार औरंगज़ेब का अर्धशताब्दी का निष्फल शासन भारतीय इतिहास में सर्वोपरि प्रमुख असफलता है। अपनी असफलता का अपने ही शरीर द्वारा दारा ने प्रायश्चित्त कर लिया जब कि औरंगज़ेब की सफलता से एक

१—कॉन्स्टेबलकृत बर्नें की यात्रायें—पृ० ६।

समस्त महाद्वीप की राजनैतिक नियति पर कुप्रभाव पड़ा। दारा युद्ध में तथा राज्यकला में असफल सिद्ध हुआ क्योंकि ये उसके जीवन-कार्य के गौण उद्देश्य थे। उसने अपने समय तथा शक्ति के अधिकांश भाग को इस धेय के निमित्त अर्पित कर दिया कि हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के भद्र पुरुषों में शान्ति तथा प्रीति की उन्नति के लिये साहित्यिक प्रचार करे। यह कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं है कि जो कोई भी भारत में धार्मिक शान्ति की समस्या का हल ढूँढने का प्रयास करना चाहता है, उसको इस कार्य का आरम्भ वहाँ से करना है जहाँ दारा ने इसको छोड़ा तथा उसको उसी मार्ग पर चलना है जो दारा ने निश्चित कर दिया है। औरंगज़ेब के दीर्घकालीन शासन से संसार को कोई लाभ नहीं हुआ है, परन्तु बिना दाराशिकोह ऐसे व्यक्ति के हुए, उसकी हानि अवश्य होती।

दारा तथा औरंगज़ेब एक पूर्ण विरोध उपस्थित करते हैं। प्रकृति ने ही उनको सर्वथा भिन्न साँचों में ढाला था। दोनों अपने समकालीन व्यक्तियों से बहुत ऊँचे थे—दारा विचार-क्षेत्र में तथा औरंगज़ेब कार्य-क्षेत्र में। औरंगज़ेब में भी गूढ़वाद का कुछ अंश था, परन्तु वह यह कहावत कभी न भूला—"धार्मिक गूढ़-द्रष्टा-वाद एक वस्तु है, उससे भिन्न वस्तु व्यावहारिक कार्य है।" दारा तथा औरंगज़ेब को इस्लाम में समान श्रद्धा थी—दारा उस धर्म की केवल आत्मा के प्रति निष्ठावान् तथा औरंगज़ेब उस धर्म के अक्षर-अक्षर का भक्त। दोनों का अपना-अपना आदर्शवाद था। दारा का विचार था कि रसूल के धर्म की आत्मा की रक्षा की जाये क्योंकि मुल्लाओं के सिद्धान्तवाद का निष्प्राण भार इस आत्मा का हनन कर रहा था। उसकी महत्वाकांक्षा यह थी कि साधारण इस्लाम के स्थान पर गूढ़द्रष्टाओं के इस्लाम को वह स्थापित कर दे जो मुसलमानों के बुद्धि प्रधान वर्ग की जीवित नैतिक शक्ति बन जाये। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच में वह शान्ति-स्थापक के रूप में प्रकट होता है। उसका कार्य यह था कि अत्यन्त बुद्धि-संगत तथा स्वीकार्य प्रकार से दोनों धर्मों के उच्चतम सत्यों का बोध प्रत्येक जाति को करा दे। औरंगज़ेब युद्धशील इस्लाम-भक्त था जिसको धर्मों के संघर्ष का एकमात्र हल यह प्रतीत होता था कि समस्त संसार को मुसलमान बना दिया जाये। दारा तथा औरंगज़ेब दोनों क्रमशः उन्नति की आत्मा तथा प्रतिक्रिया के मूर्त स्वरूप हैं। चूँकि मध्य युग में अनुदारता तथा प्रतिक्रिया की शक्तियाँ प्रबल थीं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं कि औरंगज़ेब ने दारा पर विजय प्राप्त की। दारा तथा औरंगज़ेब की आत्माओं का यह पारस्परिक संघर्ष इस्लाम में सदैव प्रचलित रहा है। वास्तव में प्रत्येक जाति में तथा संसार में सर्वत्र यह विद्यमान है यद्यपि फल भिन्न-भिन्न होते हैं।

दाराशिकोह के सम्बन्ध में कुछ आधुनिक मुसलमान लेखक भी वही भावनायें

रखते हैं जो औरंगज़ेब अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति रखता था। उसके अनुसार दारा राजनीति में षडयन्त्रकारी था, आध्यात्मिकता के क्षेत्र में वह असफल कपटी था, स्वयं. अनेकेश्वरवादी तथा अनेकश्वरवादियों का मित्र था, वार्तालाप तथा हास्य को छोड़कर किसी काम का न था। यह स्वीकार करते हुए भी कि शुभ कार्यों का श्रेय दारा न प्राप्त कर सका, तथा प्रत्येक आक्षेप का वह अपराधी था जो उसके विरुद्ध आरोपित किया गया, यह बात अशक्य है कि कोई भी व्यक्ति इसमें सन्देह करे कि अबु बिन आदम की भाँति औरंगज़ेब की अपेक्षा अधिक शुद्ध अन्तकरण से राजकुमार उस दिव्यात्मा को कहे—"मुझे ऐसा मनुष्य लिख लेने की कृपा करें जो अपने साथी मनुष्यों से प्रेम करता है।"

वरञ्च, अपने विरुद्ध इतिहास का कठोर निर्णय होते हुए भी औरंगज़ेब सार्वजनिक कल्पना में सदैव वीर गिना जायेगा, क्योंकि इस कल्पना पर ऐतिहासिक विवेचना का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रेम तथा प्रशंसा का आदर जो मुसलमान उसको अर्पित करते हैं, उसका कारण उस जाति की विचित्र मानसिक अवस्था नहीं है। यदि उसका जन्म हिन्दुओं या ईसाइयों में हुआ होता और उसने उनकी इतनी सेवा की होती, तो उससे कम सार्वजनिक श्लाघा द्वारा उसका स्वागत न हुआ होता जो उसको आज अपनी जाति से प्राप्त है। उसका व्यक्तित्व ही ऐसा है जो सार्वजनिक कल्पना को उत्तेजित करने के प्रायः उपयुक्त है। इसके अनुसार आदर्श वीर वह है जो परम्परागत धर्म-मार्ग से बाल बराबर भी भ्रष्ट नहीं होता है, जो धर्म की शुद्धता को पुनः स्थापित कर देता है, जो धर्म के शत्रुओं का दमन करता है, जो दुष्टों को पराजित करता है, साधुओं की रक्षा करता है, कोमल कुवासनाओं के प्रलोभनों को ठुकरा देता है, जो अपने ही भोग विलास के निमित्त कष्ट सहन न कर अपने देशवासियों के प्रति अपने कर्तव्य-पालन के लिये घोर परिश्रम करता है और जो भारत की सम्पदा के बीच में दरिद्र रह कर अपने जीवन को व्यतीत करता है तथा अपनी मृत्यु को प्राप्त होता है और जिसका चरित्र निर्बलताओं तथा नैतिक कलंक से मुक्त रहता है। संसार में सर्वत्र तथा समस्त युगों में सार्वजनिक कल्पना के वीर का चरित्र उसके वास्तविक ऐतिहासिक चरित्र से भिन्न रहा है। शार्लेमैंग्ने, हारुँ अल-रशीद, महान पीटर तथा शिवाजी ऐतिहासिक अनुसन्धान के प्रकाश में वे व्यक्ति नहीं प्रतीत होते हैं जो वे अपने देशवासियों के निरक्षर जन-समुदाय की कल्पना के अनुसार हैं। यदि एक शूद्र तपस्वी का सिर काटने पर आदर्श राजा रामचन्द्र की निन्दा नहीं की जा सकती है—जैसा कि कवि भवभूति अपने वीर का चित्रण करता है—तो सरमद तथा दारा को प्राण-दण्ड देने पर शायद औरंगज़ेब की भी निन्दा

नहीं की जा सकती है। जिन लोगों को अपने सत्य धर्म का शत्रु समझकर उनके प्रति जो कुछ भी उसने किया, उसके निमित्त वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता है। औरंगज़ेब का दुर्भाग्य यह था कि उसका जीवनकाल एक ऐतिहासिक युग में व्यतीत हुआ तथा इतिहास का पूर्ण प्रकाश उस पर केन्द्रित था।

विभाग २—दाराशिकोह के चरित्र की शाहजहाँ के चरित्र से तुलना तथा अन्तर

सम्राट् शाहजहाँ के चरित्र में दो तत्व सम्मिलित थे—मुस्लिम कट्टरता का वास्तविक तत्व तथा अकबर के काल का लौकिक पुट। उस एक व्यक्ति में दारा तथा औरंगज़ेब दोनों थे—औरंगज़ेब पदक का दूसरा पार्श्व था। शाहजहाँ का शासन-काल संक्रान्ति का समय था जिसमें अकबर की सुप्रकाश-मय राष्ट्रीयता औरंगज़ेब के काल की अन्धकारमय कट्टर पन्थी प्रतिक्रिया में परिवर्तन हो गया। बाह्य रूप से उसका शासनकाल अकबर के समय का अगला भाग था यद्यपि धरातल के नीचे प्रतिक्रिया की प्रबल अन्तर्हित धारा साम्राज्य के आधार को निर्जीव कर रही थी। तथापि उसका दरबार इस समय तक हिन्दु तथा मुस्लिम संस्कृतियों की सुखद सम्मिलन-भूमि बना हुआ था तथा साहित्य और ललितकला के क्षेत्रों में विलक्षणता तथा निपुणता का बिना धर्म-भेद के उदारतापूर्वक पुरस्कार मिलता था। हिन्दुस्तान के समस्त मुग़ल सम्राटों में शाहजहाँ का यह विशेष धन्य भाग्य था कि हिन्दु तथा मुसलमान दोनों वर्गों की प्रजा की अनुमति तथा प्रशंसा उसको प्राप्त थी और वह शायद इसका पात्र भी था। मुल्ला ने वास्तविक मेहदी (पथ-प्रदर्शक) के रूप में उसका स्वागत किया जो इस्लाम के दज्जाल तथा ईसा विरोधी अकबर के बाद प्रकट हुआ था। शाहजहाँ की प्रशंसा में पण्डित भी समान रूप से सोत्साह था और उस समय के योग्यतम पण्डितराज जगन्नाथ ने उसकी प्रशंसा में एक पद लिखा जो उस समय से प्रसिद्ध है—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान्पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानः शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्॥

अर्थात् दिल्लीपति वा जगदीश्वर ही केवल मनोरथ को पूरा करने में समर्थ है। जो अन्य नृपाल देते हैं वह केवल शाक वा लवण के लिये पर्याप्त होता है।

परन्तु यह सुसंस्कृत तथा उदारशील निरंकुश सम्राट् सार रूप से औरंगज़ेब की अपेक्षा लेशमात्र भी कम कट्टरपन्थी तथा कठोर न था। शाहजहाँ काव्य-

प्रेमी था, परन्तु जैसा कि उपाख्यानों से पता चलता है उसकी धर्मान्धता सदैव उसकी साहित्यिक विभावना को दूषित कर देती थी। कहा जाता है कि कवि शैदा (पागल). को यह पद लिखने के कारण देश से निर्वासित कर दिया गया था—

"चिस्त दानी बादये गुलगूँ मुसफ़्फ़ये जौहरी।
हुस्न रा परवरदिगार उ इश्क़ रा पैग़म्बरी॥

अर्थात्—क्या तू जानता है कि मदिरा क्या है जो गुलाब की भाँति लाल होती है तथा मुक्ता की भाँति शुद्ध तथा शुभ्र होती है। यह सौन्दर्य की पोषक है तथा प्रेम की सन्देश-वाहक।

रसिकता के अभाव को दुखद रूप से प्रकट करती हुई शाहजहाँ की कट्टरता भभक उठी, वह कवि से बहुत बिगड़ गया क्योंकि उसने ईश्वर तथा रसूल के नामों को निषिद्ध पेय से निन्दनीय प्रकार से सम्बन्धित कर दिया था। एक क्षमा-पत्र लिखकर तथा आत्मरक्षा में मौलाना रूमी के प्रमाण को उद्धृत करने पर ही कवि पुनः कृपा का पात्र हो सका।[1]

शाहजहाँ के चरित्र के गौण तथा मुख्य तत्वों को दारा तथा औरंगज़ेब ने क्रमशः पैतृक सम्पत्ति में प्राप्त किया था। दारा के भाग में प्रबल पारिवारिक प्रेम, आडम्बर तथा वैभव के प्रति आसक्ति, विद्या तथा विद्वता के प्रति उदार गुणग्राहकता, संगीत तथा चित्रकारी में शिष्ट अभिरुचि तथा गणित और फलित ज्योतिष में दारा का विश्वास[2] ये दारा को प्राप्त हुए थे। परन्तु शाहजहाँ का चातुर्य, मानुषी चरित्र का उसका सूक्ष्म परिज्ञान, उसकी कठोर व्यावहारिक चित्तवृत्ति, उसकी अश्रान्त कार्य-क्षमता, तथा नित्य कर्म के प्रति उसका प्रेम—ये दारा को न प्राप्त हुए थे। तब भी युवराज सुन्दर सामर्थ्यशील पुरुष था। वह शारीरिक तथा मानसिक साहस तथा शक्ति से सुसम्पन्न था। वह अपने मनुष्यत्व को पूर्णरूपेण विकसित न कर सका क्योंकि इतिहास के अन्य महान्

१—शेख खाँ लोदी कृत—मीरात्-उल-खियाल। यह शैदा प्रसिद्ध कवि शैदा जीलानी न था। मीरात्-उल-खियाल का लेखक कहता है कि वह फ़तेहपुरसीकरी के शेख़ज़ादों के परिवार में उत्पन्न हुआ था। शाहजहाँ के रसाभाव का एक दूसरा उदाहरण देखो—शाहजहाँ तथा कवि चन्द्रभान ब्राह्मण का उपाख्यान-पूर्ववत, पृ० १५४-१५५।

२—शाहजहाँ के शासनकाल में यूनानी तथा हिन्दु गणित तथा फलित ज्योतिष के अध्ययन का बहुत प्रचलन था। ज्योतिष पर टोलेमी के अरबी ग्रन्थ 'अल्मगिस्त' का 'सिद्धान्त सार कौस्तुभ' नामक संस्कृत में अनुवाद जगन्नाथ ने किया था जिसको हेमा कवि की उपाधि प्राप्त हुई थी। उसने ज्योतिष पर एक दूसरे ग्रन्थ का भी सम्पादन किया तथा इसका नाम सम्राट-सिद्धान्त रखा। (गायकवाड़ की पूर्वीय ग्रन्थमाला)

व्यक्तियों के विपरीत उसने अपने जीवन को ग़लत छोर से आरम्भ किया—अर्थात् निष्प्रयास अकर्मण्य जीवन से। दारा के चरित्र का व्यावहारिक पक्ष अविकसित रह गया क्योंकि अपने चरित के आरम्भ में उसको कुछ स्पष्ट न प्रतीत हुआ, उसको कोई महत्वशाली वस्तु न प्राप्त हो सकी जिसके निमित्त वह अपने प्रारम्भिक जीवन में अकबर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब के सदृश प्रयास कर सके।

शाहजहाँ के शासन-काल के वैभव में दारा का भाग तुच्छ न था। औरंगज़ेब तथा सादुल्ला द्वारा प्रेरित प्रतिक्रिया की शक्तियों का स्वस्थ सन्तुलन दारा तथा जहाँनारा के प्रयास द्वारा हो जाता था। यह विश्वास करने का प्रबल कारण है कि हिन्दुओं पर यात्रा-कर का हटाना तथा अपवित्रीकृत चिन्तामणि के मन्दिर का पुनः निर्माण प्रतिक्रियावादियों पर दारा की दो महान् सफलतायें थीं। यात्रा-कर[1] के उच्छेद के विषय में हमको कवीन्द्राचार्य सरस्वती के जीवन-उल्लेख से यह पता चलता है कि शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के दरबार-आम में कवीन्द्र की वाग्विदग्ध तथा मर्मस्पर्शी प्रार्थना पर आँसू टपक पड़े। इसमें मुश्किल से कोई सन्देह है कि दारा तथा कवीन्द्र की व्यक्तिगत घनिष्ठ मैत्री के कारण ही हिन्दुओं को उस कठोर पन्थी सम्राट् शाहजहाँ से ये दो महान् प्रदान हस्तगत हुए थे। दारा को योग तथा वेदान्त के गूढ़ रहस्यों में कवीन्द्र ने ही दीक्षा दी थी। दारा की सहनशील भावुकता तथा उसकी हिन्दु-हितों के प्रति-प्रवृत्ति के अतिरिक्त इस तथ्य द्वारा दारा को शायद प्रलोभन हुआ था कि वह उस मन्दिर का पुनः निर्माण कर दे जिस चिन्तामणि मन्दिर को औरंगजेब ने भ्रष्ट कर दिया था। उस स्थान पर मूर्ति पूजा की पुनः स्थापना जहाँ पर एक समय मुअज़्ज़िन का उच्च घोष श्रवण-गत होता था, तथा जहाँ पर मुसलमान प्रार्थना के निमित्त घुटनों के बल झुक जाते थे, शायद भारत में मुस्लिम शासन

१—यह आश्चर्य की बात है कि पादशाहनामा में शाहजहाँ के इन सर्वोपरि उदार कृत्यों का कोई उल्लेख नहीं है—अर्थात् हिन्दुओं की यात्रा-कर से मुक्ति—यद्यपि शाहजहाँ इसको नियमित रूप से सुनता था तथा महान् मन्त्री सादुल्लाखाँ इसका संशोधन करता था। अकबर के द्वारा इसके त्याग के बाद यह जहाँगीर के शासन-काल में फिर प्रचलित कर दिया गया था। यह कार्य शाहजहाँ ने एक हिन्दु शिष्ट मण्डल की प्रार्थना पर किया था। इसके नेता कवीन्द्र सरस्वती थे। कहा जाता है कि समस्त मुग़ल साम्राज्य से हिन्दु जाति के सौ से भी अधिक नेताओं के धन्यवाद-पत्र उसको प्राप्त हुए थे, तथा इनमें से एक पत्र बंगाल के प्रसिद्ध नैयायिक विश्वनाथ न्यायपञ्चानन का था जो उस समय वाराणसी में निवास करता था तथा अन्त में वृन्दावन चला गया (गायकवाड़ की पूर्वीय ग्रन्थ माला—नं० १७; कवीन्द्राचार्य की सूची—अग्रलेख ५)।

के इतिहास में एक अपूर्व घटना है। अविश्वासी प्रजा की पूजा के प्राचीन स्थानों के विषय में इस्लामी धर्म की यह आज्ञा हो सकती है कि उनको हानि से सुरक्षित रखा जाये; परन्तु स्वच्छन्द सम्राट् की काम-वृत्ति पर इस आदेश का कोई भी प्रभाव न पड़ सकता था यदि पर्याप्त नैतिक बल उसके समर्थन पर प्राप्त न होता।

शाहजहाँ के दरबारी इतिहास में जनवरी १६३३ के बाद किसी मन्दिर के विनाश का उल्लेख नहीं है। अपने शासन-काल के छठे (?) वर्ष में शाहजहाँ ने गोकुल-निवासी गोवर्द्धननाथ के गोस्वामी विट्ठलराय टिकायत को एक फ़र्मान अनुदान में दिया। उसमें लिखा है कि मौज़ा (ग्राम) जतीपुरा की भूमि गोस्वामी को अनुदान में दी जाती है, यह भूमि "उसके अपने उपयोग निमित्त, तथा ठाकुरद्वारा के व्यय-निमित्त कर-मुक्त दी जाती है।[1] इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि उसके शासन-काल के दशवें वर्ष से लेकर अन्त तक हिन्दुओं के प्रति शाहजहाँ की नीति में साधारणतया दिन प्रतिदिन उत्तम परिवर्तन ही मिलता है। यह निश्चय ही दरबार में दारा तथा जहाँनारा के बढ़ते हुये प्रभाव का फल था। शाहजहाँ के शासन-काल के प्रत्येक दशक की समाप्ति पर मनसबदारों की एक सूची प्रकाशित होती थी; इन तीन सूचियों में से दो अब्दुलहमीद की पुस्तक में दी हुई हैं तथा एक वारिस में है। ये यह बहुत उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करती है कि मुग़ल सेना में हिन्दु मनसबदारों की संख्या का प्रतिशत बढ़ गया था। शासन-काल के अन्तिम दश वर्षों में उच्च पदों में द्विगुणित वृद्धि हुई थी तथा निम्न पदों में लगभग त्रिगुणित। जिस समय उत्तराधिकार युद्ध प्रारम्भ हुआ, दो हिन्दु सामन्त ५ हज़ारी के पद से ऊँचे पद के थे। यह हिन्दु योग्यता की अद्भुत मान्यता थी जो अकबर की मृत्यु-पश्चात् पहले कभी न प्राप्त हुई थी। हिन्दुओं के प्रति दारा की विशेष सहानुभूति से तथा उसके द्वारा हिन्दुओं को चेष्टा तथा उदारता-पूर्वक आश्रय प्राप्त होने से हिन्दुओं की आँखों से शाहजहाँ के शासन का मलिन पक्ष छुपा ही रह गया। वह शाहजहाँ के काल के सांस्कृतिक इतिहास का भी निर्माता था तथा इस

१—के० एम० झावेरी कृत 'शाही फ़र्मान'—न्यू प्रिंटिंग प्रेस—बम्बई। फ़रमान नं० ६। दिनाङ्क ६ इल्लाही वर्ष पढ़ा गया है। पत्र नं० ७ में कुछ देय धनों से मुक्ति का वर्णन है। वह अनुवादक के पाठ्य-अनुसार केवल एक मास पीछे निकाला गया था। फ़र्मान नं० ८ दारा का केवल एक निशान है तथा यह दारा के दीवान अब्दुलकरीम के हाथ का लिखा हुआ है। यह इस प्रकार है—"चूँकि... विट्ठलराय का निवास क़स्बे गोकुल में है, और चूँकि उपरिवर्णित पुरुष का यह जन्म-स्थान है, और चूंकि उसकी सम्पत्ति तथा उसके पशु वहाँ पर ही हैं—यह आज्ञा दी जाती है कि न तो कोई उसको कष्ट पहुँचाये और न कोई उसको तंग करे।

सांस्कृतिक इतिहास को छोड़कर शाहजहाँ के काल की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, केवल उसके भवनों को छोड़कर, जिस पर गर्व किया जा सके।

विभाग ३ दाराशिकोह तथा महान् अकबर

दाराशिकोह पहली झलक पर अपने परबाबा की आत्मा का अवतार मालूम होता है। परन्तु वास्तव में मुस्लिम जगत् के शासकों तथा विचारकों में दूसरा अकबर हुआ ही नहीं है। भारतीय इतिहास के समस्त समय में शायद अशोक को छोड़कर उससे बड़ा शासक नहीं हुआ है। उसके शासन-काल के विशेष गुण थे बौद्धिक तथा धार्मिक क्रान्ति, तथा साहित्य, ललित कलाओं और राजनीति में भारतीय राष्ट्रीयता की उत्पत्ति। यदि ठीक-ठीक कहा जावे तो अकबर तथा दारा में परस्पर कोई न्याय-संगत तुलना नहीं हो सकती—क्योंकि अकबर की विलक्षण बुद्धि सर्वतोमुखी तथा महाविशाल थी जब कि दारा की स्वल्प सङ्गीतमय थी। अपने मानसिक गुणों में वे एक दूसरे के प्रायः विपर्यय-रूप हैं। दारा मूलतः गूढ़ द्रष्टा तथा अन्तर्ज्ञानरत था जब कि अकबर प्रमुख रूप से बुद्धिवादी था—'अपने ही विवेक का शिष्य।' अकबर की तुलना में ख़लीफ़ा मामूँ भी तुच्छ अनुदार व्यक्ति जान पड़ता है।

अकबर में मस्तिष्क तथा हृदय सम्बन्धी गुणों का समुचित संतुलन था। दारा का हाल यह न था। उसके मस्तिष्क गुण उसके हृदय सम्बन्धी गुणों से निर्बल थे। ईश्वर के अन्वेषियों के रूप से भी वे भिन्न वर्गों के हैं—अकबर उच्च बौद्धिक है तथा दारा उच्च भावुक। अकबर का ईश्वर कर्म-विषयक ईश्वर है, और दारा का ईश्वर अनुभव है। यह प्रतीत कर कि ईश्वर सत्य है, जैसा कि उन्होंने प्रतिपादन किया, अकबर ने अपना प्रेरक भाव यह स्थिर किया कि ईश्वर की आज्ञा का पालन किया जाये, उसका अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाये, वीरवत, जितेन्द्रियता तथा आत्मान्तर्दर्शन का अभ्यास किया जाये। दारा ने सरमद तथा मुल्लाशाह की भाँति ज्ञान, बुद्धि तथा तर्क को तिलाञ्जलि दे दी तथा उसके साथ संयोग के आनन्द-सागर में मग्न हो गये। हिन्दू शब्दों में कह सकते हैं—अकबर योगी था तथा दारा भक्त था। ईश्वर के प्रति अकबर की वृत्ति की तुलना बन्दरिया के बच्चे से कर सकते हैं जो अपने ही निश्चय तथा आत्मशक्ति द्वारा अपनी माता के पेट से मज़बूत चिपटा रहता है। दारा बिल्ली के बच्चे के सदृश है जो असहाय होकर मेंव-मेंव करता रहता है जब तक कि माता नहीं आ जाती है और उसको सशरीर उठा लेती है। वरञ्च—यह कहा जाता है कि ईश्वर के मार्ग में ज्ञान अन्धा है तथा श्रद्धा पंगु है तथा एक दूसरे की सहायता के बिना सत्य को प्राप्त करने में दोनों असहाय हैं। इसमें कोई

आश्चर्य की बात नहीं है कि अकबर का बुद्धिवाद गूढ़वाद को प्राप्त हो गया—क्योंकि ईश्वर बुद्धि की पहुँच के बाहर है। दारा ईश्वर-प्रमत्त व्यक्ति था जिसको उसका जितेन्द्रिय, प्रपितामह अन्वेषण तथा जागरण से श्रान्त होकर यह कह सकता था—

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।
अर्थात्—"तत्त्व के अन्वेषण में हम नष्ट हो गये हैं,
हे मधुकर तुम निश्चय धन्य हो।"

बाह्य प्रेक्षक तथा नेत्रहीन धर्मान्ध गण दारा तथा अकबर दोनों को साथ-साथ अनीश्वरवादी, दम्भी तथा अवसरवादी, सर्व धर्म-विहीन मनुष्य कह देते हैं। प्रत्येक पन्थ के तथा-कथित कट्टर-पन्थी उत्साहियों को दारा तथा अकबर धार्मिक मूर्ख समझते थे। वे अपनी ओर से उनको धर्महीन दुष्टों से अधिक कुछ न समझते थे। सत्य यह है कि दारा तथा अकबर ने ईश्वर की सत्ता से कभी इन्कार न किया, परन्तु उनका ईश्वर साधारण मुसलमान, ईसाई वा यहूदी के लिये अबोध्य था क्योंकि इस ईश्वर पर न तो इस्माइल के बालकों का, न इस्रेल की सन्तति का कोई विशेष अधिकार था। बिना 'अपनी चाही हुई सन्तति' का ईश्वर, एकेश्वरवादियों के प्रति बिना विशेष अनुराग का ईश्वर, तथा अनेकेश्वरवादियों के प्रति बिना घृणा का ईश्वर सेमिटिक जातियों के लिये प्रायः दुर्बोध्य ही था। दारा तथा अकबर को दम्भी कहा गया है क्योंकि वे एक धर्म को सत्य और दूसरे धर्मों को असत्य मानने के लिये तैयार न थे, क्योंकि अन्य समस्त धर्मों के साथ घृणा तथा अत्याचार द्वारा वे एक विशेष धर्म के प्रति अपने प्रेम को प्रमाणित करने के इच्छुक न थे। वे विशाल हृदय सत्य द्रष्टा थे। इस स्थिति से वे प्रायः सन्तुष्ट थे कि 'कुफ़ काफ़िर के लिये तथा, मज़हब कट्टर-पन्थी के लिये' छोड़ दें। उनकी नीति 'सुलहकुल' वा सर्वेभ्यः शान्तिः की थी। कहा जाता है कि अकबर ने केवल इस्लाम के सम्बन्ध में इस नीति का अतिक्रम किया क्योंकि उसकी सम्मति में अधिकृत इस्लाम उन्नति के मार्ग में बाधा था तथा राष्ट्र के प्रति निष्ठाहीन था। पूर्व तथा पश्चिम दोनों स्थानों के अनेक आधुनिक विचारकों की भाँति अकबर की यह प्रबल धारणा थी कि शेख़ अब्दुन्नबी तथा मुल्ला अब्दुल्ला सुल्तानपुरी का इस्लाम उन्नति तथा सभ्यता के प्रति असंगत था।

अकबर ने एक राष्ट्रीय साम्राज्य का निर्माण किया था। चित्रकारी, स्थापत्य, संगीत तथा साहित्य की राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित कर उसने इस साम्राज्य को उन्नति के नवीन पथ पर अग्रसर कर दिया था। इसमें भारतीय तथा इस्लामी कला और संस्कृति के उत्तम तत्व सम्मिलित थे, धर्म के विषय में

भी उसने वही प्रयास किया तथा इस्लाम के विशुद्ध एकेश्वरवाद को आर्य तथा ईरानी संस्कृतियों के प्राचीन अपक्व विश्वासों तथा उनकी प्रतिमाप्रधान प्रकृति-पूजा से सम्मिश्रित करके उसने एक नवीन सम्प्रदाय स्थापित किया। परन्तु पूर्व के निवासी अकबर के समकालीन पुरुष उसकी प्रबल विलक्षण बुद्धि के सम्मुख केवल वामन सदृश थे। अकबर के उच्च आदर्शवाद को समझने में उन्होंने इतनी बड़ी भयंकर ग़लती की जितनी कहानी के अन्धजनों ने हाथी के विषय में अपना विचार स्थिर करने में की थी। यह कह कर कि वह अनेकेश्वरवादी तथा सूर्योपासक है, उन्होंने अकबर की निन्दा की। अबुल्फ़ज़्ल तथा फ़ैजी[1] सदृश थोड़े से व्यक्ति ही उसके दार्शनिक अभिप्राय को यथार्थ समझ सके। फ़ैज़ी ने एक क़सीदा में अकबर की सूर्योपासना के रहस्य को अमर कर दिया है—

"क़िस्मत निगार कि दर ख़ुरे हर जौररे अतास्त।
आइना ब सिकन्दर उ ब अकबर आफ़्ताब॥
उ मेकुनद मुआइने ख़ुद दर आइना।
व ईं मेकुनद मुशाहदाहे हक़ दर आफ़्ताब॥"

अर्थात्—'दैव की विधि को देखो कि प्रत्येक प्राणी को उसकी प्रकृति के अनुकूल वस्तु प्राप्त हुई है—सिकन्दर को दर्पण तथा अकबर को सूर्य। सिकन्दर दर्पण में अपने आपको देखता है, परन्तु अकबर सूर्य में सत्य का दर्शन करता है।'

यह उल्लेखनीय है कि पश्चिम तथा पूर्व में १६वीं शताब्दी में एक ही प्रकार की विचारधारायें मनुष्य-चित्त को आन्दोलित कर रही थीं। इस शताब्दी में योरुप की विशेषतायें थीं—बौद्धिक उत्तेजना, धार्मिक सुधारकों का उदय, राष्ट्रीय राजतन्त्रों की वृद्धि, राष्ट्रीय स्वच्छन्द राजाओं की महत्वाकांक्षा तथा उनकी नीति कि राष्ट्र तथा राष्ट्रीय धर्म के वे सर्वोपरि शासक बन जायें तथा जनता के राजनैतिक और धार्मिक जीवन से देश-बाह्य प्रभावों को विनष्ट कर दें। अक़बर ने भगीरथ प्रयत्न किया कि भारतीय इस्लाम को अरबी प्रभाव से स्वतन्त्र कर दे तथा इसको भारत की आवश्यकतानुकूल बना दे जिस प्रकार ईरानियों ने शिया सम्प्रदाय का विकास कर लिया था कि इस्लाम उनकी राष्ट्रीय विलक्षणता के अनुकूल हो जाये।

उन मुसलमानों को भी, जो इन्कार करते हैं कि अकबर मुसलमान था, इसमें सन्देह नहीं है कि दाराशिकोह मुसलमान था यद्यपि उसके विचार प्रायः

१—फ़ैजीका नलन्दमनः परिचय।

अनेकेश्वरवादी थे। सर्व धर्मों के प्रति शान्ति की अपनी वृत्ति में यद्यपि दारा तथा अकबर सदृश थे, तथापि इस्लाम के प्रति अपनी वृत्ति में वे दोनों उत्तर तथा दक्षिण ध्रुव के समान सर्वथा विरुद्ध थे। अकबर उन पुरुषों में था जो उसी की एक कहावत के अनुसार "दैवी पुस्तकों में विश्वास नहीं रखते हैं और न यह मानते हैं कि परब्रह्म जिसके जिह्वा नहीं है मानुषी वाणी में अपने को व्यक्त कर सकता है।"[१] उसके लिये हदीस (परम्परागत धर्म-ग्रन्थ) मान्य न थे— 'बहुत से मूर्ख, अनुकरण-प्रथा के पुजारी भ्रान्तिवश प्राचीन परम्पराओं को बुद्धि की आज्ञायें मान लेते हैं और सर्वदा के लिये अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं।"[२] परन्तु दाराशिकोह के किसी लेख से यह स्पष्ट हो जायगा कि क़ुरान तथा हदीसों के उद्धरणों का वह परम अन्तिम प्रमाणों के रूप में उपयोग करता है। दारा न केवल क़ुरान को, परन्तु वेद को भी "ईश्वर-वाक्य" (कलामे इलाही) मानता था। स्वीकृति या सशरीर आरोहण (मिहराजे जिस्मानी) की कहानी को कट्टर मुसलमान अपने विश्वास का एक अङ्ग मानते हैं। उनका विश्वास है कि रसूल ने यह यात्रा सशरीर स्वर्ग को की थी। इस कहानी को अनर्थक कहकर अकबर ने इसका तिरस्कार कर दिया क्योंकि यह शरीर द्वारा अशक्य है। बुद्धि-वादी मुसलमान यह विश्वास कर एक प्रकार का समझौता कर लेते हैं कि आरोहण कार्य शरीर द्वारा नहीं, परन्तु सूक्ष्म शरीर द्वारा हुआ था। दारा की सम्मति कट्टर दल की ओर झुकी हुई है। रिसालै हक़नुमा में वह कहता है कि हारा की गुफा में रसूल प्राणायाम या श्वास-निरोध का अभ्यास करता था (आवर्द बुर्द), तथा इसके परिणामस्वरूप उसका शरीर वायु से भी सूक्ष्म हो गया था तथा हीरे से भी अधिक पारदर्शी। फिर इसमें क्या बात अशक्य है कि अपने सूक्ष्मीकृत काय-शरीर सहित रसूल सातवें स्वर्ग पर चढ़ गया? दारा का विश्वास निस्सन्देह इतना असंस्कृत है जितना कि बङ्गाल के भक्त मुसलमान ग्रामीणों का है जो आपको ऐसी बहुत-सी कहानियाँ सुनायेंगे कि अमुक पीर रात ही रात में मक्का पहुँच जाता है तथा काबा में, नमाज़ पढ़कर सूर्योदय के पूर्व ही अपने प्रार्थना-स्थान पर पहुँच जाता है।

यदि बदायुनी के द्वेषपूर्ण कथनों में कोई सत्य है, तो दार्शनिक अल् किन्दी की भाँति अकबर ने रसूल के नैतिक चरित्र का बीभत्स विश्लेषण किया, उसके नाम का निषेध कर दिया, उसको अनुपयोगी कह कर रसूलों में से अलग फेंक

१—जरैंत का आईने अकबरी III ३८० ।

२—पूर्ववत ३८२ ।

दिया और स्वयं उसने उसके स्थान का अपहरण कर लिया। परन्तु अरब के रसूल की ओर दारा का कभी इस प्रकार का विचार न हुआ और न उसने इसका सहन ही किया। उसने सदैव उसके प्रति गम्भीरतम सम्मान रखा, उसको समस्त आन्तर तथा बाह्य विद्या का मूल स्रोत मानता रहा। उसका झगड़ा सर्वदा संकीर्ण-हृदय मुल्लाओं से तथा क़ुरान और हदीस की उनकी व्याख्याओं से था। अकबर ने इस धर्म-आज्ञा का उल्लंघन किया कि मुहम्मद अन्तिम रसूल है तथा उसकी इच्छा थी कि उसकी अपनी उम्मत (राजनैतिक—धार्मिक जाति) बन जाये। इसके विपरीत दारा ने कभी भी ऐसा अभिमान उपस्थित न किया; उसका केवल यह प्रतिपादन था कि वह इन्सानेकामिल या पूर्ण मनुष्य है और यह ऐसा स्वत्व प्रतिपादन है जो इस्लाम से असंगत नहीं है।

दाराशिकोह के धर्म के सम्बन्ध में बर्नें कहता है—"जन्म से वह मुसलमान था तथा वह उस धर्म के व्यवहार में बराबर सम्मिलित होता रहा। परन्तु यद्यपि वह इस प्रकार उस धर्म के प्रति अपना विश्वास जनसाधारण के समक्ष प्रकट करता रहा, वह व्यक्तिगत रूप से हिन्दुओं में हिन्दू तथा ईसाइयों में ईसाई था।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं मालूम होता है कि दारा ने कम-से-कम बाहर से इस्लाम की अनुयायिता से इन्कार न किया। यह इस आरोप का पर्याप्त उत्तर है कि वह स्वधर्मभ्रष्ट था जो उसके विरुद्ध प्रायः उपस्थित किया जाता है, क्योंकि मध्यकालीन रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भाँति मनुष्यों के विचारों तथा उनके व्यक्तिगत कर्मों के विषय में इस्लाम धर्म में किसी छानबीन का विधान नहीं है।

राजनैतिक हत्या को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिये औरंगज़ेब ने दारा के विरुद्ध स्वधर्मभ्रष्ट होने के ऐसे आरोप उपस्थित किये जैसे कि वह एक अँगूठी पहनता था जिस पर देवनागरी अक्षरों में 'प्रभु' शब्द खुदा हुआ था, वह हिन्दू तपस्वियों की संगति करता था तथा उसने केशवराय के मन्दिर को एक पत्थर का परकोटा भेंट में दिया था। औरंगज़ेब का इतिहासकार इन आरोपों को स्वधर्म-भ्रष्टता का दण्ड देने के लिये पर्याप्त नहीं समझता और उनको अस्वीकृत कर देता है। चूँकि हमको पहले ही पता हो चुका है कि मुस्लिम धर्म के मुख्य विश्वासों पर दारा के विचार शास्त्रीय सम्प्रदाय के विचारों से मूलतः भिन्न न थे। केवल इस विषय पर उसका मत भिन्न था कि वह आरिफ़ (आस्तिक) जिसको सत्य के आवरण-रहित मुख की एक झलक दिखाई दे गई है, शरीयत की आज्ञाओं के अनुपालन से मुक्त होने का अधिकारी है वा नहीं। मध्यम मार्ग

१—कॉस्टेबल कृत—बर्नें की यात्रायें—पृ० ६।

के सूफ़ियों के विपरीत दारा की धारणा थी कि सत्य (हक़ीक़त) के उदय होने के पश्चात् आस्तिक धार्मिक अनुशासन (शरीयत) के कठोर बन्धन से मुक्त हो जाता है। परन्तु यह केवल अपनी-अपनी राय की बात थी। मालूम होता है कि बाद को अपने गुरु मुल्लाशाह बदख़शी की कठोर भर्त्सना के कारण उसके विचार अधिक संयत हो गये थे। जैसी कि बर्नें की साक्षी है दारा ने इस्लाम के बाह्य अनुपालन की कभी भी उपेक्षा न की यद्यपि वह रोज़ा (उपवास) और नमाज़ (प्रार्थना) के नियमों का इतना कठोर अनुपालन न करता था जितना कि औरंगज़ेब। उन मौलवियों के फ़त्वा (धर्म-आज्ञा) को हमको बहुत गम्भीर न समझना चाहिये जिन्होंने दारा की मृत्यु के आज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। स्टुअर्ट वंशीय न्यायाधीशों की भाँति वे राज छत्रछाया प्राप्त सिंह थे तथा थोड़े से लाभ के लोभ से वे कुछ भी कर सकते थे। इसका अत्यन्त कुख्यात उदाहरण वह राज्यच्युति का फ़त्वा है जो स्वयं औरंगज़ेब के विरुद्ध उन मौलानाओं ने दे दिया था जो उसके विद्रोही पुत्र अकबर के वेतनभोगी थे। इन मौलानाओं की युक्ति यह थी कि वह सम्राट् (जो अपने जीवन-काल ही में सन्त घोषित कर दिया गया था) अपने अनइस्लामी आचरण के कारण मुसलमानों पर शासन करने के लिये अयोग्य सिद्ध हो चुका था।

यह सत्य है कि दारा की अँगूठी पर 'प्रभु' शब्द अंकित था। यह भी सत्य है कि मथुरा में केशवराय के मन्दिर को उसने एक पत्थर का परकोटा भेंट किया था। परन्तु ये उसके स्वधर्म-भ्रष्ट होने के प्रमाण न थे। दारा पर कोई अपराध न लगाया जाता यदि प्रभु शब्द के स्थान पर इसका समानार्थक अरबी शब्द 'अल्‌रब्ब' खुदा होता। मुल्ला के कान में 'प्रभु' का स्वर ही अभिशाप है तथा देव नागरी लिपि का दृश्य ही दूषण की भाँति उसके नेत्रों के लिये असह्य है। उस समय में—यही स्थिति हमारे समय की भी है—अनुदार मुल्ला लोगों तथा निरक्षर मुस्लिम जन-समुदाय को अरबी भाषा तथा अरबी लिपि पर मूढ़ श्रद्धा थी जैसे कि अरबी ही एकमात्र भाषा तथा एकमात्र लिपि है जो ईश्वर को स्वीकार्य है। मध्य युगों में पश्चिमी धर्म-संगठन का ईसाई ईश्वर इसी भाँति केवल लैटिन भाषा समझता था तथा जैसे इस समय भी हिन्दू ईश्वर संस्कृत छोड़कर और कोई भाषा नहीं समझता है। इस सार्वजनिक मिथ्या विश्वास के विरुद्ध दारा की अँगूठी स्पष्ट विरोध का प्रकाशन थी। उसके निम्नाङ्कित पद में समाविष्ट महान सत्य का यह साकार रूप थी।

बनामे आँ के उ नामे न दारद; बहर नामे के ख़्वानी सर बर आरद।

अर्थात्—उसके नाम में जिसका कोई नाम नहीं हैं, चाहे जिस नाम से उसको पुकारें वह उसका उत्तर देता है।

उस मन्दिर की गति के सम्बन्ध में औरंगज़ेब का इतिहासकार लिखता है—"१४ अक्तूबर, १६६६ को यह जान कर कि केशवराय के मन्दिर में एक प्रस्तरावरण है जिसको दाराशिकोह ने मन्दिर को भेंट में दिया था, औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि उसको हटा दिया जाये क्योंकि वह इस बात का निन्दनीय उदाहरण है कि एक मुसलमान भी मूर्ति-पूजा से प्रेम प्रदर्शित कर सकता है। और अन्त में १६७० की जनवरी में रमज़ान के शुद्ध ध्यान से उत्तेजित अपने उत्साह के कारण उसने यह आज्ञा भेज दी कि इस मन्दिर का सर्वथा सर्वनाश कर दिया जाये तथा मथुरा के नगर का नाम बदल कर इस्लामाबाद रख दिया जाये।"[1] परन्तु यह भेंट इसका उदाहरण नहीं है कि मूर्ति-पूजा से मुसल्मान प्रेम प्रदर्शित कर सकता है, परन्तु यह इसका अत्यन्त साहसी तथा विश्वासप्रद प्रमाण है कि दारा को अपने आदर्शवाद तथा दर्शन के प्रति निष्ठा है। दारा ने कई बार कहा था—'ब ज़ेरे बुत ईमानस्त पिन्हाँ' अर्थात्—'श्रद्धा (ईमान) मूर्ति में निहित है'—तथा इस दान का आधार मूल भावना थी जो कार्य में परिणत हो गई थी। वास्तव में यदि दारा की सत्यता का ऐसा ठोस उदाहरण न होता, तो समालोचक लोग उसके उच्च तथा उदार भावों को सूफ़ियों के साधारण उद्गारों से कुछ ही अधिक आदरणीय मानने में न्यायसंगत ही प्रतीत होते।

भारत के मुसलमान विचारकों में दारा तथा अकबर का स्थान असाधारण है जहाँ तक उनके नैतिक साहस तथा उनके विश्वास की दृढता का सम्बन्ध है। अकबर ने काश्मीर में एक मन्दिर का निर्माण किया जिसमें प्रत्येक उत्पन्न अथवा अनुत्पन्न सम्प्रदाय के अविचारशील मतावलम्बी के निमित्त उसने एक चेतावनी-सी खुदवा दी—"जो कोई भी असत्य उद्देश्यों के कारण इस मन्दिर का विनाश करता है, उसको चाहिये कि वह पहले अपने पूजा-स्थान का विनाश करे, क्योंकि यदि हम अपनी अन्तरात्मा की आज्ञाओं का अनुसरण करें तो हमको समस्त मनुष्यों के प्रति सहनशील होना चाहिये, परन्तु यदि हम अपनी दृष्टि को बाह्य तक सीमित रखें तो प्रत्येक वस्तु हमको विनाश-योग्य मालूम होगी।" इस भावना से शायद दारा को भी प्रेरणा हुई कि वह प्रत्येक जाति की बाह्य पूजा का सम्मान करे। यदि हम दारा की स्थिति की तुलना अकबर की स्थिति से करें और उन संकटों की भी तुलना करें जो प्रत्येक को अपने विश्वास के प्रचार में सहन करने पड़े, तो हमको मालूम होगा कि दारा का प्रस्तरप्राकार अकबर के मन्दिर से नैतिक साहस की तुला पर अधिक भारी उतरता है।

राजकुमार दाराशिकोह की आत्मा को ईश्वर शान्ति प्रदान करे। उसके

१—सर जदुनाथ सरकार कृत—औरंगज़ेब का इतिहास III पृ० २६७।